: कबीर : एक विवेचन :

[कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गवेषणात्मक अध्ययन]

लेखक

डा० सरनामसिंह शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजस्थान कालेज, जयपुर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

प्रकाशक — हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

मूल्य — साढ़े बारह रुपये (१२.५०)

प्रथम संस्करण — जून, १९६०

मुद्रक — भारत मुद्रणालय, शाहदरा दिल्ली

नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्राक्कथन

कबीर मध्यकाल के क्रान्ति पुरुष थे जिन्होंने अपने जीवन में तो उत्क्रान्ति की ही, साथ ही समाज में भी एक हलचल पैदा कर दी थी। उन्होंने अन्तर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साथ धावा बोल कर समाज और भाव-लोक को जो प्रेरणा दी उसे न तो इतिहास भुला सकता है और न साहित्य ही। कबीर का जीवन विलक्षण जीवन था और उनकी समग्र विलक्षणताएँ एक महापुरुष के जीवन की विलक्षणताएँ थीं। एक ओर वे निरक्षर भट्टाचार्य थे जिन्होंने मसि और कागज को छुआ तक नहीं था और दूसरी ओर वे ज्ञान, अनुभूति और प्रेम के अगाध भंडार थे। उन्होंने जुलाहा कुल में उत्पन्न होकर बड़े बड़े पंडितों और काजियों की जिस निर्भीकता से खबर ली उसकी कल्पनामात्र अधमों के उद्धार की प्रेरणा बन सकती है। इतनी बलिष्ट रूढ़ियों पर किस साहस और शक्ति से उन्होंने प्रहार किया था यह देखते ही बनता है। कबीर का काम एक ऐसे चतुर एवं कुशल सर्जन का काम था जिसके सामने समाज के हृदय के आपरेशन का प्रश्न था। उस आपरेशन के लिए कबीर ने पूरी तैयारी की थी।

एक दलित परिवार में उत्पन्न होकर भी उन्होंने इतने बड़े समाज का अध्ययन किया, उसकी दुर्बलताओं पर इतनी सूक्ष्मता से दृक्पात किया और सुधार की इतनी रेखाएँ खींचकर उन्होंने जो कल्पित-चित्र तैयार किया उस पर किसी भी आदर्श समाज को गर्व हो सकता है। उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी अनुभूतियों को दूसरों के कल्याण के लिए इतनी ईमानदारी से प्रेषित करते थे कि स्वयं प्रेषण में निमग्न हो जाते थे। इसी ईमानदारी में उनका संत-स्वभाव निहित है।

यों तो उनसे पहले भी बहुत से संत हो चुके थे किन्तु किसी को संतमत के प्रवर्तन का श्रेय नहीं मिला। विद्वानों का कहना है कि रामानन्द को यह श्रेय दिया जा सकता है किन्तु मैं समझता हूँ कि संततत्व के विशेष कृपापात्र कबीर ही थे और उन्हीं को संतमत के प्रवर्तन का श्रेय मिलना चाहिए। संतमत के साथ कबीर का निर्गुण मत भी जुड़ा हुआ है जो धार्मिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उत्क्रान्ति के रूप में दृष्टव्य है।

सन्तमत और निर्गुणमत, ये दो ऐसे शब्द हैं जो सन्त कवियों की विचार धारा की ओर संकेत करते हैं। संत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। कुछ विद्वान इस शब्द को 'शान्त' शब्द से व्युत्पन्न मानते हैं और कुछ इसको 'सत्' शब्द का बहुवचन रूप (सन्त) मानते हैं जो अब एकवचन में प्रयुक्त होने लगा है। दोनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग सन्त कवियों के लिए उपयुक्त है किन्तु सत्य की ओर संकेत करने के अतिरिक्त 'सत्' शब्द में साधुता का बोध भी होता है इस प्रकार सन्त शब्द प्रभूत संकेत ग्रहण करके असाधु के विरोध में साधु का पर्यायवाची बन गया है। धार्मिक जीवन के क्षेत्र में तो यह शब्द सूरदास तुलसीदास जैसे सगुण भक्तों को भी जो भिन्न विचारधारा से संबंधित है, आत्मसात् कर लेता है।

"निर्गुण संत" भी कोई सुनाम नहीं है। कट्टरता को छोड़ देने पर ये संत न तो परमात्मा के सगुण रूप का ही तिरस्कार करते हैं और न निर्गुण रूप को ही अन्तिम मान बैठते हैं क्योंकि तत्व दोनों से परे है और उसकी प्राप्ति दोनों से ऊपर होने पर ही हो सकती है। जबकि इस मत के पीछे के सन्तों में इन रूपों से ऊपर जाने की प्रवृत्ति कुछ अधिक होकर कठोर हो जाती है तो इस नाम की अयुक्तता स्पष्ट हो जाती है। फिर भी परम्परागत प्रयोग की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण इस शब्द का प्रयोग हो ही रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर आदि संतों ने भी इस शब्द को स्वीकार कर लिया था।

यहां यह कहना अनुचित न होगा कि कबीर आदि संतों को निर्गुणी हम केवल इसलिए कहते हैं कि उन्होंने सगुण भक्ति के स्थूल रूप (यथा मूर्तियों और अवतारों की पूजा) को मान्यता नहीं दी।

ध्यान रखने की बात तो यह है कि संतमत निरंजन और सूफीमत से भिन्न है यद्यपि ये दोनों मत संतमत से कुछ कुछ मिलते जुलते हैं। तात्त्विक दृष्टि से निरंजन मत हिन्दू मत है और सूफी मत इस्लामी। ये संत-मत से केवल उस सीमा तक भिन्न है जहां तक कि ये अपने अपने मूल धर्मों के साथ शान्ति एवं संतोष से युक्त प्रतीत होते हैं यद्यपि ये भी निस्सन्देह यही चाहते हैं कि अनेक जातियों और वर्गों के होते हुए भी लोक विश्व-भ्रातृत्व के साथ अपने उस अस्तित्व को सिद्ध करें। निरंजनी लोग हिन्दू-विश्वदेव की पूजा को समादृत करते हैं यद्यपि वे अनेक देवदेवियों और

अवतारो को निरजन ब्रह्म की अपेक्षाकृत लघु अभिव्यक्ति मानकर उनको पूजने की आवश्यकता नही मानते, फिर भी वे परपरागत सामाजिक नियमो का विरोध नही करना चाहते।

सूफी लोग भी अपने अनेक नबियों और रसूलो का समादर करते हैं। यद्यपि उन्होने रामानुज से कुछ-कुछ मिलते-जुलते अनिस्लामी वेदान्त से ही अपने मत का पूर्ण कलेवर तैयार किया है। फिर भी इस्लाम के प्रति उनका प्रेम और आदर है। सूफिया की दार्शनिक धारा विशिष्टाद्वैतिक ढग की है और निरजनियों की दर्शन-प्रणाली कबीर की सी है। निरजन मत नाथ पथ की ही एक विकसित शाखा है। इसमे योग वेदान्त से पूर्णतः प्रभावित है। अतएव यह कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि निरजन मत की स्थिति नाथ पथ और कबीर पथ के मध्य म है। दार्शनिक क्षेत्र मे कबीर की विचार-धारा से उसका बहुत साम्य है और रामानन्द के साथ भी वह उसी स्थिति मे रखा जा सकता है। विशेष अन्तर तो उस समय व्यक्त होता है जबकि कबीर के अनुयायी और धर्मदासी तथा राधास्वामी जैसे अन्य लोग निरजन का कालपुरुष के रूप मे निरूपण करते हैं।

जो हो, मतमत और निर्गुण मत दोनो के सबध से गत पच्चीस-तीस वर्षों में कबीर की 'बानियों' का अध्ययन होता आ रहा है। कबीर की बाणी किसी एक प्रान्त या अचल के आदर की वस्तु नही रही है। उसका अध्ययन पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण म, सब ओर हुआ है। मध्यकालीन सन्तो मे कबीर का विशेष स्थान होने के कारण विद्वानो ने उनका अध्ययन विशेषता से किया है। यो तो समस्त सन्त-साहित्य का अध्ययन हमें सन्तो की शिक्षाओ एव सास्कृतिक रुचि एव प्रवृत्ति का ज्ञान कराता है, किन्तु कबीर का अध्ययन इस दृष्टि से बडे महत्व का है। उनकी वाणी मे सास्कृतिक परपरा का एक ऐसा विकास दृष्टिगोचर होता है जिसमें अभारतीय सस्कृति का इतना मधुर पुट है कि उसकी अभारतीयता प्रतीत नही होती। कुछ लोगो का तो अवतक यह विश्वास रहा है कि कबीर अशिक्षित थे और इसके कारण उनके दार्शनिक विचार निराधार, अपरिपक्व एव असबद्ध थे, किन्तु यह उनका भ्रममात्र है। कबीर-पथ का अपना मौलिक एव दृढ धरातल है और उसमे एक दार्शनिक भूमिका है जिसमे मौलिकता के पुट ने प्राचीनता को परिष्कृत एव व्यवस्थित करने की चेष्टा की है। सन्तो को दार्शनिक कहना भी समीचीन न होगा क्योंकि

व तो भक्त भी थे । सन्त भी ऊंचे दर्जे के और कबीर की भक्ति ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसमें ज्ञान और योग का मधुर मिलन हुआ है । जहा-जहा भक्ति और ज्ञान का मधुर मिलन देखना हो, वहाँ-वहा उनकी रहस्य-साधना भी देखने योग्य है । यो तो योग ने भी रहस्य की भूमिका पर अपना रूप सभाला है किन्तु उसमे वह माधुर्य नही आ पाया जो उनकी अद्वैतिक रहस्योक्तियो मे आया है ।

कबीर ने जो धर्म स्वीकार किया है वह सरल सहज और व्यापक है । उन्होने परपरागत धर्म की विकृत रूढियो को उच्छिन्न करके वास्तविक धर्म की तात्त्विक प्रकृति को व्यक्त किया है जिसे हम उनकी वाणी मे इस प्रकार देख सकते है— स्वामी के प्रति सत्याचरण करो और दूसरो के प्रति सदाचार"—"साई सती साच चलि औरा सू सुध भाइ । भावें लाम्बे केस करि, भावें घुरडि मुडाइ ॥" इसी वास्तविकता की प्रकृति के कारण कबीर ने धर्मो के दभो और पाखडो का विरोध किया था जिसकी गवेषणा मौलिक आध्यात्मिक प्रश्न मे की गई थी इसी के आधार पर तुकाराम ने कबीर की गणना उन चार महापुरुषो मे की थी जो अनुगमनीय है । चौथा भी तरि घरि सोइ रे' —अन्य तीन नामदेव ज्ञानदेव, और एकनाथ हैं ।

कबीर की कीर्ति पताका को इस लोक मे फहराती हुई देखकर पीपा और रैदास विस्मय मे पुकार उठे— कबीर नवखड और तिलोक मे प्रसिद्ध है—नाव नवखण्ड परिसिध कबीरा ।' कुछ लोग भ्रमवश वास्तविकता की प्रकृति का स्पर्श तक न करते हुए कबीर को इस्लाम का गुप्त प्रचारक मात्र कहते है, यह बडे खेद की बात है। वे कबीर के आध्यात्मिक विचारो मे वह सार, न जाने क्यो नही देखते जिसपर भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी हुई है । भारतीय विचारधारा मे जो कुछ वरिष्ठ है, कबीर पथ उस सबका तो सुमिश्रक है ही साथ ही उसमे उन अभारतीय विचारो का भी समावेश कर लिया गया है जो भारतीय विचारो के अनुकूल रहे है ।

उसने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत के सभी अध्यात्म मार्गो का सार ग्रहण कर लिया है । भारत मे समय समय पर होने वाले विभिन्न आन्दोलनो से आध्यात्मिक सस्कृति के क्षेत्र मे जो कुछ उपलब्ध हुआ वह कबीर के उदय से पूर्व ही निर्गुण विचारधारा मे सन्निविष्ट हो गया था । अजपा जाप के साथ योगाभ्यास, तान्त्रिक शरीर विज्ञान, प्राणायाम-सबधी

अनेक प्रक्रियाएँ शाकर का अद्वैतवाद, अनुग्रह का सिद्धान्त, अनासक्तिमय प्रेम की तीव्रता (जिसकी अभिव्यक्ति तत्रो म मिलती है)—इन सबका एकत्र सार-सग्रह कबीर की वाणी म हुआ है।

बडे विस्मय की बात तो यह है कि ऐकान्तिक धर्म और बौद्ध धर्म के रूप म प्रारभ होने वाली दो विभिन्न आध्यात्मिक धाराएँ अठारह शताब्दियो तक पृथक पृथक विकसित होती हुई अन्त म क्रमश वैष्णव धर्म और नाथपंथ के रूप मे आकर निर्गुण मत म एक हो गयी। इस एकता का विशेष श्रेय कबीर को है। कबीर की निर्गुण वाणी मे अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्द है जो मिलने से पूर्व भिन्न-भिन्न रूप म विकसित होनेवाली उक्त दोनो धाराओ का स्मरण दिलाते हैं। हरि, नारायण, नारदी भक्ति, आदि शब्द ऐकान्तिक धर्म से प्रवाहित होनेवाली धारा की ओर सकेत करते हैं और शून्य विज्ञान निर्वाण आदि शब्द बौद्ध धर्म से विकसित धारा की सूचना देते हैं। पहली धारा से आनेवाले शब्दो के अर्थ मे इतना भारी परिवर्तन नही हुआ जितनी दूसरी धारा के शब्दो के अर्थ मे हुआ। शून्य और विज्ञान का सबध बौद्ध दर्शन के नियत मतो से रहा है। नागार्जुन का शून्य शून्य मडल म सुरक्षित है और वही गोरखनाथ के योग-दर्शन म होकर निर्गुण मत म ब्रह्मरन्ध्र का अर्थ व्यक्त करने लगा है। कबीर की वाणी म शून्य ब्रह्म-बोधक भी है। कबीर ने सत्य का शून्य रूप मे भी वर्णन किया है। शून्य एक है स्थिति भी है और स्थान भी, स्वय आधार भी है और निराधार भी।

सत्य को शून्य कहने से नागार्जुन का अभिप्राय यह था कि वह सत् और असत्, दोनो से परे है, किन्तु शकराचार्य का अनुकरण करते हुए जिन्होने नागार्जुन के तर्कों का अपने अद्वैतवाद के प्रतिपादन के लिए बडे कौशल से उपयोग किया। कबीर ने सत्य को सत्यस्वरूप ही स्वीकार किया। कबीर के कुछ आधुनिक अनुयायी 'शून्य' को समाधि की वह अवस्था मानते है जो इन्द्रियानुभूति से परे है। इसी प्रकार आगम का विज्ञान शाकर अद्वैतवाद मे होकर विवर्त का अर्थ देने लगा है। कबीर की वाणी म निर्वाण ने भी अपना अर्थ बदल दिया है। जबकि बौद्ध साहित्य मे उसका मौलिक अर्थ 'नाश' या 'अन्त' था, कबीर ने उसका प्रयोग 'मुक्ति' के अर्थ म किया है।

कबीर पथ वैष्णव आन्दोलन से सबधित है, इसम तो कोई सन्देह ही नही, किन्तु नाथो के योग मत मे भी उसका कुछ सबध है, यह भी सदिग्ध

नही है। योग कबीर का लक्ष्य नही है। उन्होने योग को साधन के रूप मे स्वीकार किया है और साधन-रूप मे भी उन्होने योग की केवल वे बाते स्वीकार की हैं जो मन को एकस्थ करने मे अपना विशेष महत्व रखती है। कबीर-पंथियो ने गोरखनाथ और अन्य योगियो के प्रति विरोध की भावना व्यक्त की थी। इससे विद्वानो को यह भ्रम हो गया था कि उन दोनो मतो का आपस मे कोई सबध नही है। विरोध की भावना दादू के समय तक रही आयी थी किन्तु दादू पथ की स्थापना के पश्चात् उसका दम घुट गया।

कबीर का अध्ययन महात्मा रामानन्द के मूल्य की उपेक्षा नही कर सकता क्योकि कबीर की विचारधारा के निर्माण मे महात्मा रामानन्द का बडा योग रहा है। वैष्णव धर्म और नाथ धर्म का मिलन सबसे पहले रामानन्द के व्यक्तित्व मे हुआ। इतना ही नही वरन् यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि रामानन्द ने निर्गुण मत के किसी एक पक्ष को ही पुष्ट नही किया, अपितु उसे विकास का वह पूर्ण रूप दिया जो कबीर के हाथो आया।

कबीर के हाथो मे निर्गुण विचारधारा को कुछ योग इस्लामिक स्रोत से भी मिला, किन्तु कबीर-पथ के लिए उसका मूल्य अधिकाशत निषेधात्मक ही है। इस्लाम से जो सबसे बड़ी चीज कबीर को मिली वह आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप मे मिली। इससे उन्होने हिन्दुओ के अन्ध-विश्वासो और खोखले रीति-रिवाजो की कलई खोलकर रख दी। मूर्ति-पूजा और अवतार पूजा के विरोध मे उठने वाले स्वर मे भी इस्लाम की ही प्रेरणा थी। सामाजिक विषमता मे सन्निहित अन्याय के प्रति भी लोगो की आखे खोलने म परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इस्लाम का हाथ अवश्य रहा किन्तु कबीर की आलोचना-दृष्टि ने इस्लाम की दुर्बलताओ को भी अछूता न छोडा। कबीर ने सूफीमत से बहुत कुछ लिया किन्तु विचार नही, अभिव्यक्ति की शैली। और यह स्वीकार करना भी अनुचित न होगा कि कबीर को सूफीमत से जो सबसे बडी चीज मिली वह थी दाम्पत्य प्रेम से सबधित विरह तीव्रता। उससे सबधित 'प्रतीकवाद' भी कबीर को सूफियो से ही प्राप्त हुआ किन्तु यह समझ बैठना अनुचित होगा कि कबीर-पथ मे प्रतिपन्न प्रेम सूफीमत की देन है। इसे तो रामानन्द के बारह शिष्यो ने, जिनमे एक कबीर भी थे, अपने गुरु से ही प्राप्त किया था।

भक्ति प्राय नवधा मानी गयी है किन्तु उस ऐकान्तिक धर्म मे जो रामानन्द को मिला, 'प्रेम भक्ति' सर्वोत्तम मानी गई थी। इसलिए उसे 'दशधा' भक्ति के नाम से अभिहित किया गया। ऐकान्तिक धर्म के प्रवर्तक माने जाने वाले नारद के 'भक्ति-सूत्र' मे भक्ति की व्याख्या के अन्तर्गत उसे 'सात्वस्मिन परम प्रेमरुपा' कहा गया है। इसी 'प्रेमा भक्ति' को रामानन्द ने अपने शिष्यो को दिया और कबीर उसी मे निमग्न हो गये। स्वय कबीर ने 'नारदी भक्ति म निमग्न होकर भवसागर से तरने का' उपदेश इन शब्दो मे दिया है।—

"भगति नारदि मगन शरीरा ।
इहि बिधि भवतिरि कहं कबीरा ॥"

कबीर के सुरति निरति शब्द अपनी बनावट म अधिक पुराने नही लगते। सुरति शब्द को सिद्धो से तथा निरति को केवल नाथो से सबधित कर सकते है किन्तु वे जिन अर्थो को व्यक्त करते है वे योग मे सिद्ध हो सकते है। यदि उनमे कुछ नवीनता है भी तो वह किसी अभारतीय विचारधारा से आयी हुई नही है, वह कबीर की मौलिक उद्‌भावना है। कबीर के सुरति और निरति को योग की 'सम्प्रज्ञात' तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधि म नही खोज सकते। हाँ, उनका रूप कुछ-कुछ उनसे भी मिलता है। किन्तु उनमे कबीर का सा प्रेम तत्व कहा है ?

कबीर का मूल्य आँकते समय प्राय उनका विचारक सामने आ खडा होता है किन्तु उनका प्रेमी अधिक बलिष्ठ है। कबीर के 'विचारक' म भी उनका 'प्रेमी' आधार रूप म सन्निविष्ट है। 'विचारक' कबीर समाज और धर्म दोनो पर विवेकपूर्ण दृष्टि से देखते ह और एक सत्य की खोज करते है। प्रेमी कबीर उसी सत्य को प्रिय के रूप मे देख कर अपने प्रेम को उसी के चरणो म समर्पित कर देते है। विचारक कबीर असत्य का उच्छेदन करता है और प्रेमी समाज को प्रेम के सूत्र मे बाधने का प्रयत्न करता है। कबीर वाणी मे ये दोनो चित्र यत्र-तत्र बिखरे पडे है। विचारक का एक चित्र इन शब्दो मे देख सकते है —

"एकै पवन एक ही पाणी, करी रसोई न्यारी जानीं ।
माटी सू माटी ले पोती, लागीं कहौ कहा धू छोती ॥

धरती लीपि पवित्तर कीन्ही छोति उपाय लीक बिच दीन्हो ।
याका हमसूं कहौ बिचारा क्यूं भव तिरिहौ इहि आचारा ॥'

मध्यकालीन विचारकों में कबीर का स्थान बहुत ऊंचा है। कबीर न तो ऐसे विचारकों में से हैं जो नवीनता पर प्राचीनता को थोपते हैं और न ऐसे ही विचारकों में से हैं जो प्राचीन और नवीन का सामंजस्य करते हुए प्राचीन के खंडन और नवीन के मंडन में दबी जबान से काम लेते हों। कबीर एक तीसरे ही प्रकार के विचारक थे जिनके सामने रूढ़ियों आडंबरों और पाखंडों का कोई महत्त्व नहीं था। उनके विचारों में मानव धर्म और मानव कल्याण की प्रतिष्ठा थी। उनके विचारों की स्वतंत्रता पर बुद्ध और महावीर की कितनी छाया थी यह कहना तो कठिन है किन्तु उनके विचारों में बहुत साम्य था यह कहना अनुचित न होगा।

कबीर स्वतंत्र विचारक होते हुए भी उच्छृंखल नहीं कहे जा सकते। उन्होंने तो वास्तव में देश के विशृंखल वातावरण को मर्यादित एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपने समय में धर्म की जो दुर्दशा एवं अधोगति देखी थी उससे वे सतर्क और जागरूक हो गये थे। इसी जागरूकता ने उन्हें सार संग्रह की प्रेरणा दी। साथ ही उच्छृंखलता के वातावरण में भड़क उठने वाली अनास्तिकता और मूढ़ता के विरुद्ध क्रांतिकारी उद्घोष किया और धर्मान्धता के निवारण के लिए बौद्धिक ज्योति को चमकाया जिसमें किसी जाति या वर्ग के लिए कोई विशेष अवकाश नहीं था अपितु उसका लाभ मानवमात्र उठा सकता था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर विचारक और प्रेमी थे। उनका विचारक जिस प्रकार दार्शनिक और सुधारक था उसी प्रकार उनका प्रेमी भी सुधारक और भक्त था। कबीर का भक्त किसी सम्प्रदाय या वर्ग का समर्थक नहीं था। वह अपने आराध्य के समान उदार एवं दयालु था और उसी के समान निष्पक्ष एवं तटस्थ था। इससे कुछ लोगों ने उन्हें गलत समझ लिया है। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण देश काल की सीमाओं से आगे की चीज है। यह बात उनके समकालीन किसी अन्य विचारक में नहीं मिलती सूफी विचारकों में अवश्य ही कुछ चिंतन स्वतंत्रता की झलक दिखायी देती है किन्तु उनकी वाणी में कबीर का सा ओज और वैसी प्रखरता नहीं मिल सकती।

मध्ययुगीन विचारकों में कबीर का विशेष स्थान है। उनके स्वतत्र चिन्तन में निष्पक्षता, प्रखरता, सयम और शालीनता के साथ-साथ तर्क और प्रभाव शक्ति भी है। भारतीय विचारधारा को कबीर की वाणी एक वरदान के रूप म प्राप्त हुई। भारतीय जनता पर उसका अमित आभार है। जनता म अपने सहज धर्म द्वारा स्वतत्र चिंतन की भावना को जागृत कर देना कबीर का ही काम था। स्वतत्र चिन्तन के साथ धर्म के प्रति आकर्षण पैदा करना कोई सरल काम नहीं है और इस दिशा में कबीर का प्रत्येक कदम दृढ एव स्तुत्य था। वर्ग और सम्प्रदाय के बन्धनो को तोडकर मानव को स्वतत्र वातावरण म श्वास लेने के लिए प्रेरणा देकर उन्होने मानो बुद्ध के अधूरे काम को पूरा करने का प्रयत्न किया। कबीर का सुधार भी बुद्ध के सुधार की भाति अनुभव की गोद मे पला था किन्तु आस्तिक्य भाव का जो बल कबीर के सुधार को प्राप्त हुआ वह बुद्ध के सुधार को प्राप्त नहीं हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ने भारत म जिस समाज-धर्म के ढाचे को खडा किया उससे जनता को अमोघ बल मिला, उसके नैतिक जीवन म सुधार की प्रवृत्ति सजग हो उठी और सभी म अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतत्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

कबीर ने अपने समय की सघर्षमूलक प्रवृत्तियो को शान्त करने का प्रयत्न तो किया ही साथ ही रूढिवादियो को प्रकाश देकर समन्वय और शान्ति का मार्ग सुझाया। या तो विश्व म मानव-कल्याण के लिए अनेक महापुरुषो ने अपने-अपने ढग के प्रयत्न किये। महात्मा बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, गाँधी आदि उनके उदाहरण हैं किंतु कबीर का प्रयास उसके व्यक्तित्व और कवित्व, दोनो का सम्मिलित प्रयास है। कबीर की वाणी म चाहे महान् धार्मिक ग्रन्थ की प्रतिष्ठा न हो किन्तु एक महान् रचना के सारे सूत्र उसमे विद्यमान हैं। उसकी विशेषता यह है कि उसम मानव हित का मूल स्रोत विद्यमान है।

साहित्य के किसी रूढिवादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्याकन करना साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। कबीर का साहित्य उनके हृदय की प्रेरणा और मस्तिष्क की धारा है। इन दोनों की सहज अभिव्यजना कबीर की भाषा की विशेषता है। उसम न तो शब्दो की जटिलता है, न अलकारो का घटाटोप और न छन्दो की उछल-कूद।

कबीर की वाणी को बडी सावधानी से परखने की आवश्यकता है अन्यथा अनर्थ होने की सभावना है। उसका रूप प्रबन्ध-काव्य का रूप नही है अतएव भावो और विचारो का सश्लेप दूर तक हमारे सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं करता। कबीर विचारक भी हैं और भावुक भी। जहाँ वे विचारक हैं वहा उनका भावुक आकर भी उसमे मिल नही सका है और जहाँ वे भावुक है वहा ऐसा लगता है कि कबीर के विचारो और भावो मे कोई सामजस्य नही है किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है कुछ विशेष स्थल ही इस प्रकार के हैं।

कबीर की वाणी ने भाषा के क्षेत्र मे बडी भारी उत्क्रान्ति की और उस काम को पूरा किया जिसको बुद्ध और उनके अनुयायी न कर सके। बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जनता की भाषा को अपनाया था। उनके अनुयायियो ने भी किसी सीमा तक इस व्रत का पालन किया किन्तु उस व्रत मे सकीर्णता थी क्योकि बुद्ध और उनके अनुयायियो ने किसी एक भाषा को अपनाया था किन्तु जो भाषा कबीर और उनके अनुयायियो से हमको मिली है वह एक ऐसी खिचडी है जिसमे देश के अनेक भू-खडो की वाणी का समावेश है। इसी कारण कबीर-ग्रन्थावली की भाषा मे राजस्थानी, गुजराती, ब्रज, पूर्वी आदि की शब्दावली और रूप-राशि का समावेश दिखायी देता है। एक जनतत्रीय भाषा का क्या रूप होना चाहिये इस प्रश्न का उत्तर कबीर-वाणी मे मिल सकता है।

कबीर जनता के कवि थे। उनकी वाणी साधारण जनता मे प्रकट हुई थी। उसमे प्रचलित शब्दो का प्रयोग हुआ था इसीलिए जनता ने उसे अपनाया और साधारण लोगो मे उसका उसी प्रकार समादर हुआ जिस प्रकार शिष्ट समाज मे रामचरितमानस का। कबीर के पदो को किसी ने तानपूरे पर गाया और किसी ने सारगी पर सुनाया। किसी ने भक्ति के पद चुने और किसी ने विरक्ति के।

कभी कभी ऐसा लगने लगता है कि कबीर की वाणी मे क्षेत्र विस्तार नहीं है। यही आरोप सूर के काव्य पर भी लगाया जाता है किन्तु सूर के सबध मे उनके उपमानो का सहारा लेकर इस आरोप का परिवारण कर दिया जाता है। कबीर ने चाहे उपमानो के क्षेत्र मे कोई प्रयत्न भले ही न किया हो, किन्तु उनके उपमान बड़े सजीव एव उनके दैनिक जीवन मे मिलने वाले हैं। उनसे भी कबीर के क्षेत्र का विस्तार तो बढता ही है। साथ ही कबीर

ने अपने वर्ण्य को काफी फैलाया भी है। धर्म समाज आचरण नैतिकता, व्यवहार आदि सभी विषयो पर कबीर की वाणी का स्फुरण हुआ है। कबीर का विरहोपचार बड़ा मार्मिक है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का जो संघर्ष कवि ने चित्रित किया है वह अद्वितीय है। उसमें शृगार है और वह भी समग्र रागात्मक वृत्तियो को झकृत कर देने वाला किंतु वासना से एकदम विनिर्मुक्त। उसमें शृगार का आनन्द आता है किंतु पाठक उसमें बह नही जाता। यही कबीर का विद्यापति और जयदेव मे अन्तर है। कबीर के शृगार की कुछ गहरा का चित्र देखिये—

साईं बिन दर्द करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतिया पिछले पहरवा साईं बिना तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे साईं मिले सुख होय॥'

यदि साहित्य चिंतन अनुभूति कल्पना और अभिव्यजना का एक अटूट मंदिर है तो कबीर का साहित्य इस सुदरता और अटूटता से वंचित नही है। यह ठीक है कि कबीर न तो सर्वत्र कवि हैं और न सर्वत्र विचारक या सुधारक ही किंतु जहाँ वे प्रेमी दिखाई पडते हैं वहा कवि भी हैं।

कबीर का जीवन एक मजदूर का जीवन था किंतु उन्होने अपने इस जीवन को अपनी उन्नति मे बाधक नही समझा। वरन् अपनी आध्यात्मिक अभिव्यजना म उन्होने अपने जीवन का पूर्ण उपयोग किया और अपने रोम-रोम से सबधित वाणी को जिस प्रचार कार्य म लगाया, उसका प्रभाव स्पष्ट है। कबीर का जीवन छोटो-बड़ो के लिए आज तो एक बहुत बडी प्रेरणा है। इसलिए आज जबकि एक मानव धर्म की आवश्यकता है कबीर की वाणी का और भी अधिक उपयोग है। उसमे पलायनवाद का स्वर खोजना अनुचित है किंतु दर्प और हीनता का समझौता उनकी वैराग्योक्तियो मे अवश्य मिलता है। कहते हैं कि कवि अमर होता है क्योकि उसकी वाणी युग-युग के लिए सन्देश देती है। कबीर भी अमर हैं क्योकि उनकी वाणी भी आज हम सन्देश दे रही है। वह हमें धर्म और समाज की एकता सिखला रही है और नीति का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

राजस्थान कालेज जयपुर —सरनामसिंह
२२ जून, १९६०

विषय-सूची

: १ :

अध्ययन की सामग्री

किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझने के लिए हमे दो बातो का विशेष ध्यान रखना होता है—एक तो यह कि वह क्या कहता है और दूसरी यह कि उसके विषय मे दूसरे लोगो का क्या मत है और उसका क्या आधार है? किसी प्राचीन राजा आदि के सम्बन्ध मे उसके दृष्टिकोण की शोध उस समय की लिखित सामग्री से हो सकती है, किन्तु किसी कवि को हम उसकी रचना मे भी खोज सकते हैं। वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कवि को प्राय· हम उसकी रचना में ही पाते हैं। कवि अपनी रचना मे रहता है। वही उसका जीवन और वही समकालीन जीवन का सजीव चित्र है। हाँ, रचनाओ मे कवि की खोज करते समय उनकी प्रामाणिकता के विषय मे सतर्क रहने की आवश्यकता रहती है, क्योकि महापुरुषो के नाम पर अनेक सस्ती रचनाएँ जबानों और दुकानो पर चढ जाती हैं जिन से सत्य की खोज भ्रम की भूल-भुलैयो मे पड कर बहक जाती है।

जहाँ तक रचनाओ का सम्बन्ध है, शायद कबीर ने तो अपने हाथ से कभी लिखा नही था क्योकि वे पढे लिखे नही थे। यो तो महात्मा रामानन्द के शिष्यो के सम्बन्ध मे साधारणत यह प्रसिद्ध है कि वे पढे लिखे नही थे किन्तु कबीर के सम्बन्ध में तो यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि 'मसि कागद छूआ नही' कबीर के सभी पाठको की जिह्वा पर आरूढ है। जब वे यह कहते हैं कि 'बिदिया न पढउँ बाद नही जानहुँ' तो इससे न केवल यही ध्वनित होता है कि वे वाद विवाद के पचडे मे नही पडना चाहते थे, वरन् यह भी स्पष्ट है कि उन्होने किसी पाठशाला या मकतब मे अध्ययन नही किया था। इन दोनो उक्तियो से यह अनुमान लगाना असगत न होगा कि लिखना-पढना न जानने के कारण कबीर की 'बानियो' को उनके शिष्य ही लिखते रहे होगे।

कबीर पथ के प्रचार और प्रसार का इतिहास देख कर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीर के पश्चात् उनकी 'बानियो' की अनेक प्रतिलिपियाँ हुई होगी, किन्तु उनमे से प्रामाणिक वे ही मानी जा सकती हैं जो उनके

समय या उसके कुछ ही बाद की हो। अधिक बाद की प्रतिलिपियों मे परिवर्तनों की बहुत सभावना है।

कबीर की 'बानियाँ' अनेक ग्रन्थो मे बिखरी मिलती हैं। उनमे से कुछ सग्रह ऐसे भी मिलते हैं जिनमे केवल कबीर की बानियो का ही सकलन है। 'कबीर-ग्रन्थावली' ऐसा ही सग्रह है। इसका सकलन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया था। वे लिखते हैं उनके इस सकलन का आधार सवत् १५६१ की लिखी हस्तलिखित प्रति है। यह प्रति खेमचन्द के पढने के लिए मलूकदास ने काशी मे लिखी थी। यह पता नही लगा कि ये खेमचन्द और मलूकदास कौन थे। क्या ये मलूकदास कबीरदासजी के वही शिष्य तो नही थे जो जगन्नाथपुरी मे जाकर बसे और जिनकी प्रसिद्ध खिचडी का वहा अब तक भोग लगता है तथा जिनके विषय मे कबीरदास जी ने स्वय कहा है 'मेरा गुरु बनारसी चेला समँदर तीर'? यदि ये वही मलूकदास हैं तो इस प्रति का महत्त्व बहुत अधिक है। यदि ये वह न भी हो, तो भी इस प्रति का मूल्य कम नही है। इसमे सन्देह नही कि सवत् १५६१ तक की सभी 'कबीर-बानियाँ' इसमे सग्रहीत है। एक दूसरी प्रति सवत् १८८१ की लिखी हुई मिलती है। इसमे पहली प्रति की अपेक्षा केवल १३१ दोहे और ५ पद अधिक हैं। दोनो के प्रतिलिपि काल मे ३२० वर्ष का अन्तर है, किन्तु दोनो मे पाठ-भेद बहुत कम है।"

कबीर-ग्रन्थावली का मूलाधार पहली प्रति होते हुए भी इसमे 'ग्रन्थ साहब' के वे सब पद और दोहे भी सम्मिलित कर लिए गये हैं जो पहली प्रति मे नही थे किन्तु जो बानिया मूल अश मे आ गई थी, उनको छोड कर शेष सब परिशिष्ट मे दे दी गई है। यह बात प्रसिद्ध है कि ग्रन्थ-साहब' का सकलन पाचवे गुरु श्री अर्जुनदेव ने स० १६६१ मे अर्थात् पहली प्रति के सौ वर्ष पीछे किया था जिसमे अनेक भक्तो की वाणी का समावेश किया गया है। ग्रन्थ-साहब की प्रामाणिकता ने कबीर-ग्रन्थावली के इस अश की प्रामाणिकता को बहुत पक्का कर दिया है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी इस सग्रह की भाषा अधिक प्रामाणिक दीख पडती है। यह १६वी और १७वी शताब्दी के रूप के बिल्कुल अनुरूप है। इस भाषा और कबीर के नाम पर बिकने वाले ग्रन्थो के पदो आदि की भाषा मे आकाश-पाताल का अन्तर है। इस कारण ग्रन्थावली मे सकलित 'बानियो' को कबीर-कृत मानने मे आपत्ति नही दिखाई पडती।

'कबीर-बानियों' के सम्बन्ध में दूसरा प्रामाणिक सङ्कलन डा० रामकुमार वर्मा का 'सन्त कबीर' है। उसका संग्रह भी 'ग्रन्थ साहब' के आधार पर ही किया गया है। डा० त्रिगुणायत ने 'संत कबीर' को 'कबीर-ग्रन्थावली' से अधिक प्रामाणिक माना है। कबीर ग्रन्थावली की जो वानियाँ 'ग्रन्थ-साहब' में आई हुई बानियों से मिलती हैं उनकी प्रामाणिकता तो डा० त्रिगुणायत के मत से ही सिद्ध है, किन्तु जिन बानियों का संग्रह सं० १५६१ वाली प्रति के आधार पर किया गया है उनकी प्रामाणिकता भी प्राचीनता एवं भाषा-विज्ञान के हाथों में सुरक्षित है।

सं० १५६१ वाली प्रति के प्रथम एवं अन्तिम पृष्ठ 'ग्रन्थावली' में प्रकाशित कर दिये गये हैं। अन्तिम पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति को देखने से यह भ्रम हो सकता है कि मूल लिपि प्रामाणिक नहीं है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेद ने अपने 'कबीर' और डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'संत कबीर' में उसी भ्रम को पाठकों के सामने रखा है। मेरी समझ में अन्तिम पंक्ति के कारण रचना की प्रामाणिकता का खंडन नहीं किया जा सकता। यह बहुत संभव है कि लिपि-कर्ता ही अन्तिम पंक्ति लिखना भूल गया हो और थोड़े दिन बाद उसके किसी शिष्य ने उसमें उसका लिपि-काल लिख दिया हो। डा० त्रिगुणायत का यह मत उचित ही है कि उक्त प्रतिलिपि को बाद की प्रतिलिपि मान लेने से भी उसकी अप्रामाणिकता की पर्याप्त सिद्धि नहीं होती। भारतीय शिष्य-परंपरा में गुरु-वाणी की मौलिकता कितनी पावन और अपरिवर्तनीय हैं, 'ग्रन्थ-साहब' आदि अनेक धर्म-ग्रन्थ इसका प्रमाण हैं। इस दृष्टि से भी उक्त प्रति में कबीर की बानियों के अप्रामाणिक होने का प्रश्न नहीं उठता।

उक्त दो संग्रहों के अतिरिक्त कबीर की वानियों का एक तीसरा संग्रह महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'कबीर-वचनावली' के नाम से प्रकाशित करवाया था। विद्वानों में इस संग्रह की बड़ी प्रतिष्ठा है। संग्रहकर्ता ने मुख-बंध में स्वीकार किया है कि इस संग्रह का संकलन कबीर-बीजक, चौरासी अंग की साखी तथा वेलवेडियर प्रेस की पुस्तकों के आधार पर हुआ है।

'बीजक' कबीर-पंथ की सबसे अधिक प्रामाणिक रचना है। कबीर के अनेक आलोचकों ने इसी ग्रन्थ को अपने अध्ययन का आधार बनाया था। कबीर-बीजक के अनेक संस्करण हो चुके हैं जिनमें पाठान्तर और मत-भेद के कारण प्रामाणिक और प्रक्षिप्त अंशों की गुत्थी को सुलझाना कठिन है।

विश्वभारती पत्रिका'[१] मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बीजक के अनेक अंशो को न्यूनाधिक प्रामाणिक कह कर सदेह को अधिक प्रखर कर दिया है। बीजक से सम्बन्धित जग्गोदास-भग्गोदास भगवानदास आदि की कथाएँ बीजक की प्रामाणिकता पर सन्देह का आघात करती है। ऐसी कथाओं से यही ध्वनित होता है कि बीजक अपने मूलरूप मे अप्राप्य है।

सन्त बानी सग्रह' सीरीज प्रकाशित करके वेलवडियर प्रेस ने हिन्दी-साहित्य की बडी भारी सेवा की है किन्तु उक्त सग्रहों की प्रामाणिकता असंदिग्ध नही है। कबीर-बानी-सग्रह के सम्बन्ध मे भी सदेह के कारण प्रस्तुत हैं। सग्रह की आधार-भूत प्रतियां और उनके लिपि-काल के अभाव मे उसको प्रामाणिक मानना उचित नही है। इन बानियो की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्धि के आग्रह ने बानियो की मौलिकता भ्रष्ट कर दी है। यह भी असम्भव नही है कि बानियो के सग्रहकर्ताओं के राधास्वामी सम्प्रदाय से सबधित होने से इनमे धार्मिक और साम्प्रदायिक आग्रह भी प्रथित रहा हो।

इनके अतिरिक्त कबीर के नाम से अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हो गई हैं। जिस प्रकार किसी दोहे के साथ तुलसी' लगाकर उसे प्रामाणिक बनाने का आग्रह दिखाई पडता है, उसी प्रकार कबिरा' और 'कबीर' के सयोग से अनेक अप्रामाणिक दोहो को कबीर की साखियो' मे प्रतिष्ठित किया गया है। विलसन ने केवल आठ ग्रन्थो को कबीरकृत माना है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में कबीर के नाम पर ७५ ग्रन्थो की सूची दी हुई है। रामदास गौड ने 'हिन्दुत्व' मे कबीर के नाम पर ७१ ग्रन्थो का उल्लेख किया है। कबीर सागर मे, जिसका प्रकाशन वेकटेश्वर प्रेस से हुआ है, ४० ग्रन्थो की चर्चा की गई है, 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' मे डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के नाम से प्राप्त ६१ ग्रन्थो का उल्लेख किया है। काशीनागरी प्रचारिणी पत्रिकाओ ने अपने उर को विशाल करके कबीर के ग्रन्थो की सख्या १३० तक पहुँचा दी है। कबीर की लोक-प्रचलित बानियो के कुछ सग्रह भी प्रकाशित हो चुके है जिनमे आचार्य क्षितिमोहन सेन कृत सग्रह प्रसिद्ध है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर का अध्ययन करने के लिए उनके ग्रन्थ ही पर्याप्त नही हैं, वरन् वह सब सामग्री भी बडे काम की है

[१] वि० भा० प० वैशाख आषाढ २००४ पृ० १००—११५

जो अनेक इतिहासकारो और आलोचको ने समय-समय पर प्रस्तुत की है। यह सामग्री हिन्दी, फारसी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा में बिखरी पडी है। इतिहास मे धार्मिक इतिहास भी सम्मिलित करना होगा क्योकि मध्यकालीन धर्म-क्षेत्र मे कबीर का योग-दान भुलाया नही जा सकता। सन्त-इतिहास की सूची मे कबीर का नाम प्रथम श्रेणी मे आता है। धर्म के इतिहास में कबीर अपने पथ के प्रवर्तक के रूप मे ही पाठको के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। धर्म-परम्परा की एक कडी के रूप मे कबीर का निरूपण करने वाले अनेक ग्रन्थ देखने में आते हैं, किन्तु सब उल्लेखनीय नही है। प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—१ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स—डा० भडारकर, २ आउट-लाइन्स आफ रिलीजस लिट्रेचर आफ इंडिया—फर्कुहर, ३ मेडिवल मिस्टीसिज्म—आचार्य क्षितिमोहन सेन, ४ रिलीजस सेक्टस आफ हिन्दूज—विल्सन, ५. सिख रिलीजन—मैकलिफ, ६ बुद्धिज्म एण्ड हिन्दूइज्म—इलियट, ७ इण्डियन थीइज्म—मैकनिकल, ८ वैष्णव रिफार्मर्स आफ इण्डिया—राजगोपालचारी, ९ इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर—डा० ताराचन्द, और १० रामानन्द टु रामतीर्थ—नटेसन कम्पनी। इनमे से कबीर-सम्बन्धी अध्ययन के लिए पहले, तीसरे, चौथे और नवे ग्रन्थ का अधिक मूल्य है। शेष मे साधारण विवेचना देकर ही सन्तोष प्राप्त किया गया है।

पहला ग्रन्थ सस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् डा० भण्डारकर का लिखा हुआ हैं। इसमे वैष्णव धर्म के साथ-साथ भारत के अन्य धर्मों के उदय और विकास पर भी काफी प्रकाश डाला गया है। यही रामानन्द के साथ कबीर अपने धार्मिक आलोक से आमडलित दीख पडते हैं। विद्वान लेखक ने सृष्टि की उत्पत्ति एव अन्य दार्शनिक सिद्धान्तो की विवेचना में कबीर के अनेक उद्धरणो का बडी योग्यता से उपयोग किया है। दूसरा ग्रन्थ भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य क्षितिमोहन सेन का लिखा हुआ है। कवीन्द्र रवीन्द्र की भूमिका से इसमे 'सोने मे सुगन्ध' का योग हो गया है। आचार्य सेन ने कबीर और उनके गुरु रामानन्द को स्वतन्त्र चिन्तक सन्तो की परम्परा मे बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया है। इस ग्रन्थ के दो अश, भूमिका और परिशिष्ट, बडे महत्त्वपूर्ण हैं। परिशिष्ट मे बाउल सम्प्रदाय तथा कबीर पर उसके प्रभाव की सुन्दर विवेचना मिलती है। तीसरा ग्रन्थ विल्सन का लिखा हुआ है। इसमे हिन्दुओ के अनेक धार्मिक सम्प्रदायो की शोधपूर्ण विवेचना है। यद्यपि कबीर की विवेचना की

दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक महत्त्व नही रखता किन्तु कबीर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सन्देह उत्पन्न करके मनीषियो के लिए एक प्रश्न प्रस्तुत कर देता है जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से बडा मूल्य है। अध्ययन की सामग्री की दृष्टि से इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इडियन कल्चर नामक ग्रन्थ बड़ा काम का है। इसके यशस्वी लेखक डा० ताराचन्द ने प्रारम्भ मे सूफी मत की प्रौढ आलोचना देकर फिर कबीर पर इस्लाम और सूफीमत का प्रभाव दिखलाया है। चिन्तन गभीरता की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है।

ईसा की बीसवी शताब्दी के पूर्व कबीर पर स्वतन्त्र रूप से कोई ग्रन्थ नही निकला था। कबीर के अध्ययन का श्री गणेश कबीर मसूर से मानना चाहिये जिसका प्रकाशन बम्बई मे सन् १९०२–३ मे हुआ। पन्द्रह सौ पृष्ठो की यह एक विशाल रचना है। पन्थ सबधी अनेक कहानियां और सिद्धान्तो से यह ग्रन्थ भरा पडा है। इसका साहित्यिक मूल्य चाहे अधिक न हो किन्तु कबीर पर सबसे पहली पुस्तक होने से इसका मूल्य अतुलनीय है।

कबीर ज्ञान नाम का दूसरा ग्रन्थ सन् १९०४ मे प्रकाशित हुआ। इसका रचयिता कोई सुखदेव प्रसाद नामक हिन्दू ईसाई था। धार्मिक सकीर्णता के कारण यह ग्रन्थ सत्य का उद्घाटन न कर सका। सन् १९०५ में कबीर साहब का जीवन चरित्र और सन् १९०६ मे कबीर कसौटी का प्रकाशन हुआ। पहली रचना सरस्वतीविलास प्रेस नरसिंहपुर से प्रकाशित हुई। इस का दृष्टिकोण धार्मिक होने से अधिक साहित्यिक महत्त्व नही है। दूसरी रचना पद्य मे है। इसका प्रकाशन श्री वेकटेश्वर प्रेस बम्बई से हुआ था। इसमें वैज्ञानिक विवेचना का अभाव है। इसके रचयिता कोई कबीर पथी सज्जन बाबू लहनासिंह थे। इसके अनन्तर कबीर चरित्र बोध नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त सन् १९१६ तक कोई और ग्रन्थ प्रकाश मे नही आया। यह ग्रन्थ बम्बई के खेमराज श्रीकृष्णदास के यहा से प्रकाशित हुआ था। आलोचना के स्तर पर यह रचना भी नही आ पाई।

इसके उपरान्त सन् १९१६ मे कबीर वचनावली की भूमिका से कबीर के अध्ययन का आलोचनात्मक आधार प्रस्तुत हुआ। इसमे हरिऔध ने साहित्यिक आलोचना के साथ-साथ सैद्धान्तिक आलोचना देकर कबीर के अध्ययन के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सन् १९२८ मे बाबू श्यामसुन्दर

दास ने 'कबीर ग्रन्थावली' का सकलन करके उसकी भूमिका मे कबीर सबधी अध्ययन के सदन की सज्जा की। आलोचना के विकास के इतिहास मे 'कबीर ग्रथावली' की भूमिका का कुछ कम सम्मान नही है, फिर भी कबीर के सिद्धान्तो की समुचित विवेचना का अभाव इसमें खटकता ही है। सन् १९३१ मे 'कबीर का रहस्यवाद' प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ अपने ढग का अकेला है। इसमे विषय की विशद व्याख्या और विवेचना की गई है। इसके पश्चात् 'कबीर का रहस्यवाद' के लेखक, डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के सम्बन्ध में दो सग्रह प्रकाशित किए एक 'कबीर पदावली' के नाम मे और दूसरा 'सन्त कबीर' के नाम से। पहले ग्रथ मे कबीर के चुने हुए पदो को सगृहीत करके उसे सक्षिप्त पाडित्यपूर्ण भूमिका से सुशोभित किया गया है। सन्त कबीर' मे लेखक ने कबीर की प्रामाणिक वाणियो को 'ग्रथ साहब' से सकलित करके टीकासहित प्रस्तुत किया है। भूमिका इस ग्रथ की भी सुन्दर है। कबीर के जीवन पर इसमे काफी प्रकाश डाला गया है।

सन् १९४१ मे डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर' ने प्रकाशित होकर शोध के छात्र को प्रचुर सामग्री प्रदान की। सामाजिक और धार्मिक गवेषणा ने कबीर के सिद्धान्तो को समझने में बडी सहायता दी। गवेषणा और पाण्डित्य की दृष्टि से यह कृति अब तक प्रकाशित ग्रथो मे सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

इधर गत ५–६ वर्ष के भीतर कबीर पर कुछ और पुस्तके भी प्रकाशित हुई हैं जिनमे से डा० त्रिगुणायत कृत 'कबीर की विचारधारा' सर्वोत्तम है। विद्वान् लेखक ने श्रम और अध्यवसाय से अपने प्रबन्ध को शोध के छात्रो के समक्ष प्रस्तुत किया है। सैद्धातिक मत-भेद होते हुए भी मै लेखक के 'चिन्तन' की प्रशसा किए बिना नही रह सकता। डा० रामरतन भटनागर के 'कबीर एक अध्ययन' और महावीरसिंह गहलौत के 'कबीर' ने भी कबीर के अध्ययन को प्रोत्साहित किया है।

उक्त हिन्दी ग्रथो के अतिरिक्त अग्रेजी मे भी कबीर पर कुछ ग्रथ प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'प्रोफेट्स आफ इडिया'—मन्मथनाथ गुप्त, 'कबीर एण्ड कबीर-पथ'—जी जी एच वेस्कट, 'कबीर एण्ड हिज फालोअर्स'—रेवेरेण्ड एफ ई, निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री'—डा० बडथ्वाल, 'कबीर एण्ड हिज [illegible] '—[illegible]० मो नसिंह, और 'कबीर [illegible]ण्ड दी भक्ति मूवमेन्ट'—

डा० मोहनसिंह, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'हण्ड्रेड पोएम्स आफ कबीर'-कवीन्द्र रवीन्द (भूमिका लेखिका—ईवीलिन अण्डरहिल), भी अपना साहित्यिक मूल्य रखता है।

कुछ पत्र-पत्रिकाओं में भी कबीर-सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते रहे हैं। चन्द्रबली पाण्डेय ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १४ पृ० ५३६) में 'कबीर साहब का जीवन वृत्त' नामक लेख प्रकाशित करके साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। कल्याण के योगांक में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'कबीर का योग वर्णन' लेख लिख कर कबीर के योग-सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कल्याण के वेदान्तांक में 'कबीर और वेदान्तवाद' लेख ने कबीर के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का समर्थ प्रयत्न किया है। 'कबीर का अलंकारिक दृष्टिकोण' नामक लेख में डा० ओ३म प्रकाश ने कबीर की काव्य-कला पर अपना मत प्रकट किया है। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने 'हिन्दुस्तानी' भाग २, अं० २, पृ० २०७ पर 'कबीर जी का समय' लेख लिख कर कबीर के समय पर ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। 'कबीर साहब का साधना-पथ' (ले० उदयशंकर शास्त्री), 'जिन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा' (विचार-विमर्ष सम्मेलन, प्रयाग) और कबीर' (एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स) नामक लेखों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कबीर को पाठकों के सामने रख कर कबीर-सम्बन्धी अध्ययन को आगे बढ़ाया है।

कबीर-संबधी आलोचनात्मक ग्रन्थ उर्दू में भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें से 'सम्प्रदाय'—प्रोफेसर वी वी राय (मिशन प्रेस लुधियाना, सन् १६०६), 'कबीर और उनकी तालीम'—शिवव्रत लाल (सन् १६१२), 'कबीर साहब'-श्री छुत्सी (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सन् १६३०), और 'कबीर पथ'—शिवव्रत लाल (मिशन प्रेस, इलाहबाद) बड़े महत्त्व के हैं। अन्तिम ग्रंथ में कबीर-पंथ का शास्त्रीय एवं वास्तविक स्वरूप निरूपित करने की चेष्टा की गई है। प्रारम्भिक प्रयत्नों में ग्रन्थ के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस प्रकार कबीर के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री होते हुए भी चिन्तन की व्यापकता के क्षेत्र में उसकी पूर्णता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि कबीर के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई नया तथ्य प्रकट न हो सके, किन्तु चिन्तन के गर्भ में नए अनुमानों और नए दृष्टि-कोणों के लिए सदैव अवकाश रहता है। प्रस्तुत लेखक के प्रयत्नों में भी नया दृष्टिकोण प्रकट हो सकता है।

: २ :

जीवन

किसी कवि या लेखक के जीवन-वृत्त के लिखने में अन्त साक्ष्य और बहि साक्ष्य, दोनो ही को आधार बनाया जाता है। कबीर की रचनाओं में एक पक्ति के सिवा कही भी उनके जीवन-काल का सकेत नही मिलता—'गुरु परसादी जैदेव नामा, भगति के प्रेम इन्हहि है जाना।' इस पक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर जयदेव और नामदेव के पश्चात् हुये थे। समय की दृष्टि से इन दोनो मे जयदेव पहले आते हैं। कहा जाता है कि जयदेव राजा लक्ष्मणसेन की सभा (सन् ११७०) को सुशोभित करते थे। गीतगोविन्द इन्ही की रचना है। यहाँ तक माना जाता है कि 'गीतगोविन्द', 'विज्ञान गीता' या 'प्रबोध चन्द्रोदय' की तरह साकेतिक रचना है। इसमे 'ज्ञान-कृष्ण' की ओर सकेत किया गया है। 'राधा' जीव-मुक्ति को सकेत करती है। कृष्ण और राधा—ज्ञान और मुक्ति—परस्पर सम्बन्धित प्रेमी और प्रिया है। यह रूपक मान लेने में जयदेव की भक्ति का रूप-चित्र ही बदल जाता है।[1] ऐसी भक्ति कबीर के मत के प्रतिकूल नही है।

जन्म-तिथि और समय

नामदेव का समय सन् १२७० के आस-पास माना जाता है। ये सतारा जिले मे नरसीबमनी स्थान पर एक छीपा वश मे पैदा हुए थे। इनका परिवार शिव भक्त था। कहा जाता है कि बडे होकर ये कुमार्ग-गामी हो गये और बट-मारी तथा राहजनी करने लगे, किन्तु पैत्रिक भक्ति-भावना शीघ्र ही उमड आई और वे 'विठोबा' के भक्त हो गये। उन्होने हिंदी और मराठी दोनो मे कविता की हैं।

बीजकगत[2] एक पद में कबीर ने रामानन्द के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। कबीर ग्रन्थावली मे कबीर का सकेत एक ऐसे साधु गुरु के प्रति है

---

[1] मैकलिफ—सिक्ख, *Vol VI*, पृ० १०

[2] रामानन्द रामरस माते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके।।
—बीजक, पद ७७

जिसने आत्मानुभव को रोकने वाले पाखण्ड और अज्ञान के द्वार का भञ्जन कर दिया था। दबिस्ता के लेखक ने भी कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। नाभाजी और ओरछा के हरिराम व्यास का भी यही मत है। यह सम्बन्ध कबीर के समय पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

अगस्त्य संहिता के बाद के परिशिष्ट 'भविष्योत्तर खण्ड' के अनुसार रामानन्द का जन्म सन् १२९९ ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु सन् १४१० में हुई थी। डा० भण्डारकर और डा० ग्रियर्सन ने रामानन्द की जन्म-तिथि सम्वत् १३५६ मानी है जो अगस्त्य संहिता के अनुरूप है। डा० फर्कुहर और की साहबें ने रामानन्द का समय सन् १४०० से १४७० तक निश्चित किया है।

डा० फर्कुहर और की साहब के मत से रामानन्द की आयु ७० वर्ष की ठहरती है जो भक्तमाल की 'बहुत काल वपु धारि कैं' —उक्ति के अनुरूप नहीं है। सम्वत् १३५६ को रामानन्द की जन्म तिथि स्वीकार कर लेने पर सन्त पीपा को जिनका समय सम्वत् १४८२ निश्चित किया जाता है, उनका शिष्य मानने में अड़चन पड़ती है। स० १३५६ को रामानन्द की जन्म-तिथि मान लेने से पीपा के जीवन काल में ही रामानन्द की आयु १२६ वर्ष की हो जाती है। यदि शिष्य होने के समय पीपा को २० वर्ष का भी मान लें तो रामानन्द की आयु १४० वर्ष हो जाती है जो प्रत्यक्षतः असंभव दिखाई पड़ती है। अतएव स० १३५६ को भी रामानन्द की जन्म तिथि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भक्तमाल के टीकाकार हरिवरन ने रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानन्द को पाँचवाँ माना है। डा० त्रिगुणायत चार पीढ़ियों के लिए ३०० वर्ष का समय मानते हैं। इस दृष्टि से रामानन्द का समय स० १३७५ के आस-पास आता है क्योंकि विद्वानों ने रामानुज का समय स० १०७३ के समीप निश्चित किया है। अपने अनुमान को थोड़ी ढील देकर डा० त्रिगुणायत ने रामानन्द की जन्म तिथि स० १३९५ मानी है और उनकी निधन तिथि लगभग स० १५०० निश्चित की है। 'प्रसंग पारिजात' नामक ग्रन्थ में उनकी निधन तिथि स० १५०५ दी हुई है। यदि यही तिथियाँ सत्य मान लें तो रामानन्द की आयु ११० वर्ष की होती है जो जनश्रुति से समर्थित है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की जन्म तिथि जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार स० १४५६ वि० मानी है किन्तु यह तिथि डा० बड़थ्वाल को मान्य नहीं है। वे कबीर की जन्म तिथि स० १४०७ और स० १४४७ के बीच अनुमान करते । उनका कहना है कि नामदेव की कहानियाँ कबीर के समय में बहुत प्रचलित गई थी और नामदेव की मृत्यु स० १४०७ में होने से र

सं० १४०७ के पश्चात् ही ठहरता है। डा० बडथ्वाल रामानन्द की निधन तिथि स० १४६७ के लगभग मानकर कबीर की आयु उस समय कम से कम १८-२० वर्ष मानते हैं। इस प्रकार वे स० १४०७ और स० १४४७ के बीच मे कबीर की जन्म-तिथि का अनुमान लगाते हैं। *उनका कहना है कि कबीर का जन्म* सन् १३७० ई० अर्थात् स० १४२४ वि० के आसपास हुआ होगा। डा० त्रिगुणायत ने कबीर की जन्म-तिथि सम्वत् १४५५ मानी है जो 'कबीर चरित्र बोध' मे दी हुई तिथि के अनुरूप है। यह तिथि प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा मानी हुई तिथि से लगभग मिल जाती है। जो हो यही तिथि लोकप्रसिद्ध है। किसी *गवेषणात्मक निर्णय के अभाव मे 'प्रसिद्धि' को स्वीकार न करना अनुमान के* दामन को स्वीकृति देना है।

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध मे जो दोहे प्रचलित है वे ये है --

(१) सवत पन्द्र सौ औ पाँच मो, मगहर कियो गौन।
अगहन सुदी एकादसी मिलो पौन मे पौन॥

(२) सवत पन्द्र सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी, रलो पौन मे पौन॥

(३) सवत पन्द्रह सौ उनहत्तरा हाई।
सतगुर चले उठ हसा ज्याई॥
—(धर्मदास द्वादस पथ)

(४) पन्द्रह सौ उनचास मे मगहर कीनो गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पवन मे पौन॥
--(भक्तमाल की टीका)

उक्त चारो दोहो से कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध मे चार तिथियां मिलती हैं — (क) स० १५०५, (ख) स० १५७५ (ग) स० १५६९ और (घ) स० १५४९। इनमे से किसी तिथि के सम्बन्ध मे प्रमाण नही हैं। अनन्तदास की परिचई के अनुसार कबीर ने १२० वर्ष की आयु प्राप्त की थी। स० १४५५ (कबीर की जन्म–तिथि) मे १२० वर्ष जोड देने पर उनकी निधन–तिथि स० १५७५ आ जाती है। इससे कबीर को सिकन्दर लोदी, रामानन्द तथा गुरु नानक का समकालीन मानने मे कोई अडचन नही आती। त्रिग्स के अनुसार सिकन्दर से कबीर की भेंट स० १५५३ म, जबकि वे ९८ वर्ष के होगे, हुई थी। मि० वेस्काट का मत है कि गुरुनानक २७ वर्ष की अवस्था मे कबीर से मिले थे। गुरु नानक की जन्म तिथि स० १५२६ मानी जाती है। इससे स्पष्ट है कि कबीर की भेंट स० १५५३ में हुई थी।

डा० बडथ्वाल का कहना है कि स० १५७५ को कबीर की निधन तिथि मानने मे उनको विशेष आपत्ति नही है, किन्तु यह तिथि प्रमाणो से पुष्ट नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के सबध में राजदण्ड का आविष्कार ही कबीर को सिकन्दर लोदी (सन् १४८९–१५१७ ई०) से जोडने का कारण बना है। शायद यह प्रह्लाद और कबीर की तुलना को पूरा करने की दृष्टि से किया गया गया हो। वे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के इस मत से सहमत हैं कि सिकन्दर लोदी के समय तक कबीर अपनी खडन-पद्धति को लेकर नही पहुँचे होगे।

किन्तु डा० बडथ्वाल के इस विचार को भी कोई प्रमाण प्राप्त नही है कि कबीर की मृत्यु स० १५०५ (सन् १४४८) मे हुई थी। वे डा० फ्युहरर के इस मत से प्रभावित हुए दीख पडते हैं कि 'नवाब बिजली खाँ' पठान ने स० १५०७ मे कबीर की कब्र पर एक स्मारक[1] बनवाया जिसकी मरम्मत स० १६२४ में नवाब फिदाईखाँ ने कराई। डा० फ्युहरर के बयान को प्रामाणिक तो स्वय डा० बडथ्वाल भी नही मानते, फिर उसके आधार पर मानी हुई कबीर की मृत्यु-तिथि को प्रमाणित कैसे माना जा सकता है?

उक्त स्मारक के सम्बन्ध में डा० त्रिगुणायत का यह मत उचित ही दीख पडता है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त रहा होगा। उसने कबीर के जीवन-काल मे कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चल कर फिदाई खाँ ने उसकी मृत्यु के उपरान्त उस को रोजे का रूप दे दिया होगा। डा० रामकुमार वर्मा का भी यही अनुमान है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त था। उसने मगहर में उनकी जन्म तिथि के उपलक्ष मे रोजा बनवाया था।

'भक्त सुधा-बिन्दु-स्वाद' नामक ग्रन्थ मे कबीर की निधन तिथि अगहन सुदी एकादशी, स० १५५२ मिलती है। प्रमाण का अभाव होने से यह कहना अनुचित न होगा कि यह तिथि अनुमान-प्रसूत हो सकती है।

अस्तु, लोक प्रसिद्धि को प्रमाणो पर कस कर इसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि कबीर का जन्म सवत् १४५५ और निधन सवत् १५७५ मे हुआ था।

---

[1] यह तिथि 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' के आधार पर दी गई है। सर्वे का तिथि-निर्देश अनुमानमूलक ही प्रतीत होता है।

'स्थान' शब्द तीन ओर संकेत करता है—जन्म, निवास एवं मृत्यु। कबीर के जन्म स्थान के सम्बन्ध मे तीन मत प्रचलित हैं—एक तो यह कि वे मगहर मे उत्पन्न हुए थे, दूसरा यह कि उनका जन्म-स्थान काशी था और तीसरा यह कि वे आजमगढ जिले के बेलहरा गांव मे उत्पन्न हुए थे। श्री सीताराम चतुर्वेदी और स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुन्दरदास कुछ अन्त साक्ष्यो के कारण कबीर का जन्म स्थान काशी मानते हैं, किन्तु डा रामकुमार वर्मा इस मत के विरोधी हैं। वे कबीर का जन्म-स्थान मगहर मानते हैं। उनका कहना है कि काशी कबीर का जन्म-स्थान नही है। वहां तो वे बाद मे आकर रहने लगे थे।

स्थान

अन्त साक्ष्य के रूप मे कबीर-बानी की अनेक पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, किन्तु कई पंक्तियो मे एक-दूसरी का विरोध-सा दिखाई देता है जिससे समस्या के हल के स्थान पर उलझन कुछ बढ जाती है। उदाहरण के रूप में 'काशी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताए', को ही लिया जा सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने काशी मे जन्म लिया था। इसमे सन्देह के लिए शायद ही कोई अवसर हो, किन्तु, 'पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई'—इस पंक्ति से कबीर की पहली पंक्ति का आशय खंडित हो जाता है।

यहाँ 'दरसन' शब्द भी विद्वानो के विवाद का कारण बन गया है। मगहर को कबीर का जन्म-स्थान मानने वाले इस शब्द का अर्थ 'जन्म लेना' मानते हैं और दूसरे पक्षवाले इसका अर्थ सामान्यतया 'ईश्वर-दर्शन' बतलाते हैं। जो लोग मगहर को कबीर का जन्म-स्थान नहीं मानते उनका कहना है कि सभवत कबीर पर्यटन करते हुए कभी मगहर गये होंगे और वहाँ उन्हें या तो किसी सिद्ध पुरुष के या भगवान् के दर्शन हुए होगे अथवा वहाँ उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई होगी।

डा. त्रिगुणायत की धारणा है कि कबीर मगहर मे ही उत्पन्न हुए थे। इसकी पुष्टि मे उनके तर्क ये हैं—

१ मगहर मे मुसलमानो की बस्ती बहुत अधिक है। वे सभी अधिकतर जुलाहे हैं। कोई आश्चर्य नही कि कबीर इन्ही जुलाहो में से किसी के घर उत्पन्न हुए हो।

२ कबीरदास जी ने अपनी रचनाओ मे कई बार मगहर की चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होने उसे

सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है।

कबीरदासजी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे। उन्होंने काशी में रहना बहुत उचित नहीं समझा। यह मानव स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है वहीं मरना चाहता है।

४. कबीरदासजी ने स्पष्ट लिखा है कि सबसे पहले उन्होंने मगहर को देखा था। उसके बाद वे काशी में बस गये थे। इस उक्ति में खींच-तान कर दूसरा अर्थ लगाना हठधर्मी भर होगी।

५. कबीरदास जी ने लिखा है कि 'तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपन बुझाई—' इस पंक्ति में स्पष्ट है कि अपनी जन्मभूमि में पहुँचकर इस प्रकार की शांति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है।

६. एक बात और है। 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' में लिखा है कि बिजलीखां ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने तट पर संवत् १५०७ में रोजा बनवाया था। सिकन्दर लोदी और कबीर के मिलन की घटना के आधार पर निश्चित किया जा चुका है कि उस समय कबीर जीवित थे। मेरा अनुमान है कि बिजली खां कबीर का भक्त था। उसने कबीर के जीवन-काल में कबीर के जन्म-स्थान में कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चलकर फिदाई खां ने उनकी मृत्यु के उपरान्त उसी को रोजे का रूप दे दिया होगा।

इन तर्कों से श्री त्रिगुणायत यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि कबीर का जन्म-स्थान मगहर, काशी का समीपवर्ती मगहर, था।

यहाँ मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि जिन लोगों का यह मत है कि कबीर का जन्म उस मगहर में नहीं हुआ था जो गोरखपुर से पन्द्रह मील दूर बस्ती जिले में है, वे डा त्रिगुणायत से बहुत दूर नहीं हैं और डा त्रिगुणायत का 'मगहर' काशी से बहुत दूर नहीं है।

कबीर-पंथियों के अनुसार "सत्य पुरुष का तेज काशी के 'लहर तालाब' उतरा था अथवा उक्त तालाब में पुरइन के पत्ते पर पौढ़ा हुआ बालक नीरु [illegible] की स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था।" इससे तो यही सिद्ध [illegible] है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ था, परन्तु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट

गजेटियर' के अनुसार कबीर का जन्म काशी या मगहर मे न होकर आजमगढ जिले के 'बेलहरा' गाव मे हुआ था। कहते हैं कि वहाँ बेलहरा नाम का एक तालाब है। पहले उसका नाम लहर तालाब था। कबीरदास जी का जन्म इसी तालाब पर हुआ बतलाया जाता है। श्री त्रिगुणायत ने इसको कबीरदास का जन्म-स्थान मानने मे आपत्ति की है क्योकि खोज करने पर उनको आजमगढ जिले के उक्त गाव में कबीर से सम्बन्धित न तो कोई स्मारक ही मिला और न वहाँ कबीर पंथी ही मिले, अतएव गजेटियर के लेखक का मत उनको केवल अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। सभवत अनुमान का कारण लहरतालाा' और 'बेलहरा' शब्दो का साम्यमात्र रहा हो।

मै डा त्रिगुणायत के मत से इस सीमा तक तो सहमत हो सकता हूँ कि कबीर का जन्म काशी के आस पास ही कही हुआ था, किन्तु उनका जन्म स्थान काशी के समीप का कोई 'मगहर' बताते हुए उन्होने जो तर्क दिये है उनसे मै सहमत नही हूँ क्योकि वे निर्बल हैं जिनकी विवेचना आगे की जाती है।

श्री त्रिगुणायत का पहला तर्क यह है कि मगहर मे मुसलमानो की बस्ती बहुत अधिक है। वे सभी अधिकतर जुलाहे है। कोई आश्चर्य नही कि कबीर इन्ही जुलाहो के घर उत्पन्न हुए हो।' यह ठीक है कि मगहर मे जुलाहो की सख्या अधिक है किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि १ उक्त स्थान का मगहर' नाम कबीर का समकालीन है, २ वहा कबीर के जन्म से पहले से ही जुलाहे रह रहे है, ३. कबीर का जन्म किसी जुलाहे के ही घर मे हुआ था, और ४ वह इसी स्थान का जुलाहा था ? हो सकता है कि यह मगहर कोई नई बस्ती हो और कबीर के बाद जुलाहे लोग यहा आ बसे हो और उन्होने अपने स्थान को महत्व देने के लिए कबीर से सम्बन्धित 'मगहर' के पीछे मगहर नाम रख लिया हो।

डा. त्रिगुणायत का दूसरा तर्क यह है कि कबीरदास जी ने अपनी रचनाओ मे मगहर की कई बार चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होने उसे सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है।' यहाँ यह मानने का कोई कारण नही दीख पडता कि यह मगहर जिसका कबीरदास ने बार-बार नाम लिया है, काशी के समीप का ही मगहर है और यह भी कोई पुष्ट तर्क नहीं है कि मनुष्य जन्म-स्थान के प्रति ही अधिक

श्रद्धा-भावना रखता है। यदि ऐसा हो तो अनेक लोग अपने जन्म-स्थान को छोड़कर श्रद्धावश काशी, मथुरा, द्वारिका आदि तीर्थ-स्थानों में न जायें। कई वृद्धों की श्रद्धा-भावना इन तीर्थों के प्रति इतनी उद्दाम हो जाती है कि वे इनके आकर्षण का संवरण न करके अपने जन्म-स्थान के मोह को भी तोड़कर इनमें जा बसते हैं। मैं समझता हूँ कबीरदास ने अपनी रचनाओं में मगहर की चर्चा इसलिए नहीं की कि वह उनका जन्म-स्थान था, वरन् इसलिए कि वे मगहर पर थोपे हुए निर्मूल कलंक को अन्ध विश्वास के सिर मढ़ना चाहते थे। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर द्वारा की गई मगहर की चर्चा में श्रद्धा-भावना की संलग्नता न होकर रूढ़ि एवं अन्ध विश्वास की उन्मूलनकारिणी प्रवृत्ति की सतर्कतामात्र है।

श्री त्रिगुणायत का तीसरा तर्क है कि 'कबीरदास जी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे। उन्होंने काशी में रहना बहुत उचित नहीं समझा। यह मानव स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है वहीं मरना चाहता है।' डा॰ त्रिगुणायत का तर्क यहाँ तक तो मान्यता प्राप्त करता है कि कबीरदास जी अपने अन्त-काल के समीप मगहर चले गये थे, किन्तु उस मगहर में जिसके सम्बन्ध में यह अन्ध विश्वास अब तक छाया हुआ है कि वहाँ मरने से नरक मिलता है। कबीर-जैसे निर्मोह जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं है कि वे अपने अन्त-काल में भी जन्म-स्थान के ममत्व का संवरण न कर सके और यह कहना भी अनुचित है कि कबीरदास जी मानव-स्वभाव के अनुकूल ही मृत्यु-काल के समीप अपने जन्म-स्थान मगहर को चले गये थे। अतएव यह कहना ही उचित दीख पड़ता है कि वे सत्य के अनुसन्धान से प्राप्त अपने निजी विश्वास के अनुकूल ही मगहर गये थे। वे इस अन्ध-विश्वास का खण्डन करना चाहते थे कि मगहर में मरने वाले को गधे की योनि या नरक की प्राप्ति होती है।

अपने चौथे तर्क में डा॰ त्रिगुणायत ने इस पंक्ति का आश्रय लिया है— 'पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई', किन्तु अनेक प्रतिलिपियों में यह पंक्ति भी तो मिलती है—'पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई।' अत: इस समस्या के हल के निमित्त हठधर्मी नहीं चल सकती, दोनों पंक्तियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है।

अपने पाँचवें तर्क में डा॰ त्रिगुणायत ने 'तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपन बुझाई', इस पंक्ति का अर्थ अपनी ओर खींचते हुए कहा है कि

अपनी जन्म-भूमि मे पहुँच कर इस प्रकार की शान्ति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है। मैं समझता हूँ इस प्रकार का निष्कर्ष निराधार है। इस पंक्ति मे स्पष्टतः यह अर्थ निकलता है—'हे परमात्मा, मैं तेरे भरोसे पर ही मगहर मे आ बसा हूँ और इस विश्राम से मेरे शरीर की तपन बुझ गई है।' इस पंक्ति से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यह मगहर वह स्थान था जहाँ बसने मे लोग घबराते थे।

डा त्रिगुणायत के छठे तर्क ने सब तर्कों को काट कर अपनी प्रतिष्ठा रखी है। इसमे 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' का सहारा लेकर यह कहा गया है कि बस्ती जिले के पूर्व मे आमी नदी के दाहिने तट पर बिजली खा ने सम्वत् १५०७ वि० मे कबीर के प्रति अपनी भक्ति के कारण एक स्मारक बनवाया था। उसी को कबीर की मृत्यु के बाद फिदाई खाँ ने रोजे का रूप दे दिया होगा। डा. साहब का अनुमान है कि यह स्मारक कबीर के जन्म-स्थान मे ही बनवाया गया होगा। उनके मत से कबीर का जन्म-स्थान है काशी का समीपवर्ती मगहर। फिर वहाँ उस स्मारक का प्रश्न ही नही उठता जो बस्ती जिले मे आमी नदी के तट पर बनाया गया था। मैं समझता हूँ कि बस्ती जिले म बना हुआ उक्त स्मारक काशी के समीपवर्ती मगहर मे नही लाया जा सकता और न काशी के समीप के मगहर को बस्ती जिले मे आमी के तट पर ही ले जाया जा सकता है। अतएव यह छठा तर्क भ्रममात्र है।

इस विवेचन से साफ हो जाता है कि कबीरदास का जन्म मगहर मे नही हुआ था। फिर भी यदि डा त्रिगुणायत का 'मगहर' (जो काशी के समीप है) वही मगहर है जो रूढ-मान्यता के लाछन मे लाछित है और जहा 'लहर तालाब' भी है, तो मुझे यह मानने मे कोई आपत्ति नही है कि कबीर यही पैदा हुए थे। इसके अतिरिक्त न तो कोई अन्य मगहर ही कबीरदास का जन्म-स्थान था और न 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' का 'बेलहरा' ही। यदि डा त्रिगुणायत का 'मगहर' काशी मे अदूर है तो जिस प्रकार मैं उसे मगहर कह सकता हूँ, उसी प्रकार वे भी उसे काशी कह सकते है। उसे काशी कहने मे आपत्ति का कोई कारण नही दिखाई देता, किन्तु कबीर की रचनाओ मे काशी के साथ-साथ मगहर की बात भी चलती है, इसलिए अवश्य ही मगहर कोई काशी से दूरस्थ बस्ती है।

इस दशा में मगहर का काशी के 'लहर तालाब' से कोई सम्बन्ध नही

वह कबीर का जन्म स्थान नहीं माना जा सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अटकलबाजियो के बल पर काशी को कबीर के जन्म-स्थान होने की मान्यता से वंचित नही किया जा सकता। नीचे की पंक्तियाँ काशी और मगहर की स्थूल भिन्नता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं —

१ पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासो बसे आई।
या
पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई।
२ जैसा मगहर तैसी कासी, हम एकै करि जानी।
३ जस कासी तस मगहर, ऊसर हिरदै राम सति होई।
४ बहुत बरस तप कीआ कासी, मरनु भइया मगहर की बासी।
५ सगल जनमु सिवपुरी गँवाइया, मरती बार मगहर उठि धाइया।
६ का कासी का मगहर, ऊसर हृदय राम बस मोरा।
७ तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।
८ कासी मे हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चितायें।

इन पंक्तियो को पढकर यह सन्देह नही रह जाना चाहिए कि मगहर और काशी दो भिन्न बस्तियाँ नही हैं। चौथी, पाचवी, सातवी और आठवी पंक्ति मे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का केवल अन्तकालीन सम्बन्ध ही मगहर से था, वस्तुत वे काशी के निवासी थे और उनका प्रारंभिक सम्बन्ध काशी से बहुत समय तक रहा था।

कबीर 'बानी' के अतिरिक्त काशी के पक्ष मे जनश्रुति और कबीर-पंथ के ग्रन्थ भी है। कोई कबीर-पंथी कबीर को 'मगहर' का नही मानता है। अनन्तदास और धर्मदास की रचनाओ मे कबीर की प्रतिष्ठा काशीवासी के रूप म ही हुई है किन्तु यह बात भी अमान्य नही है कि कबीरदास ने काफी पर्यटन किया था। उनकी 'बानी' म स्थान-स्थान के जो शब्द मिलते हैं उनसे अनेक तथ्य प्रकाश मे आते है—

---

१ बा प २१०, २ स बा र ३; ३ बा प ४०२, ४ स क. १५; ५. स क ग १५, ६ बी श १०३, ७ बा प २५० तथा स ग. मा २।

१. यह कि कबीर ने पर्यटन बहुत किया था, २ यह कि देश के अनेक भागो के लोग उनके सम्पर्क मे आते थे और ३ यह कि कबीर की भाषा ने देश-भर के शब्द पचा लिये थे या यह कि देश-भर में कबीर की जैसी कोई सामान्य भाषा भी प्रचलित थी। जो हो यह सम्भव है कि अपने पर्यटन-काल मे कबीर अन्यत्र भी रहे हो। यदि 'पहले दरसन मगहर पायो'—को ही प्रामाणिक मान लिया जाए तो यह मानना अनर्थ न होगा कि अपने ज्ञानोदय से पूर्व भी कबीर कुछ समय मगहर मे रहे थे।

इस समग्र विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर काशी या उसके समीपस्थ किसी स्थान मे उत्पन्न हुए थे। उन्होने काशी मे निवास किया और निधन काल के समीप वे मगहर चले गये।

जाति

कबीर की जाति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बड़ा मतभेद है। उनकी जाति किसी विद्वान् ने ब्राह्मण बतलाई है, किसी ने जुलाहा और किसी ने उनको 'जुगी', जोगी या योगी जाति का बतलाया है। सभी विद्वानो ने अपने अपने पक्ष में कबीर 'बानियो' से सहायता ली है। कबीर ने अपने को कोरी भी कहा है। इसमे सन्देह नही कि कबीर ने अपने लिए जुलाहा शब्द का बार-बार प्रयोग करके अपने आलोचको को मानो अपनी जाति बतला दी है, किन्तु कोरी शब्द का प्रयोग भी कबीर-बानियो मे कई जगह मिलता है जिससे समस्या पैदा हो जाती है। एक स्थान पर 'पिता हमारो बड़ गोसाई'—कहकर कबीर ने जाति विषयक समस्या को और भी जटिल कर दिया है। कबीर की बानियो मे उनकी जाति की ओर सकेत करने वाली जो अनेक पक्तिया मिलती हैं और जिन पर अनेक विद्वानो के मत आधारित है, नीचे उद्धृत की जाती है तथा उनके अतिरिक्त अन्य महात्माओ ने अपनी-अपनी बानियो मे उनकी जाति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है उसको भी सक्षिप्त मूल मे प्रस्तुत किया जाता है —

१. जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि-हरषि गुण रमैं कबीर।[1]
२. मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।
३ तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।[2]

---

[1] सत कबीर, आ ३

४. तू ब्रह्म मै कासी का जुलाहा, मोहि तोहि बराबरि कैसीकै बनहि ।
—सत कबीर, रागु ५

५ पूरब जनम हम ब्राह्मन होते, ओछे करम तपहीना ।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना ॥

६ जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरो उदासी ।

७ जोलाहे घर अपना चीना, घट ही राम पिछाना ।

ऊपर की पक्तिया ऐसी है जिनसे कबीर के जुलाहा होने का परिचय मिलता है। नीचे ऐसी पक्तिया उद्धृत की जाती है जो कबीर के कोरी होने की सूचना देती है —

१ कहत कबीर कारगह तोरी, सुतहि सुत मिलाए कोरी ।

२ परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बन्धू मोरी ।

. हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

कबीर ने जुलाहा, कोरी और 'बहुगुमाई' शब्दो के प्रयोग से जहाँ एक समस्या पैदा करदी है, वहा कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनीहार' (सत कबीर स २) कहकर व हमें एक बडे सदेह मे निकाल लेते हैं। वे हमे यह निश्चय करा देते है कि उनकी जाति उस समय उपहास्य वस्तु थी। समाज मे उसका बडा निम्न स्थान था।

कबीर बानियो के सिवा दूसरे सन्तो की बानियो मे भी कुछ ऐसी पक्तिया मिलती है जो कबीर की जाति का परिचय देती हैं। उनमे से कुछ उपयुक्त उदहरण नीचे दिये जाते है—

१ जाकै ईदि बकरीदि, कुल गऊ रे बध करहि, मानिअहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप वैसी करी, पूत ऐसी करी, तिहूँ रे लोक परिसिध कबीरा ॥
—[रैदास बानी]

२ कासी बसै जुलाहा एक, हरिभगतनि की पकरी टेक ।
—[अनन्तदास—कबीरसाहब की परिचई मे]

३ जुलाहा अभै उत्पन्यो साध कबीर ।
—[रज्जब—महामुनि सर्वंगी साध महिमा–१३]

एक-दा स्थानो पर कबीर की बानियो म ऐसी उक्तिया प्रयुक्त हुई हैं जो यह प्रकट करती है कि कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान और न जोगी
एक उ रण र—

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा को स्वामी घर-घर रह्यौ समाई ॥

इन उक्तियो के अतिरिक्त विद्वानो ने किवदन्ती से भी सहायता लेने का प्रयत्न किया है। कबीर ने अपनी उक्तियो मे अपने लिए जुलाहा और कोरी दोनो शब्दो का प्रयोग किया है, किन्तु ये दोनों शब्द व्यावसायिक समता के अतिरिक्त किसी जातीय एकता की ओर सकेत नही करते। दोनों जातियाँ भिन्न हैं। जुलाहे मुसलमान होते है और कोरी हिन्दू।

कबीर की जाति के सम्बन्ध मे उठ खडे हुए अनेक मतो मे पहला डा श्यामसुन्दरदास का मत है। कबीर ग्रन्थावली की प्रस्तावना मे वे लिखते हैं—"कबीरदास के जीवन की घटनाओ के सम्बन्ध मे कोई निश्चित बात ज्ञात नही होती क्योकि उन सबका आधार जनसाधारण और विशेषकर कबीर-पंथियो मे प्रचलित दन्त कथाएँ है। कहते है कि काशी मे एक सात्विक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी रामानन्द के बडे भक्त थे। उनकी एक विधवा कन्या थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण देवता ने जब चौंककर पुत्री का वैधव्य निवेदन किया तब स्वामीजी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नही हो सकता परन्तु इतने से सन्तोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बडा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फलस्वरूप जब इस ब्राह्मण-कन्या का पुत्र उत्पन्न हुआ तो लोक लज्जा और लोकापवाद के भय से उसने उसे लहर तालाव के किनारे डाल दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पति के कोई पुत्र न था। बालक का रूप पुत्र के लिए लालायित दम्पति के हृदयो पर चुभ गया और वे इसी बालक का भरण-पोषण कर पुत्रवान् हुए। आगे चलकर यही बालक परम भगवद्भक्त कबीर हुआ।"

इस किवदन्ती के सम्बन्ध मे अपना मत देते हुए डा श्यामसुन्दरदास आगे लिखते है— "कबीर का विधवा ब्राह्मण-कन्या का पुत्र होना असम्भव नही, किन्तु स्वामी रामानन्दजी के आशीर्वाद की बात ब्राह्मण-कन्या का कलक मिटाने के उद्देश्य से ही पीछे से जोडी गई जान पडती है, जैसे कि अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सम्बन्ध मे जोड़ी गई हैं। मुसलमान घर मे पालित होने पर भी कबीर का हिन्दू विचारो मे सराबोर होना उनके शरीर मे प्रवाहित होने वाले

डा श्यामसुन्दरदास यह तो स्पष्टत मानते हैं कि कबीर का पालन-पोषण मुसलमान (जुलाहा) घर मे हुआ था, किन्तु वे ब्राह्मण-पुत्र थे, इसकी केवल सम्भावना व्यक्त करते हैं, फिर भी वे यह मानते हैं कि कबीर जाति से हिन्दू थे। डा साहब का मत अधिकाशत किवदन्ती पर आधारित है। उन्होने 'कोरी', 'गोसाई' आदि शब्दो की जो कबीर ने अपने लिए प्रयुक्त किये हैं, बिल्कुल उपेक्षा कर दी है।

डा बडथ्वाल को डा श्यामसुन्दरदास का मत स्वीकार नही है। उन्होने प्रमाणो के अभाव में जनश्रुति को अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है, "कबीर जुलाहा वश मे उत्पन्न हुए थे। कबीर के पूर्वजो ने शायद कुछ समय पहले ही अपने उस धर्म को छोडकर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, जिसमे गोरखनाथ की बडी मान्यता थी। कबीर वश के लोग, यद्यपि बाहर से मुसलमान थे, किन्तु इनके अन्तर का परिवर्तन अभी तक नही हुआ था। इससे कबीर के उच्च हिन्दू-विचार एव योग-प्रवृत्ति का कारण भी स्पष्ट हो जाता है।"[1]

डा बडथ्वाल के मत ने डा श्यामसुन्दरदास के मत से कुछ अधिक प्रगति दिखलाई है। इस मत के अनुसार कबीर द्वारा प्रयुक्त दो शब्दो—'जुलाहा' (मुसलमान) एव 'जोगी' पर स्पष्टत एव तीसरे 'कोरी' शब्द पर सकेतत प्रकाश पडता है। उनके मत को विश्लेषण के साथ अपने शब्दो में इस प्रकार रख सकते हैं—

१. कबीर का जन्म मुसलमान जुलाहा कुल मे हुआ था।
२ मुसलमान होने से पहले उनके कुल के लोग किसी ऐसी सामान्य जाति के थे जिसमे गोरख-पन्थ की मान्यता थी।
३ इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी उनके वश वालो का मानसिक सम्बन्ध परम्परागत सस्कारो से नही छूटा था।

तीसरा मत डा हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होने कोरी, जुलाहा, और जोगी या योगी इन तीनो शब्दो को लेकर उनकी विशद व्याख्या की है जिसमे शोध और पाडित्य का प्राधान्य है। 'कोरी' शब्द को लेकर वे लिखते है—'कबीरदास ने बुनाई के रूपको और उलटबाँसियो मे कई जगह 'जुलाहा' के स्थान पर कोरी नाम लिया है। आजकल कोरियो मे से बहुतो ने कबीर-पथ

स्वीकार कर लिया है, किन्तु बहुत से हिन्दू-विचारो के कट्टर अनुयायी भी हैं। आजकल इनमे उच्च श्रेणी के हिन्दुओ की आचार-निष्ठा के अनुकरण की प्रवृत्ति जोरो पर पाई जाती है। उत्तर भारत के वयनजीवियो मे कोरी मुख्य हैं।"[1]

"जुलाहा शब्द की व्याख्या करते हुए डा साहब लिखते हैं कि वेन्स जुलाहो को कोरियो की समशील (Corresponding) जाति ही मानते हैं। कुछ एक पण्डितो ने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने वाले कोरी ही जुलाहे है। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते है वहाँ वे कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गये हैं। ऐसा जान पडता है कि यद्यपि कबीरदास के युग मे जुलाहो ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था, पर साधारण जनता मे वे तब भी कोरी नाम से परिचित थे।"[2]

दोनो जातियो मे समशीलता स्वीकार करते हुए भी डा हजारीप्रसाद यह नहीं मानते कि कोरियो का ही मुसलमानी सस्करण जुलाहा है। "अब तक इस अनुमान का पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाप-जोख। इसलिए कोरियो और जुलाहो को एक श्रेणी की दो जातियाँ मान लेने का कोई प्रमाण नही है।"[3]

'कबीर' मे एक अन्य स्थान पर 'जुलाहा' जाति की विवेचना मे डा हजारीप्रसाद जी पुन लिखते हैं— 'कबीरदास की वाणियो से जान पडता है कि मुसलमान होने के बाद न तो जुलाहा जाति अपने पूर्व सस्कारो से एकदम मुक्त हो सकी थी और न उसकी सामाजिक मर्यादा बहुत ऊँची हो सकी थी। ...... कबीरदास ने जुलाहो की जाति को कमीनी जाति कहा है [4] और यह भी बताया है कि उन दिनो भी यह जाति जनसाधारण मे उपहास और मजाक की पात्र थी। साधारणत मूर्खता सम्बन्धी कहानियो का एक बहुत बडा अश सारे भारतवर्ष मे जुलाहो से भी बना है।

---

[1] डा हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ५

[2] डा हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ५

[3] " " "

[4] सरग लोक मे क्या दुख पड़िया तुम आई कलिमाहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहु पतीजो नाही॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटबर अगर चदन घसि लीना।
१ करीगी म तौ जाति कमीना॥

एमा जान पन्ता है कि मुसलमानो के आने के पहल इस देश मे एक ऐमी धर्णी वतमान थी जो ब्राह्मणो से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहा थी। नाथपथी योगी एमे ही थ। रमाई-पडित के शून्य पुराण से जान पडता है कि एक प्रकार के तात्रिक बौद्ध उन दिनो मुसलमानो को धम-ठाकुर का अवतार समझने लग थ। उन्हे यह आशा हो चली थी कि अब पुन एक बार बौद्ध धम का उद्धार होगा। शायद उन्होने हिन्दू विरोधी सभी मतो को बौद्ध ही मान लिया था जो हो इस विषय मे कोई सन्देह नही कि उन दिनो नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगियो की एक बहुत बडी जाति थी जो न हिन्दू थी और न मुसलमान। इस प्रसग म मुझे श्री रायकृष्णदासजी से यह महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है कि बनारस के अलईपुरा क जुलाह अपने को गिरस्त (गृहस्थ) कहते है। यह शब्द बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जलाहा जाति भी रही होगी। बगाल की युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जाति का भग्नावशेष है। कई बात ऐसी ह जो यह सोचने को प्रवृत्त करती है कि कबीरदास जिस जुलाहा-वश म पालित हुए थे वह इसी प्रकार क नाथमतावलम्बी गृहस्थ योगियो का मुसलमानी रूप था।

जोगिया या योगियो के सबध म डा हजारीप्रसाद का मत है 'साधक योगी गृहस्थ जाति के योगी से भिन्न है। गृहस्थ योगी एक प्रकार से आश्रमभ्रष्ट योगी है। उनकी सतति न तो किसी आश्रम व्यवस्था के अन्तगत आती है और न वर्ण व्यवस्था के। यह जाति एक जमाने म आश्रमभ्रष्ट होने के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था के बाहर पडी थी। उत्तर भारत की गोसाइ बरागी प्रतीत साधु जोगी और फकीर जातिया तथा दक्षिण भारत की आण्डी दासरी और पानि सवन जातिया भ्रष्ट योगियो के ही अनेक सस्करण हैं। इन जातियो में से अधिकाश अब भी भेष धारण करती है भिक्षा पर निर्वाह करती है और अनेकानेक सामाजिक कृत्यो म गृहस्थ धम की विधि क बदले सन्यासियो में विहित विधि का अनुष्ठान करती है। बहुतो का मतक-सस्कार दाह द्वारा नही होता और सन्यासियो की भाति समाधि दी जाती है। डा हजारीप्रसाद का निजी अनुभव है कि बगाल मे योगियो को कहा तो समाधि दी जाती है कही कही उनका अग्नि सस्कार भी किया जाता है। कही-कही यह भी प्रथा है कि योगियो के शव का पहले अग्नि-सस्कार करते हं फिर समाधि भी देते है।

कबीरदास के विषय मे भी प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधे को हिन्दुओ ने जलाया और आधे को मुसलमानो ने गा

दिया।" डा. साहब का मत है कि "यदि यह कोरी किंवदन्ती नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति मे पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी-जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह मे थी। जोगी जाति का संबंध नाथ-पंथ से है। जान पडता है कि कबीर के वंश मे भी ये नाथ-पंथी संस्कार पूरी मात्रा मे थे।" डा हजारीप्रसाद ने अपने मत की पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं —

१ कबीरदास ने अपने को जोलाहा तो कई बार कहा है, किन्तु मुसलमान एक बार भी नही कहा है।
२ उनकी 'न हिन्दू न मुसलमान' वाली उक्ति उन्ही वर्णाश्रमभ्रष्ट जुगी जाति के व्यक्तियो की ओर संकेत करती है।
३ कबीरदास ने अपनी एक उक्ति मे स्वीकार किया है कि हिन्दू, मुसलमान, और योगी अलग अलग होते हैं।[1]
४ कबीरदास के विषय मे प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमे से आधो को हिन्दुओ ने जलाया और आधो को मुसलमानो ने गाड दिया। त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियो की भाँति उन्हे समाधि भी दी गई थी और अग्नि संस्कार भी किया गया था।[2]

डा रामकुमार वर्मा डा. हजारीप्रसाद से बहुत कुछ सहमत होते हुए लिखते हैं—"कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियो के संस्कारो से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण गोसाई कहलाते थे। इन गोसाइयो पर नाथपंथ का पर्याप्त प्रभाव था।"[3]

डा रामकुमार वर्मा के इस मत से कबीर द्वारा प्रयुक्त 'गोसाई' शब्द पर भी कुछ प्रकाश पडता है, किन्तु डा त्रिगुणायत का मत इस शब्द से अपना समझौता नही करता। डा त्रिगुणायत कबीर को जुलाहा (मुसलमान) जाति का ही मानते हैं, इसलिए कि सन्त कवियो से लेकर आजकल तक के अधिकांश विद्वान् उन्हे जुलाहा ही मानते हैं।[4] सन्त साहित्य के मर्मज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी कबीर को जुलाहा (मुसलमान) जाति का ही माना है। उनका कहना है कि कबीरदास के समकालीन समझे जाने वाले सन्त रैदास एव धन्ना

---

[1] क० ग्र, पृष्ठ २००, [2] कबीर-डा हजारीप्रसाद-पृष्ठ ५-११
[3] सन्त-कबीर-पृष्ठ ६१
[4] डा. त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ ३६

ने भी उन्हे जुलाहा माना है। इनके अतिरिक्त गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जब, तुकाराम आदि महात्माओ तथा अनेक इतिहासकारो ने भी कबीर की जाति जुलाहा मानी है।

इस प्रकार कबीर की जाति के सबध मे हमारे सामने प्रमुखतया चार मत आते हैं—१ डा श्यामसुन्दरदास का मत, २ डा बडथ्वाल का मत, ३ डा हजारीप्रसाद का मत जिससे डा रामकुमार वर्मा भी अधिकाशत सहमत प्रतीत होते हैं और ४ डा त्रिगुणायत का मत जिसको श्री परशुराम चतुर्वेदी का भी समर्थन प्राप्त है। इनमे से डा श्यामसुन्दरदास का मत कोरी किंवदन्ती पर आश्रित है। अतएव प्रमाणो के अभाव म वह स्वीकार नही किया जा सकता। दूसरा मत डा बडथ्वाल का है जिसके निष्कर्ष मे अधिक तर्कसगत प्रयास है। डा बडथ्वाल क इस मत से तो डा त्रिगुणायत, डा रामकुमार वर्मा और श्री परशुराम चतुर्वेदी भी सहमत है कि कबीर जुलाहा (मुसलमान) जाति मे उत्पन्न हुए थे किन्तु डा हजारीप्रसाद ने कबीर की जाति के सबध मे भाषाविद की भाति बडे कौशल से काम लिया है। उन्होने कोरी जुलाहा और जोगी या योगी जाति के इतिहास पर जो पाडित्यपूर्ण प्रकाश डाला है वह निस्सदेह स्तुत्य है, किन्तु उनकी इस गवेषणात्मक विवेचना से कबीर की जाति पर कोई प्रकाश नही पडता। कबीरदास की ना हिन्दू ना मुसलमान वाली उक्ति ने तो उन्हे केवल हिन्दू और मुसलमान जातियो से ही बहिष्कृत किया था किन्तु डा हजारी प्रसाद के पालित शब्द के प्रयोग न तो बिचारे कबीर को 'जोगी या योगी जाति का भी नही रहने दिया। उन्होने अपने एक भी वाक्य मे यह प्रकट नही होने दिया कि कबीर अमुक जाति म उत्पन्न हुए थे। बार बार पढने पर भी उनके यही शब्द मिल सके—

१ 'कबीरदास जिस जुलाहा वश म पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलबी गृहस्थ योगियो का मुसलमानी रूप था।'[1]

२ 'कबीरदास जिस जुलाहा जाति म पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह मे थी।'[2]

३ कबीरदास इन्ही नव धर्मान्तरित लोगो मे पालित हुए थे।'[3]

[1] डा हजारीप्रसाद—कबीर प्रस्तावना पृष्ठ ६
[2] डा हजारीप्रसाद—कबीर, प्रस्तावना, पृष्ठ ११
[3] डा हजारीप्र[illegible]—कबीर प्रस्तावना [illegible]ष्ठ ४— [illegible]

इन उक्तियों के आधार पर यही कहना पड़ता है कि डा. हजारीप्रसाद ने डा श्यामसुन्दरदास के मत को ही अर्द्धव्यक्त रूप मे स्वीकार कर लिया है। उन्होंने डा श्यामसुन्दर की 'विधवा-ब्राह्मणी-पुत्र' वाली बात को जो किंवदन्ती से सबधित है, छोड दिया है और डा बडथ्वाल के इस मत को स्वीकार किया है कि कबीर के ऊपर नाथपथ के कुलागत सस्कार थे, किन्तु इस वाक्य का दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है, अतएव इसको डा साहब के शब्दो मे इस प्रकार रखा गया है —

"कबीरदास जिस जुलाहा वश मे पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलबी गृहस्थ योगियो का मुसलमानी रूप था।"

डा हजारीप्रसाद ने अपनी सुदूर खोज के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जुलाहे लोग योगियो मे भी मिलते रहे हैं। मुसलमानो के आने के बाद धीरे-धीरे ये मुसलमान होते रहे। कबीरदास इन्ही नव-धर्मान्तरित लोगो मे पालित हुए थे।

जोगी या योगी जाति को लेकर कबीर के मर्मज्ञ डा त्रिगुणायत ने डा हजारीप्रसाद का बहुत दूर तक पीछा किया है। वे यह समझ गये हैं कि 'कबीर' के रचयिता ने कबीर को जुगी जाति से परिवर्तित मुसलमान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका यह भ्रम मिथ्या है। पीछे दिये हुए अनेक उद्धरणो से (जिनमे 'पालित' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए) यह स्पष्ट है कि कबीर का योगी जाति से परिवर्तित मुसलमान वश मे पालन-पोषण हुआ था। डा त्रिगुणायत के भ्रम को मिटाने के लिए डा हजारीप्रसाद के ये शब्द पर्याप्त होने चाहिए—'कबीरदास जिस जुलाहा वश मे पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलबी गृहस्थ योगियो का मुसलमानी रूप था।' डा हजारीप्रसाद ने जो कुछ कहा है वह जोगी-जाति-सबधी गवेषणात्मक सत्य है। उनके शब्दों का कबीर की जाति के सबध मे कोई अर्थ लगाना उचित नही है। मै समझता हूँ डा हजारीप्रसाद के मत के खण्डन मे डा त्रिगुणायत का श्रम व्यर्थ ही गया। डा साहब के तर्कों का खडन करते हुए डा त्रिगुणायत अपने तर्क इस प्रकार देते हैं—

१ ऊपर दिये हुए तर्कों मे दिया हुआ उनका पहला तर्क बहुत ही अशक्त है। उनका यह कहना कि कबीरदासजी ने अपने को जोलाहा तो कहा है, किन्तु मुसलमान कही नही कहा है। मेरी समझ में यह ठीक उसी प्रकार है

जिस प्रकार एक ब्राह्मण से यह आशा की जाय कि वह अपने को ब्राह्मण कहने के बाद हिन्दू भी कहे। कबीरदास जी अपनी जाति, धर्म आदि का लेखा तो दे नही रहे थे जो जुलाहा कहने के बाद अपने को मुसलमान अवश्य कहते। उन्होने जुलाहा शब्द का प्रयोग अपने कुल की हीनता द्योतित करने के लिए ही किया है। अन्य स्थलो पर उन्होने अपने को स्पष्ट रूप से हीन जाति का कहा है।

कबीर मेरी जाति को, सब कोई हसनेहार।
—(सन्त कबीर, स० २)

अत हम कह सकते है कि उन्होने जोलाहे शब्द का प्रयोग अधिकतर अपनी हीन जाति को द्योतित करने के लिए ही किया है। इसलिए उन्होने जहाँ जुलाहे शब्द का प्रयोग किया है वहा सापेक्षता में ब्राह्मण को भी ले आये है— 'तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा'.........' अथवा 'तू ब्रह्म मैं कासी का जुलाहा'.........'।

इन दोनो ही मे उनके कहने का अभिप्राय यही है कि तुम उच्चवर्णपूर्व ब्राह्मण हो और मैं नीच जाति का जुलाहा हू किन्तु फिर भी मुझे तुम से अधिक ज्ञान है। अत स्पष्ट है कि आचार्य जी का प्रथम तर्क सशक्त नही है।

२ उनका दूसरा तर्क है कि कबीरदास ने अपने को 'न हिन्दू न मुसलमान' कहा है। उनके मतानुसार यह उक्ति आश्रम-भ्रष्ट जुगी जाति की ओर सकेत करती है। आचार्य जी से ऐसे तर्क की आशा नही की जाती थी। वे सत साहित्य के मर्मज्ञ हैं। सत लोग कभी भी वर्णाश्रम धर्म मे विशेष विश्वास नही करते थे। यदि ऐसा न होता तो मुसलमान सन्तो के हिन्दू शिष्य न होते और हिन्दू सन्तो के मुसलमान शिष्य न होते।[१] सन्त तो वास्तव मे वही है जो समदर्शी हो। कबीर ने सतो का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"निरबैरी निहकामता साईं सेती नेह।
बिषिया सू न्यारा रहै, सतनि का अग एह॥"
—(क ग्र, पृष्ठ ५०)

इस प्रकार के लक्षणो से युक्त सत के लिए हिन्दुओ और मुसलमानो, दोनो की उपेक्षा करना स्वाभाविक ही है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि भारतीय मध्यकालीन रहस्यवादी सन्तो की प्रमुख विशेषता यही थी कि वे किसी भी धार्मिक सस्था, तथा धर्म ग्रन्थ मे विश्वास नही करते थे।[२]

---

[१] 'दीन इलाही'—राय चौधरी, प्रथम अध्याय

[२] 'मेडिवल मिस्टीसिज्म'—सेन, प्रीफेस, पृष्ठ १

ऐसी दशा मे यह कहना कि कबीरदास का हिन्दू-मुसलमान, दोनो से उदासीन होना उनके जुगी जाति का संकेतक है, अधिक तर्कसंगत नही मालूम पड़ता। फिर कबीरदास ने यह भी तो कहा है कि वे योगियो के मतानुयायी नही हैं।[1] वे तो अपने सतमत को सभी से अलग मानते हैं। फिर उन्हे इस आधार पर जुगी जाति का कैसे कहा जा सकता है ?

३ उनका तीसरा तर्क है कि कबीरदास ने स्वीकार किया है कि योगी हिन्दू और मुसलमान दोनो से भिन्न होते है, किन्तु इस उक्ति म यह भी तो स्पष्ट लिखा है कि कबीरदास योगियो मे भी तो सम्मिलित नही हैं।

४ आचार्य जी का 'समाधि' वाला तर्क भी अधिक सशक्त नहीं। एक तो जनश्रुति को हम पुष्ट प्रमाण नही मान सकते क्योकि कबीरदास से सम्बधित बहुत-सी जनश्रुतियाँ साम्प्रदायिक भावना के कारण बहुत ही अतिरंजित रूप मे प्रस्तुत की जाती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि कबीरदास की समाधि भी बनी थी और जलाये भी गये थे, तो भी यह तर्क उन्हे जुगी जाति का सिद्ध करने मे पर्याप्त नही है। बहुत से हिन्दू योगियो की समाधियां पाई जाती हैं जो जुगी जाति के न होकर केवल योगी ही होते हैं। इस बात मे कोई भी सदेह नही कर सकता कि कबीरदास योगी थे। अत आचार्य जी का यह तर्क भी मुझे अधिक सशक्त नही लगता। मेरी समझ मे कबीर की नाथपथी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए उन्हें जुगी जाति का सिद्ध करना आवश्यक भी नही क्योकि कबीर के युग मे नीच जाति के लोगो मे नाथपथ की बडी प्रतिष्ठा थी।

इस प्रकार डा निगुणायत ने डा हजारीप्रसाद के मत-सबधी अनेक तर्कों के खण्डन करने की चेष्टा की है। साथ ही उन्होने 'पिता हमारो बड़ गुसाईं' उक्ति पर भी विचार किया है। वे कहते है– कबीर की जाति से सम्बधित एक मतवाद और उठ खडा हुआ है। इसका आधार कबीर द्वारा प्रयुक्त 'गोसाई' शब्द है। ······ गोसाइयो के सबध मे एम ए शेरिंग ने लिखा है कि ये दशनामी भेद मे कही शैव और कही वैष्णव होते है।[2] इसी आधार पर

---

[1] योगी गोरख गोरख करै, हिन्दू रामनाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा को स्वामी घट घट रह्यो समाई॥
—(क ग्र , पृष्ठ २००)

[2] हिन्दू ट्राइब्ज एण्ड कास्टस एज रिप्रेजेण्टेड एट बनारस—एम ए शेरिंग (१८७१-८१), पृष्ठ २५५

डा रामकुमार वर्मा का मत है कि कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियो के सस्कार से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण गोसाई कहलाते थे। इन गोसाइयो पर नाथपथ का पर्याप्त प्रभाव था।[1] कबीर पर नाथपथ के प्रभाव का वे यही कारण मानते है। ग्रहमदशाह ने लिखा है कि कबीर को यदि विधवा ब्राह्मणी का पुत्र ही माना जाय तो गोसाई अष्टानद वाली कथा सत्य माननी चाहिए और कबीर को अष्टानद गोसाई का पुत्र मानना चाहिए।[2] किन्ही पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे हम इस मत का भी समर्थन नही कर सकते। अत हम कबीर का सबध गोसाई जाति से स्थिर नही कर सकते।"

कबीर की जाति के सबध मे डा त्रिगुणायत के मत[3] को हम सक्षेप मे इस प्रकार रख सकते हैं—

१ कबीरदास किसी भी जुगी ऐसी जाति से सबधित न थे।

२ कबीर का कोरियो से कोई विशेष सबध न था। कबीरदास की यह प्रवृत्ति थी कि वे जिस वर्ग और जाति के लोगो के सामने बात करते थे तो प्राय उसी व्यक्ति की भाषा मे विचारो को अभिव्यक्त करते थे। कबीर ने कोरी शब्द का इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर प्रयोग किया है। जुलाहे का हिन्दी रूपातर कोरी ही हो सकता है। कोरी शब्द जाति का सूचक न होकर केवल व्यवसाय का ही सूचक है। इसलिए हम कबीर को डा. बडथ्वाल के मतानुसार किसी कोरी जाति का मुसलमानी सस्करण भी नही मान सकते हैं।

३ किन्ही पुष्ट प्रमाणो के अभाव में कबीर का सबध गुसाई जाति से भी स्थिर नही किया जा सकता।

४ कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। कबीर की हिन्दू-विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए रामानन्द का शिष्यत्व पर्याप्त है। रामानन्द का शिष्य होने पर ही कबीर हिन्दू धर्म की ओर इतने अधिक उन्मुख हुए थे।

अब डा त्रिगुणायत और डा बडथ्वाल के मतो को सामने रख कर देखना है। वे दोनो इस सबध मे तो एक मत है कि कबीर जुलाहा जाति मे

---

[1] सत कबीर—पृष्ठ ६१

[2] (i) कबीर एण्ड हिज फालोअर्स—डा की, पृष्ठ २८
(ii) दी बीजक आफ कबीर—अहमदशाह १९१७, पृष्ठ ४-५

[3] कबीर की विचारधारा, डा त्रिगुणायत, पृष्ठ ४१-४३

उत्पन्न और पालित-पोषित हुए थे। मतभेद केवल इतना है कि डा बडथ्वाल यह कहते हैं कि कबीर के पूर्वजो ने शायद थोडे ही दिन पहले अपने धर्म को छोडकर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था—उस धर्म को छोडकर जिसमे गोरख-मत का बडा आदर था और डा त्रिगुणायत का मत यह है कि कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। उनमे हिन्दू विचार-धारा रामानन्द के सम्बन्ध से प्रकट हो रही थी। रामानन्द के प्रभाव से ही कबीर हिन्दू धर्म की ओर इतने अधिक उन्मुख हुए थे। जो हो यह स्पष्ट है कि उक्त दोनो विद्वान कबीर को जुलाहा जाति का मानते हैं, किन्तु मेरा मत डा बडथ्वाल के पक्ष मे है। ठीक है कि 'जुगी' जाति से कबीर का कोई सम्बन्ध नही था और न 'बहुगुमाई' शब्द ही कबीर की जाति का सूचक है। 'कोरी' शब्द के समान यह शब्द भी आध्यात्मिक सकेत के रूप मे प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है। इससे परमात्मा के स्वामित्व या नियामकत्व का सकेत ग्रहण करना अनुचित न होगा।

तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो का अवलोकन, दलित जातियो के प्रति कबीर की विशेष सहानुभूति और उनकी जाति की उपहास्यता हमे यह मानने के लिए प्रवृत्त करती है कि कबीर के परिवार की कोरी जैसी किसी दलित जाति से अवश्य ही किसी प्रकार की निकटता रही थी। हिन्दुओ मे कोरी जाति मे सबधित अनेक उपहासमयी कहानियाँ प्रचलित हैं। ऐसी ही हँसी की कहानियाँ जुलाहो के सम्बन्ध मे भी प्रसिद्ध है। इसलिए 'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनोहार'—इस उक्ति मे जिस प्रकार 'जुलाहा' जाति की ओर सकेत ग्रहण किया जाता है वैसे ही 'कोरी' जाति की ओर भी सकेत हो सकता है। ऐसा भी देखा गया है कि धर्म-परिवर्तन के अनन्तर भी लोग प्राय अपने पूर्व व्यवसाय को ही अपनाए रहते हैं। अतएव कबीर कालीन जुलाहो मे बहुत से धर्मान्तरित कोरी रहे हो तो आश्चर्य की क्या बात है? फिर यह न मानने का कोई कारण नही दीख पडता कि कबीर के पूर्वज कोरी थे जबकि कबीर ने अपने मुख से कोरी और जुलाहा दोनो जातियो से अपना सबध जोडते हुए हमे भी दोनो को सबद्ध रूप मे देखने के लिए प्रेरित किया है।

यहाँ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि 'विधवा ब्राह्मणी' वाली किंवदन्ती मे कोई तथ्य नही दीख पडता। इसको न तो कबीर की उक्तियो का ही समर्थन प्राप्त है और न अन्य सन्तो की वाणियो का ही। हो सकता है कि यह किसी ब्राह्मण की गढन्त हो जिसने कबीर जैसे नीच जाति के व्य क्ति में सी

इस पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है 'कबीर' ही मौलिक नाम है। इसके साथ 'दास' और 'जन' शब्दों का प्रयोग भावना का द्योतक है। जिस प्रकार 'जन कबीर' उसी प्रकार 'दास कबीर' के प्रयोग से अपनी वाणी में कबीर ने अपने भगवद्दासत्व की ओर ही इंगित किया है। कबीर साहब और कबीरदास नामों का प्रयोग आदर व्यक्त करने के लिए कबीर के अनुयायियों ने किया है। श्रद्धालु आलोचकों ने भी अपने ग्रन्थों में 'कबीरदास' नाम का प्रयोग किया है।

'कबीर' नाम से जिस प्रकार कबीर के व्यक्तित्व का परिचय सहसा मिल जाता है, उसी प्रकार उनकी जाति के सम्बन्ध में भी संकेत मिल जाता है। जिस प्रकार नीरू या नूरी किसी मुसलमान नाम का संकेत देता है, उसी प्रकार कबीर शब्द भी मुसलमान नाम की ओर संकेत करता है। वह बिजली खाँ, फिदाई खाँ, सिकन्दर खाँ आदि नामों की सभा में अर्थत भले ही गुरुतर हो किन्तु जातित हीनता का बोधक है।

किसी को क्या पता था कि कबीर नाम का बालक यथानाम तथा गुण होगा। मैं समझता हूँ जो काम अपने आसन से कबीर ने किया उसको अकबर अपने शासन से भी न कर सका। समाज, धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में कबीर ने जिस क्रान्ति को जन्म दिया उससे उनका नाम सार्थक[1] हो गया।

परिवार

जनश्रुति के अनुसार कबीर का एक छोटा सा परिवार था जिसमें छै प्राणी थे—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री और स्वयं कबीर। कबीर की माता का नाम नीमा और पिता का नाम नीरू या नूरी बताया जाता है। कहते हैं कि कबीर के प्रति उनके पिता का व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूर्ण था। इसको स्वीकार करते हुए कबीर लिखते हैं—

"बापि दिलासा मेरो कीन्हा।"

इसके विपरीत कबीर की माँ कबीर से खिन्न रहती थी। सम्भवत इसका कारण यह था कि कबीर की साधु-संगति उसको रुचिकर नहीं थी।

---

[1] कबीर शब्द किब्र से बना है। किब्र का अर्थ गौरव, महत्त्व या बड़प्पन है। अत क बी र

कबीर जो कुछ कमाते थे उसे साधुओं पर व्यय कर देते थे। यह आचरण नीमा के निरन्तर खेद का कारण था। इसका संकेत हमें कबीर के इस पद से मिलता है—

"कबीरौ सत नदी गयौ वहि रे।
ठाडी माइ करारै टेरै, है कोई ल्यावै गहि रे॥"
—(क ग्र पृष्ठ १३७, पद १४१)

उक्त पद से स्पष्ट है कि कबीर की माँ कबीर के सत्संग से तुष्ट नहीं थी। उनके सदाचार को वह पारिवारिक विपत्ति का कारण समझती थी। एक पद मे कबीर ने इसका संकेत इस प्रकार किया है—

"मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
हमारे कुल कउ न राम कहिओ।
जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो॥"

इसीलिए उसके मरने पर कबीर ने कहा था—

"मुई मेरी माई हउ खरा सुखाला।"

कुछ लोगो का यह कहना है कि यहाँ 'माई' शब्द माँ के लिए न होकर माया के लिए है। मैं समझता हूँ इससे दोनो ओर संकेत ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही दिखाई देती क्योंकि पारिवारिक वातावरण मे भी इस उक्ति की संगति बैठ जाती है।

कबीर की स्त्री का नाम लोई बताया जाता है। लोई को सम्बोधन करके कबीर ने अनेक पद लिखे हैं। एक पद मे वे कहते हैं—

"रे यामें क्या मेरा क्या तेरा, लाज न मरहि कहत घर मेरा।"

× × × ×

"कहत कबीर सुनहु री लोई, हम तुम विनसि रहैगा सोई॥"

इसमे लोई और कबीर का एक घर होना प्रकट किया गया है। इससे तो यही सम्भावना है कि लोई कबीर की स्त्री थी। इससे यह भी प्रकट होता है कि लोई से कबीर के विचार नहीं मिलते थे, अतएव कलहकारी मतभेद रहता था।

कुछ लोग 'लोई' के पहले 'सुनहु रे' की स्थिति (सुनहु रे लोई) से 'लोई' का अर्थ 'लोग' लगाते हैं, किन्तु जनश्रुति की प्रतिष्ठा से 'लोई' को व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप में स्वीकार करना ही उचित दीख पडता है।

लोई के विषय मे यह जनश्रुति है कि वह एक वनखण्डी वैरागी की परिपालित कन्या थी जो उस वैरागी को स्नान करते समय लोई मे लपेटी हुई, टोकनी में रखी हुई गगा मे बहती मिली थी। लोई मे लपेटी हुई मिलने के कारण उस कन्या का नाम लोई रखा गया।

वनखण्डी वैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया मे गये। वहाँ अन्य सन्तो के साथ उन्हे भी दूध पीने को दिया गया। औरो ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोडा। पूछने पर उन्होंने कहा—"गगा पार से एक साधु आ रहे है, यह दूध उन्ही के लिए रख छोडा गया है।" थोडी देर मे वहाँ सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधुओ को कबीर की सिद्धई पर बडा आश्चर्य हुआ। लोई भी विस्मय से मुग्ध हो गई और उसी दिन से वह कबीर के साथ हो ली।

कबीर पथ के लोग कबीर को अविवाहित कहते हैं किन्तु 'ग्रन्थ साहब' में दिये हुए एक दोहे से यह सिद्ध होता है कि कमाल कबीर का पुत्र था। इस प्रकार कबीर का विवाहित होना भी प्रमाणित हो जाता है। उक्त दोहा इस प्रकार है :—

"बूडा बस कबीर का, उपज्या पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छोडिके, घर ले आया माल॥"

कुछ लोग उक्त दोहे को प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु पहले तो 'ग्रन्थ साहब' मे प्रक्षेपो के लिए बहुत कम या बिल्कुल गुजाइश नही दीख पडती, इसके अतिरिक्त 'ग्रन्थ साहब' मे कमाल सम्बन्धी कई उक्तियाँ मिलती हैं जिनसे कबीर और कमाल के सम्बन्ध पर प्रकाश पडता है।

कुछ आलोचको का भी यही मत है कि लोई कबीर की स्त्री नहीं थी, शिष्या थी। वे अपने मत के पक्ष मे कबीर द्वारा की गई कामिनी निन्दा को प्रस्तुत करते हैं :—

"नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासै होइ।
भगति मुकति निज ज्ञान में, पैसि न सकई कोइ॥
एक कनक अरु कामिनी, विषफल किए उपाइ।
देखे ही थे विष चढ़ै, खाए सूं मरि जाइ॥"

प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो ही गया है कि कबीर विवाहित थे। अतएव हमारी समझ से लोई कबीर की शिष्या नहीं थी। हमें तो यही ठीक जान पड़ता है कि लोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर के विरक्त होकर नवीन पंथ चलाने पर उनकी अनुगामिनी हो गई।

डा० रामकुमार वर्मा ने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अनुमान किया है कि कबीर की दो स्त्रियाँ थीं। पहली शायद कुरूप थी और उसकी जाति-पाँति का भी कोई पता नहीं था। उसमें स्त्रियोचित सुलक्षण न थे। दूसरी स्त्री सम्भवतः सुन्दर और सुलक्षणा थी। पहली स्त्री का नाम लोई और दूसरी का धनिया था। उसे लोग 'रमजनिया' भी कहते थे। डा० रामकुमार वर्मा का यह भी अनुमान है कि सम्भवतः यह रमजनिया वेश्या रही हो। इस अनुमान के लिए कोई आधार नहीं दीख पड़ता। यह संभव हो सकता है कि कबीर की दो पत्नियाँ रही हों, किन्तु उनमें से एक वेश्या थी, यह नहीं कहा जा सकता। जो स्त्री उनकी भक्ति-भावना के अनुकूल रही होगी उन्होंने उसी को गुणवती कहा होगा। कबीर-ग्रन्थावली में एक पद ऐसा है जिससे डा० रामकुमार वर्मा के इस अनुमान की पुष्टि होती है कि कबीर की दो पत्नियाँ थीं। पद यह है —

"अब की घरी मेरो घर करसी।
साध संगति ले मोकौं तिरसी॥
पहली को धाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूं नांहि पायौ।
अब की धरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम गमायौ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मानैं।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जानैं॥
अब की धरनि धरी जा दिन थैं, पीय सूं बान बन्यूं रे।
कहै कबीर भाग बपुरी को, आइ रु राम सुन्यूं रे॥"
—(क० ग्र०, पृष्ठ १६५, पद २२६)

यद्यपि इस पद से आध्यात्मिक ध्वनि भी निकलती है, किन्तु लौकिक अर्थ भी पुष्ट हो जाता है। इस पद से स्पष्ट है कि कबीर की दो पत्नियाँ थीं।

पहली से उनकी नही पटती थी । वह उनके आध्यात्मिक प्रवाह मे बाधक सिद्ध होती थी क्योंकि वह कबीर के मर्म को नही समझती थी । दूसरी पत्नी उनके आध्यात्मिक विचारो की समर्थक एव प्रेरक थी । वह उनके साथ राम-चर्चा कहने-सुनने मे भी भाग लेती थी । कदाचित् यह दूसरी स्त्री धनिया या 'रामजनिया' थी ।

कबीर की माँ की तरह उनकी पहली स्त्री भी उनसे अप्रसन्न रहती थी ,क्योंकि वे साधु-सन्तो के सत्कार मे अधिक सलग्न रहते थे । घर मे जो कुछ अच्छा भोजन बनता उसे वे साधु-सन्तो को खिला देते थे और उनकी स्त्री को घर्वना आदि खाकर ही रह जाना पड़ता था । इसीलिए उसे कह देना पड़ा :—

"मूड पलोसि कमर बँधि पोथी ।
हम कउ चाबनु, उन कउ रोटी ॥"
—(सत कबीर, गौ ६)

अपनी दूसरी स्त्री से कबीर अधिक प्रसन्न थे, यह तथ्य कबीर की एक अन्य उक्ति से भी प्रकट होता है —

"भरी सरी मुई मेरी पहली बरी ।
जुग जुग जीवउ मेरी अब की धरी ॥"

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की पहली स्त्री जल्दी मर गई थी।

कमाल के अतिरिक्त कबीर की एक पुत्री भी थी जिसका नाम कमाली था । कबीर-पंथियो ने कबीर को अविवाहित सिद्ध करने के लिए कमाली को किसी शेख तकी की पुत्री बताया है जिसे कबीर ने उसके मरने के आठ दिन बाद पुनर्जीवन प्रदान किया । कमाली तभी से उनकी पोष्य पुत्री होगई । कमाल को भी कबीर-पंथी लोग कबीर का पोष्य पुत्र बतलाते हैं ।

जो हो इतना सत्य है कि कमाल और कमाली कबीर के परिवार के अभिन्न अग थे । कमाल बेढगा और कबीर के नाम को बिगाड़ने वाला था । कुछ लोगो का तो यह भी कहना है कि कमाल और कमाली के अतिरिक्त जमाल और जमाली भी कबीर की सतति थे । कुछ लोगो ने जमाल और जमाली के स्थान पर निहाल और निहाली नाम बतलाये हैं ।

इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर नूरी (नीरू) पिता एव नीमा माता के औरस पुत्र थे। उनकी दो पत्निया थी। पहली का नाम लोई था और दूसरी का धनिया था जिसे रामजनिया भी कहते थे। शायद यह नाम महात्मा रामानन्द के प्रभाव से रखा गया था। पहली स्त्री जल्दी मर गई थी। उससे कबीर की बनती नही थी। दूसरी स्त्री कबीर को अधिक प्रिय थी। उससे उनकी भक्ति साधना को बडी प्रेरणा मिली थी। अनेक पुत्र और पुत्रियों के सबध मे पुष्ट प्रमाण न मिलने से केवल यही माना जा सकता है कि कबीर को एक पुत्र और एक पुत्री का लाभ हुआ था। उनमें से केवल पुत्र ही बचा था। उसका नाम कमाल था जिसने गुजरात में अपना धर्म चलाया था। कबीर को पारिवारिक सुख नही मिल सका था। इसका प्रमाण उनकी ही एक साखी है—

"जदि का भाई जनमिया, कहूँ न पाया सुक्ख।
डाली-डाली मैं फिरौं, पाती-पाती दुक्ख॥"
—(क ग्र, पृष्ठ ११७)

कबीर का जन्म और पालन-पोषण जुलाहा परिवार मे हुआ था। उनके परिवार का व्यवसाय कपडा बुनना था। कोरी और जुलाहो का यह व्यवसाय बहुत पुराना है। कोरी और जुलाहे लोग कपडा बुनते ही नही, बेचते भी हैं। जिस प्रकार ये लोग घर घर से सूत खरीदते फिरते हैं उसी तरह घर-घर कपडा भी बेचते फिरते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग पैंठो और अठवारो की हाटो मे भी कपडा बेचने जाते हैं।

व्यवसाय

कबीर ने अपनी बानियो मे अपनी जाति कोरी और जुलाहा बतलाई है। इससे कम से कम उनके पारिवारिक व्यवसाय पर तो प्रकाश पडता ही है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि कोरी या जुलाहा जाति का पेशा कपडा बुनना है। कबीर भी कपडा बुन कर जीविका का उपार्जन करते थे। यद्यपि इससे उनके माता-पिता को विशेष सहायता नही मिलती थी, फिर भी घर का काम तो चलाना ही पडता था। इसी साधन से कबीर अपने सत्सग का व्यय भी चलाते थे।

कबीर की बीसियो बानियाँ ऐसी हैं जिनमें बुनने के रूपक प्रस्तुत किये गये हैं। उनमे जो विस्तार दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि कबीर को 'बुनता'

है। कबीर के करीब तेरह पद ऐसे हैं जिनसे उनके 'वयनजीवी' होने का सकेत मिलता है। एक स्थान पर कबीर ने स्वय स्वीकार किया है—

"हम घर सूत तनहिं नित ताना।"
—(सत कबीर, प्रा २६)

ऐसा भी प्रतीत होता है कि पैत्रिक व्यवसाय मे कबीर की रुचि नही थी। रुचि भी क्या करती ? यदि सत्सग से अवकाश मिलता, कपड़ा तो वे तब बुनते। शायद बाद मे उन्होने यह व्यवसाय छोड भी दिया था—

"तनना बुनना सभु तज्यो है कबीर
हरि का नाम लिखि लियो सरीर॥"

गुरु

कबीर के गुरु कौन थे ? यह प्रश्न गम्भीर और विचारणीय है। कबीर के गुरु के सम्बन्ध मे लोगो का मतभेद है। इन लोगो को हम दो भागो मे बाँट सकते हैं—एक तो वे जिन्होने कबीर के सम्बन्ध मे शोध करके अपना मत स्थिर किया है और दूसरे वे जो कबीर-पथी हैं। कबीर-पथियो के भी दो वर्ग हैं—हिन्दू कबीर पथी और मुसलमान कबीर-पथी। 'मुसलमान कबीर-पथियो का कथन है कि कबीर शेख तकी के मुरीद थे। हिन्दू कबीर-पथी कहते है कि कबीर को गुरु करने की आवश्यकता नाममात्र को ही पडी थी।'[1] कहा जाता है कि निगुरा कहकर कुछ लोग कबीर को खिजाते थे। वे कबीर की 'वाणियो' का अनादर करते थे। कबीर ने परिस्थिति का सामना करने के निमित्त एक गुरु चुनने की आवश्यकता समझी। महात्मा रामानन्द की उस समय बडी ख्याति थी। स्वय सर्वज्ञ होते हुए भी कबीरदास ने गुरु की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए किसी प्रकार रामानन्द को अपना गुरु बना लिया।

'कबीर' पर शोध करने वाले विद्वानो मे से कुछ ऐसे भी है जो रामानद को कबीर का गुरु नही मानते। उनमे से डा भण्डारकर[2] एव डा. मोहनसिंह[3] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा मोहनसिंह का तो यह भी कहना है कि कोई लौकिक व्यक्ति कबीर का गुरु नही था। इसके विपरीत डा हजारीप्रसाद, डा श्यामसुन्दरदास आदि कुछ विद्वानो की यह दृढ मान्यता है कि कबीर के गुरु रामानद थे। श्री चन्द्रबली पाडेय ने कबीर का जीवन वृत्त लिखते समय यह

[1] देखिये, कबीर का जीवन-वृत्त—चन्द्रबली पाडेय
[2] वैष्णविज्म तथा शैविज्म आदि—भडारकर प्रथम अध्याय।
[3] [illegible]

कहा है, "अनुसधान की दृष्टि से कबीर के गुरु का प्रश्न अभी अछूता है। कुछ लोग कह सकते है कि कबीर रामानद के शिष्य थे क्योकि कबीर ने स्वय इसको अपनी वाणी से स्पष्ट कर दिया है—'कासी में हम प्रगट भये हैं रामानद चेताए। समरथ का परवाना लाए हस उवारन आए।' उक्त महानुभावो से हमारा यही नम्र निवेदन है कि हम इसको कबीर की रचना मानने मे असमर्थ हैं। हमारी दृष्टि मे, इस पद्य मे इस बात पर ध्यान नही दिया गया है कि इस पद्य का प्रसग क्या है और इससे किस तथ्य का प्रतिपादन होता है। इसमे सन्देह नही कि इस पद्य में इसलाम और हिंदूमत की खिचडी पकी है, पर उसमे यह कबीर रचित नही हो सकता। यह तो किसी भक्त-शिष्य की करतूत है जो गोरख को घटाने के लिए की गई है। कबीर इस स्थल पर अपना परिचय तो दे रहे हैं परन्तु परिचय देने का जो ढग है वह कबीर का नही है। ग्रथावली मे यह पद्य नही है। यह पद्य उस समय का है जब कबीर व्यक्ति विशेष न रह कर कुछ और ही बन गये थे। 'प्रगट होने' का प्रयोग सत समाज मे उत्पन्न होने के अर्थ मे भी होता है। यह सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमात्मा तथा उसी के अश का प्रभाव है इसलाम के खुदा का नही। 'समरथ का परवाना लाना' इसलाम का पैगाम लाना है, अवतार लेना नही। यहाँ तो परमात्मा स्वय अवतार लेते हैं। परमात्मा तो केवल यमराज भेजते हैं जिसके वाहक यमदूत कहे जाते हैं, महात्मा नही। सन्तो ने भी कबीर के 'जुग-जुग' आने की बानगी ली है, उनके परवाने की नही। कबीर-पथियो मे जो परवाना चलता है वह कबीर की भक्ति का परवाना है, 'समरथ' का नही"।[1]

इस विवेचन से पाडेय जी का तात्पर्य यह नही कि रामानद कबीर के गुरु नही थे। उनका आशय तो केवल इतना है कि यह विषय विवाद-ग्रस्त है। इतिहास के आधार पर विचार करने से सबसे बडी अडचन तो सामने यह आती है कि उक्त दोनो महानुभावो का समय अनिश्चित है। फिर भी विद्वानो ने इतिहास, अनुमान और 'वाणियो' का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा तो की ही है। यद्यपि इतिहास की दृष्टि से दोनो का सबध असम्भव सिद्ध नही होता, फिर भी स्वय कबीर के वचनो से प्रमाण सचय करना अनुचित होगा। कबीर-ग्रन्थावली के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि उसमे स्वामी रामानन्द का नाम नही आया है। शुक, प्रह्लाद, ध्रुव, नारद आदि प्राचीन भक्तो को जाने दीजिये, जयदेव तथा नामदेव का नाम तक लिया गया है। कबीर का कथन

1- र का 'उर्फ'— न पाडेय

है —'जागे सुक उधव अक्रूर हणवत जाग ल लगूर। सकर जागे चरन सेव कलि जाग नामा जदेव। म समझता हू कबीर ग्रथावली मे एक भी पद्य ऐसा नहा आया है जिसम किसी भा वष्णव आचाय का नाम आया हो। कबीर काशी म रहते थे। अनक वष्णव आचाय समय समय पर वहा आन रहते थे। आचाय नहीं तो उनके शिष्य तो आत ही रहते थे। दशन के इतिहास म ऐस अनेक शास्त्रार्थों का उल्लख मिलता है जो काशी मे वष्णव सिद्धाता को लकर हुए थे। फिर भी कबीर उनके विषय म मौन है। क्यो ? वे शकर का तो नाम लेत हैं किन्तु भक्ति के उन्नायक रामानुज का ध्यान नही रखते। ऐसी दशा मे यदि कबीर ग्रथावली म रामानन्द का नाम नहा मिलता तो आश्चय की बात क्या है ? कबीर की साखियो मे वष्णव शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है, साक्त (शाक्त) का भी अभाव नहा है। यदि अभाव है तो शव का। सम्भवत शकर इसी अभाव की पूर्ति करते है। कदाचित् यह स्वीकार करने मे तो किसी को आपत्ति न होगा कि वष्णव धम से कबीर का घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योकि उन्होने अपने ही शब्दो मे स्वीकार किया है कि— मरे सगी दोइ जणा एक वष्णो एक राम। वो है दाता मुकति का वा सुमिराव नाम॥ [1] कबीर की दृष्टि म वष्णव का पद बहुत ऊचा था। व तो वष्णव की मा तक को बधाई देते हुए कहत ह— कबीर धनि ते सुदरी, जिनि जाया बसनो पूत। राम सुमिरि निरभ हुवा सब जग गया अऊत। [2] कबीर वष्णव मत क प्रशसक ही नही स्वय वष्णव थे। इसकी पुष्टि क लिए उनकी यह वाणी पर्याप्त है—

मेरी जिभ्या बिस्नु नन नाराइन हिरदै बस गोबिंदा। [3]

कबीर पर वष्णव धम का प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि वे अपने को वष्णव से अभिन्न मानने ह। व अपनी एक साखी मे कहते है —

हम भी पाहन पूजते होते रन[4] के रोझ।
सतगुरु की कृपा भई डारया सिरथ बोझ। [5]

यह तो अ यत्र कहा ही जा चुका है कि कबीर का ज म मुसलमान कुल में हुआ था। उनके कुल म किसी न राम का नाम नही जपा था। फिर उनके

[1] कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६
[2] कबीर ग्रथावली पृष्ठ ५३
[3] कबीर ग्रथावली पृष्ठ १७३ ३३०
[4] रन शब्द का प्रयाग कबीर ने वन के अथ मे किया है।
[5] कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४४

'पाहन पूजते' और 'वन के रोझ' होने का क्या अभिप्राय है। यदि और न सही, कबीर का मुसलमान-परिवार मे पालित होना ही सत्य मान लें तो भी वे संस्कार-वश 'पत्थर पूजा' और पुनर्जन्म के चक्र मे मुक्त तो थे ही। फिर उनके कथन का अभिप्राय क्या है? मैं समझता हूं कि कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव इतना घनीभूत हो गया था कि उनका विश्वास पुनर्जन्मवाद मे हो गया था। निस्सन्देह यह प्रभाव रामानन्द का था।

मेरी भी यही धारणा है कि कबीर रामानन्द के ही शिष्य थे, किन्तु, तदर्थ प्रमाण होते हुए भी, कुछ विद्वानो ने कबीर को शेख तकी का ही मुरीद माना है। उनमें श्री रामप्रसाद त्रिपाठी तथा स्वर्गीय मैलकम साहब एवं वेस्कट साहब[1] प्रमुख हैं। प्राय इन सभी विद्वानो ने अपने मत की पुष्टि के लिए गुलाम सरवर की 'खजीन अतुल असफिया' से उद्धरण दिये हैं। गुलाम सरवर भी कबीर को शेख तकी का मुरीद मानते हुए प्रौढ तर्कों से अपने मत की पुष्टि नही कर सके हैं। उनके मत को प्रामाणिक नही कहा जा सकता क्योकि उन्होने कबीर की जन्म-तिथि देकर अपनी भ्रामक अटकलबाजियो को ही प्रस्तुत किया है। ऐसे अप्रामाणिक एव अनैतिहासिक ग्रथ के आधार पर कोई मत स्थिर करना उचित प्रतीत नही होता।

शेख तकी को कबीर का पीर मानने वाले लोग अपने पक्ष मे यह प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं —

"मानिक पुरहि कबीर बसेरी, मदहति सुनी शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना, झूँसी सुनि पीरन के नामा॥"[2]

यह धारणा कि कबीर मानिकपुर के शेख तकी के ही मुरीद थे, कबीर पथी मुसलमानो की है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि कबीर का सम्बन्ध शेख अकरदी और सकरदी से भी था। यह वर्णन भी आता है कि शेख अकरदी और सकरदी कबीर को लेकर स्वामी रामानन्द की शरण में गये थे। प्रवाद तो यह भी है कि झूँसी के किसी शेख तकी से कबीर की लाग-डाट भी हो गई थी। कबीर के साथ जहाँगस्त[3] फकीर का सबध भी कहा जाता है। कबीर-ग्रथावली में तो केवल यह पद मिलता है —

[1] कबीर एण्ड दी कबीर पथ, पृष्ठ २१
[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७३
[3] कबीर एण्ड हिज फोलोवर्स, पृष्ठ १८

"हज्ज हमारी गोमती तीर, जहाँ बसहि पीतंबर पीर ।
वाहु वाहु क्या खूब गावता है, हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥"[1]

यह ध्यान रखने की बात है कि ये पंक्तियाँ 'ग्रन्थसाहब' की हैं और कबीर-ग्रन्थावली के परिशिष्ट में दी गई है। श्री चन्द्रबली पाडेय का मत है कि 'पीतांबर जी अवश्य ही एक अच्छे गायक थे तारक नहीं'। यदि पीर शब्द के आधार पर उनको सूफी कहे तो पीतांबर सज्ञा के अनुरोध से भक्त। पूरे पद पर विचार करने से पीतांबर जी भक्त ठहरते हैं, सूफी नहीं। उनका 'हरिनाम' कबीर को प्रिय लगता है। पीतांबर पीर का कोई विशेष परिचय अभी तक नहीं मिला। हो सकता है कि उनका स्थान जौनपुर रहा हो। इस समय हम इतना ही कह कर सन्तोष करते है कि वे राम के भक्त, प्रसिद्ध गायक, और पीर के रूप में ख्यात थे। यदि कबीर उनके शिष्य नहीं थे तो उन पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी। कबीर उनके सत्सग को ही तीर्थ समझते थे।

कबीर-ग्रन्थावली के परित अनुशीलन से यही पता चलता है कि कबीर किसी के मुरीद नही थे। जिस अर्थ में लोग शेख तकी को कबीर का पीर कहते हैं उस अर्थ में तो स्वामी रामानन्द भी उनके गुरु नहीं माने जा सकते। रामानन्द का दीक्षा-मन्त्र तो 'रा रामाय नम' था। उन्होंने कबीर को केवल 'राम राम कह' का मत्र दिया था। शायद कबीर 'गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै' की भाव से प्रेरित होकर किसी गुरु की खोज में थे जो उन्हें रामानन्द में मिला।

कुछ भी हो, कबीर किसी सूफी या शेख के मुरीद नहीं थे। उनके शेख का वही तात्पर्य हैं जो सूफियो के शेख का है। सूफी लोग शेख, मीर और काजी को उपहास की दृष्टि से देखते है। व उनका खूब मजाक उडाते हैं। वे चुटकियाँ ले-लेकर उन्हें 'प्रेम-पीर' की दीक्षा देना चाहते हैं। यह कहा जाता है कि रामानन्द के निधन के पश्चात् कबीर ने जिज्ञासा से प्रेरित होकर सूफियो का सत्सग भी किया। उसी समय मुसलमानो ने उन्हें अपनाने का प्रयत्न भी किया और सम्भवत वे अपने प्रयत्न में किसी सीमा तक सफल भी हुए, परन्तु अन्ततोगत्वा उधर कबीर के सिद्धांतो को ठेस पहुँची और मुड़ते हुए वे पुकार उठे—

"तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करैं ए बोधा ।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई ॥"

---

[1] कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३३०

शायद इसी खोज के बीच कबीर की शेख तकी से भेंट हुई होगी। इसमे तो सन्देह नही कि शेख तकी कोई प्रसिद्ध व्यक्ति थे, किन्तु कबीर ने जिस रूप मे शेख तकी का नाम लिया है उसमें उनकी श्रद्धा नही दीख पडती। इस विषय मे स्वर्गीय प०रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता है कि 'कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है, पर उस आदर के साथ नही जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है, जैसे 'घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख' इस वचन मे तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पडते हैं।'

इसमें तो कोई सन्देह नही कि कबीर 'सत्सगी पुरुष' थे। हिन्दू मुसलमान किसी भी सत्पुरुष से मिलते थे। उन्होंने मुसलमान फकीरों का भी सत्सग किया था, इसका उल्लेख उन्होने स्वय भी किया है। वे अनेक उन स्थानो मे, जहाँ मुसलमान फकीर रहते थे घूमे-फिरे थे। झूसी, जौनपुर और मानिकपुर उन दिनो मुसलमान फकीरो के प्रसिद्ध स्थान थे और उनकी कबीर ने यात्रा की थी। सारग्राही होने के नाते सबकी बातो का सचय करके भी कूडा-करकट लेने को तैयार नही थे। उनके सिद्धान्तो की कसौटी पर जो वचन पूरे उतरते थे, उन्ही को वे लेने के लिए तैयार थे अन्यथा वे किसी को भी ज्ञानी या बडा मानने को तैयार न थे। सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर किसी शेख या सूफी के मुरीद न थे। हाँ, वे उनके सत्सग से लाभ उठाने वाले जीव अवश्य थे।

इस विवेचन से कबीर-पंथियो के मत का फैसला हो जाता है। न तो वे 'निगुरा' थे और न शेख तकी के मुरीद ही। अनेक विद्वानो का मत है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य, दोनो आधारो पर यही मत अधिक तर्कसगत और ठीक प्रतीत होता है। यह ठीक है कि कबीर ने अपनी वाणियो मे कही भी रामानन्द के नाम का निर्देश नही किया, किन्तु, क्या यह उचित है कि इसी आधार पर उनको रामानन्द के शिष्यत्व से वचित कर दिया जाए? कुछ सामाजिक क्षेत्रो मे जिस प्रकार स्त्री अपने पति का नाम नही लेती थी उसी प्रकार शिष्य भी अपने गुरु का नाम नही लेते थे। अतएव आदर, कृतज्ञता और शिष्टाचार की रक्षा के लिए कबीर ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नही किया तो विस्मय की क्या बात है। डा० त्रिगुणायत[1] ने अपने अधिनिबध

[1] कबीर की विचार-धारा—डा० त्रिगुणायत, पृष्ठ ४६

मे जो तर्क सकलित किये हैं वे रामानन्द को कबीर का गुरु सिद्ध करने के लिए अधिक उपयुक्त है। उनस मैं भी सहमत हूँ। तर्क ये है —

१ 'कबीर और रामानन्द लगभग समकालीन थे। रामानन्द युग के महान् आचार्य थे। ऐसे महान् आचार्य को छोड कर कबीर और किसी को गुरु नहीं बना सकते थ।"

२ "रामानन्द और कबीर की विचार-धारा मे बडा साम्य है। यह साम्य सम्भवत इसलिए है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। शिष्य का गुरु की विचार-धारा से प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक है।"

३. "कबीर और रामानन्द के सम्बन्ध को ध्वनित करती हुई बहुत-सी किंवदन्तिया प्रसिद्ध हैं। किंवदन्तियाँ स्वय अतिरजनापूर्ण और कपोल-कल्पित होती हैं" फिर भी उनके पीछे कोई सत्य अवश्य निहित होता है। *अतः इस आधार पर भी कबीर और रामानन्द मे हम* गुरु और शिष्य का सम्बन्ध मान सकते है।"

४ "कबीर ने एक स्थल पर लिखा है —

"कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समदा तीर।
बिसार्या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर॥"

—(क ग्र, पृष्ठ ६८)

इस साखी से भी स्पष्टत प्रकट होता है कि कबीर के गुरु बनारस मे थे। बनारस मे उस समय रामानन्द से महान् और कोई दूसरा आचार्य न था। अत उन्हे कबीर का गुरु मान लने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

५ "अनेक निष्पक्ष प्राचीन विद्वानो ने कबीर का रामानन्द का शिष्य माना है। इन विद्वानो मे 'दबिस्ताने तवारीख' के लेखक मोहसिन फानी भक्तमाल के लेखक नाभादास जी, उसके टीकाकार प्रियादास जी, तथा 'तजकीरुल फुकरा' के लेखक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त थोडे दिन हुए श्री शकरदयाल श्रीवास्तव ने 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका मे एक लेख लिखा था। उसमे उन्होने कबीर को रामानन्द का शिष्य सिद्ध करने के लिए किसी 'प्रसग पारिजात' नामक प्राचीन ग्रन्थ को प्रमाण रूप मे उद्धृत किया था। इस ग्रन्थ के लेखक कोई अनन्तदास

साधु कहे जाते हैं। अपने इस ग्रंथ मे उन्होने लिखा है कि वे स्वामी रामानन्द की बर्षी के दिन उपस्थित थे। उन्होंने कबीर को रामानन्द का ही शिष्य माना है। इन प्राचीन सन्त विद्वानो के मतो को अग्राह्य नही कहा जा सकता। अत रामानन्द को कबीर का गुरु कहना अनुपयुक्त नही है। इसीलिए हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान डा० रामकुमार वर्मा आचार्य डा० हजारीप्रसाद जी तथा डा० श्यामसुन्दरदास और डा० बडथ्वाल आदि इसी मत के पक्ष मे हैं।

इन तर्कों के आधार पर रामानन्द ही कबीर के गुरु ठहरते है। कबीर की समस्त विचार धारा एक मौलिक आयोजना होते हुए भी रामानन्द से प्रभावित है।

यह ठीक है कि कबीर ने राम नाम की दीक्षा रामानन्द से ली थी और रामानन्द के विचारो का कबीर पर गहरा प्रभाव था किन्तु यह प्रश्न भी तो उठ खडा होता है कि कबीर का विद्यागुरु कौन था और

सतगुरु सतगुरु शब्द से उनका क्या अभिप्राय है?

जहा तक कबीर के विद्याध्ययन और पुस्तक ज्ञान का सबध है उसमें वे बिल्कुल कोरे थे। इस तथ्य को उन्होने स्वय स्वीकार किया है —

विद्या न परउ वाद नहिं जानउ
—(सत कबीर वि २)

अतएव कबीर के विद्या गुरु के सम्बन्ध मे उठे हुए प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट हो जाता है कि जब उन्होने अध्ययन ही नही किया था तो अध्यापक कहा से आया? इसका अभिप्राय यह नही है कि उन्होने किसी पाठशाला या 'मदरसा' मे जाकर अध्ययन नही किया था या पुस्तक नही पढी थी तो वे कुछ जानते भी नही थे। यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर मनस्वी थे। जो कुछ बाहर देखते थे उस पर विचार और मनन करते थे। इस प्रकार समाज और जीवन के सम्बन्ध मे कबीर का गहन अध्ययन था। उनकी अन्तर्दृष्टि बडी पैनी थी। इसीलिए वे युग द्रष्टा के सम्मान प्राप्त कर सके।

कबीर का सतगुरु शब्द उनके व्यक्तित्व की भाति ही विलक्षण है। मेरी समझ में इस शब्द का प्रयोग उन्होंने अलख राम के लिए किया है। कबीर का सतगुरु आजाद या बेसरा सूफियो के गुरु-जैसा है। उनमे प्राय लोग

एम होते है जिनको अलख या अलगैब से दिक्षा मिलती है। कबीर ने अनेक स्थलो पर अपने एसे ही गुरु का निदर्शन किया है। एक स्थान पर वे कहते है—

'कबीरा तालिब तोरा, तहा गोपत हरी गुर मोरा।"
—(क ग्र पृष्ठ ६८)

एक दूसरे स्थान पर वे इसी भाव को इन शब्दो म व्यक्त करते हैं —

'*तुम्ह सतगुर मै नौतम चेला, कहै कबीर राम रमू अकेला।"*
—(क ग्र, पृष्ठ १२६)

एक तीसरे स्थान पर कबीर का गुरु इन शब्दो म व्यक्त होता है —

'कबीर पगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा।"
—(क ग्र पृष्ठ १७६)

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि कबीर की वाणियो मे एसे अनक उद्धरण मिल सकते है जिनसे यह ध्वनित होता है कि यदि कबीर से कोई उनक गुरु के सम्बन्ध म पूछता तो व कुछ चिढ जाते थ। कदाचित् उनका यह प्रश्न किसी ऐस ही प्रश्न का उत्तर है —

'मुरसिद पीर तुम्हारै है को कहौ कहाँ थ आया ?'

इस प्रश्न म तो किसी मुसलमान प्रश्न-कर्ता को उत्तर दिया गया है अब एक पडित को दिये हुए उत्तर को देखिये —

"जाइ पूछौ गोविन्द पढिया।पडिता, तेरा कौन गुरू कौन चेला।"

कबीर की इस मनोवृत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। वे यथार्थ उत्तर देने म या तो कोई आपत्ति समझते थ या उनका कोई वास्तविक गुरु न था, किन्तु उन्होने अपने मत की आयोजना एव प्रचार किसकी प्रेरणा से किया ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कबीर जब यह कहते है कि मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि काहू कू समझाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हारयौ अब मोहि दोष न लाइ।[१] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको जिस दयाल से आज्ञा मिली है वही उनका सतगुरु है। वह प्रेरक ईश्वर है क्योकि एक अन्य साखी म कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि—

[१] कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ १९६

"हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौ सागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥"
—(क. ग्र., पृष्ठ ५६)

एक अन्य साखी मे कबीर ने राम को स्पष्टत अपना 'सतगुरु' कह कर समस्या सुलझा दी है। वे कहते है—

"राम मोहि सतगुरु मिले, अनेक कलानिधि, परम तत्त सुखदाई"
—(क ग्र पृष्ठ १५२)

गुरु-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नही कि कबीर 'निगुरा' नही थे। उनके गुरु रामानद थे। उन्ही से कबीर ने रामी नाम की दीक्षा ली थी। वे पढे-लिखे बिल्कुल न थे, अतएव उनके सबध मे किसी विद्या-गुरु की कल्पना व्यर्थ है। उन्होने राम, हरि आदि शब्दो से अपने 'सतगुरु' की ओर सकेत किया है। इन शब्दो से यह भी स्पष्ट है कि उनका सतगुरु परमात्मा से अभिन्न है।

कबीर की वाणियो मे अनेक ऐसी हैं जिनमे गुरु-महिमा का निरूपण है। वे गुरु और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। जिस व्यक्ति की अपनी निजी धारणा ऐसी रही हो उसके पथ में भी गुरु का पद अवश्य सुरक्षित रहा होगा। अवश्य ही अपनी शिष्य-परम्परा मे कबीर ने बड़ा आदर पाया होगा। भक्त-परम्परा के आधार पर बिजली खाँ, धर्मदास, वीरसिंह बघेला, सुरतगोपाल, जीवा, तत्वा, जागूदास आदि कबीर के शिष्य थे। कबीरदास की वाणी मे इन सब का उल्लेख नही है। हाँ, अनन्तदास कृत 'परचई' मे वीरसिंह बघेला के नाम का उल्लेख अवश्य मिला है। कबीर के हिन्दू-शिष्यो मे दो बहुत प्रसिद्ध हैं—धर्मदास और सुरतगोपाल।

शिष्य

धर्मदास जाति से बनिये थे। वे मूर्तिपूजक थे। कबीर और धर्मदास की भेट सबसे पहले काशी मे हुई थी। इसके बाद वे वृन्दावन मे मिले। मूर्ति-पूजा के पक्ष मे होने के कारण कबीर ने अपनी पहली भेंट मे ही धर्मदास को काशी मे खूब फटकारा। वृन्दावन मे साधु-मण्डली मे कबीर का उपदेश धर्मदास ने भी सुना। उस समय वे कबीर को पहिचान न पाये और बोले—"आपके-से उपदेश मैंने काशी में भी किसी महात्मा के मुख से सुने थे।" इस बार धर्मदास की श्रद्धा उमड पडी और मूर्ति को पानी मे डाल दिया। तीसरी बार कबीर स्वय उनके घर बांधोगढ गये और कहा—"जिस पत्थर के तुम्हारे तौलने के बाट हैं

तुम उन्ही की पूजा करते हो।" इस उक्ति का धर्मदास पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होने कबीर को अपना गुरु मान लिया। कबीर की मृत्यु के बाद धर्मदास ने कबीर-पंथ की एक शाखा छत्तीसगढ़ मे चलाई और सुरतगोपाल ने काशी वाली शाखा का काम सँभाला। धीरे-धीरे दोनो शाखाओ मे मत-भेद हो गया। किन्तु धर्मदासी आदि अनेक कबीर-पंथी शाखाओ मे कबीर का समादर पैगम्बर की भाँति होता रहा।

कबीर न तो घुमक्कड ही थे और न तीर्थाटन मे ही उनकी रुचि थी। तीर्थाटन और हज्ज को वे बिल्कुल निस्सार मानते थे। अतएव यह समझना तो भूल है कि वे तीर्थ यात्रा के सम्बन्ध से इधर-उधर घूमे होंगे, किन्तु यह बात अमान्य नही है कि उनको सत्सग मे अधिक रुचि थी और वे हिन्दू मुसलमान, किसी भी साधु के दर्शन को अपना सौभाग्य समझते थे। उनकी दृष्टि मे साधु सगति के सिवा तीर्थों का कोई महत्त्व ही नही था अथवा यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि सत-जन ही कबीर के तीर्थ थे और सत्सग ही तीर्थ-यात्रा। कबीर स्वय कहते हैं—

देशाटन

"मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
साध-सगति हरि-भगति बिन, कछू न आवै हाथ॥"

—(कबीर-वचनामृत, साखी-भाग, पृष्ठ १४३)

कबीर का मत है कि जब तक मन शुद्ध नही तीर्थों मे जाने से कोई लाभ नही हो सकता और मन के शुद्ध होने पर तीर्थों मे जाना व्यर्थ है। इसी लिए वे कहते है—

"मन मथुरा दिल द्वारिका, काया काशी जाणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा, तामे तोति पिछाँणि॥"

—(कबीर-वचनामृत, साखी, पृष्ठ १३)

ऐसी बात नही कि कबीर तीर्थों के महत्त्व का ही अवमूलन करते हैं, वे तो काबे की यात्रा को भी व्यर्थ बतलाते हैं। तब कहते है—

"सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावै जाइ।
जाकी दिल साबित नहीं, ताकउ कहाँ खुदाइ॥"

—(स० क०, स० १८५)

इसका अभिप्राय यह नही है कि यदि कबीर ने तीर्थों को कोई महत्त्व नही दिया तो देशाटन भी नही किया। यह तो अन्यत्र कहा हो जा क है ि

कबीर पढे लिखे नही थे, किन्तु उनकी वाणियो में विभिन्न धर्मो और सम्प्रदायो के अनेक वर्णन मिलते हैं। उनका ज्ञान कबीर को कहाँ से हुआ ? सतसग से ही न। स्पष्टत सत्सग के दो ही साधन थे—एक तो यह कि उनके पास हर धर्म और सम्प्रदाय के लोग आते रहते थे और दूसरा यह कि वे स्वय सन्त-समागम के हेतु देशाटन करते थे। कबीर को सतसग लाभ दोनो ही साधनो से हुआ। उनकी अनेक वाणियो मे पर्यटक की पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है। उनके कुछ शब्द तो इतने स्पष्ट है कि उनको पढने के बाद यह सन्देह नही रह जाना चाहिए कि कबीर ने देशाटन नही किया था। इनके अतिरिक्त अनेक *किवदन्तियो और विभिन्न साहित्यिक एव ऐतिहासिक विवरणो से इस बात के* निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि कबीर ने देश-देशातरो मे भ्रमण किया था। भ्रमण करने मे उनका उद्देश्य तीर्थ-यात्रा, हज या केवल पर्यटन करने का नही था। वे सत्सग के द्वारा सत्य की खोज करने के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे।

सत्य को प्राप्त करने के लिए कबीर बडे आतुर थे। इसी हेतु वे स्थान-स्थान पर घूमते फिरे। कबीर के एक पद की नीचे उद्धृत पक्तियो से उनकी यात्राओ का सकेत मिल जाता है—

"बृन्दावन ढूँढ्यो, ढूँढ्यो हो जमुना के तीर।
राम-मिलन के कारनै, जन खोजत फिरै कबीर॥"

'दबिस्ताने मजाहिब' के लेखक मुहसिन फानी के शब्दो मे भी इस सकेत की पुष्टि इस प्रकार होती है—"कहते है कि कबीर गुरु की तलाश मे मुसलमानो और हिन्दू कामिलो के पास गया। जो ढूढता था न पाया। आखिरकार एक श ॥ ने पीर रोशनदिल रामानन्द बरहमन की तरफ उसको तवज्जह दिलाई।" कहा जाता है कि कबीर कडा, मानिकपुर और झूसी भी गये थे। गोमती के तीर पर वे पीताम्बर पीर के पास भी प्राय जाया करते थे। मगहर, रतनपुर और जगन्नाथपुरी मे इनकी समाधियाँ होने से यहाँ की यात्रा भी प्रमाणित हो जाती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर की गुजरात-यात्रा का उल्लेख भी किया है। भडोंच से १३ मील दूर शुक्लतीर्थ के निकट एक द्वीप मे स्थित 'कबीर-बट' ने उनकी यात्रा वहाँ भी प्रमाणित कर दी है। 'कबीर ने अपने स्पर्श से उस वट वृक्ष को सूखे से हरा कर दिया'—इस किवदन्ती मे यदि कोई सत्य हो सकता है तो सबसे पहला यह कि कबीर वहाँ गये थे। 'हिस्ट्री आफ मरहट्ठा पीपुल' में भी यह उल्लेख आया है कि कबीर ने पढरपुर की यात्रा की थी। 'कबीर मसूर'

ग्रन्थ के अनुसार कबीर बगदाद बुखारा और समरकन्द भी गये थे। कबीर की अपनी निजी वाणी से तो यह भी प्रकट होता है कि वे मक्का-मदीना भी गये थे। उन्ही की एक पंक्ति देखिए—

"कबीर हज काबे होइ, होइ गइया केती बार कबीर।"

इसके अतिरिक्त कबीर की ओर भी कितनी ही पंक्तियाँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि उन्होंने देशाटन खूब किया था। बनिखनि फिरौ उदासी तथा "फाटै दीदै मे फिरौं, नजर न आवै काइ आदि वाक्यों से भी कबीर की भ्रमण लालसा एवं अटन उत्कंठा का परिचय मिलता है।

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि काशी और काबा से कबीर का कोई धार्मिक सम्बन्ध नहीं था। काशी और मगहर के सम्बन्ध में जो किंवदन्ती प्रचलित है उसका भी यही अर्थ है कि कबीर किसी स्थान को ऊँचा-नीचा नहीं मानते थे। स्वर्ग और नरक किसी स्थान में नहीं है, वे तो मनुष्य के मन में ही निहित हैं। वे तीर्थों का मूल्य केवल साधु संतों के सम्बन्ध से ही मानते थे। सच तो यह है कि साधु ही उनके जंगम तीर्थ थे। उन्हीं से उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो सकता था, इस विश्वास से वे साधु समागम के लिए आतुरता से देशाटन करते थे। वे जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर प्रत्येक साधु—सच्चे साधु का आदर करते थे और सच्चे साधुओं से मिलने एवं उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही वे दूर दूर घूमते फिरते थे। सम्भवतः इन यात्राओं में से उनकी प्रारंभिक यात्राएँ जिज्ञासा के परिणामस्वरूप हुई होंगी किंतु ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए ही देश विदेशों में पर्यटन किया होगा।

कहा जाता है कि कबीर इतने साधु प्रिय हो गये थे कि उनके यहाँ साधु सन्तों की भीड़ लगी रहती थी। वे घर की परिस्थितियों में रहने वाली इस भीड़ से ऊब कर घर-बार छोड़कर जंगल में जा छिपे। और रामजी ने बड़े उत्सव के साथ उनका भण्डारा समाप्त किया।[1] इस

वैराग्य

कथा का उल्लेख अन्य सन्तों ने भी किया है। घर तजि बन बाहर कियौ बास घर बन देखौ दोऊ निरास जहां जाउँ तहाँ सोग संताप जुरा मरण को अधिक वियाप। कहै कबीर चरन तोहि बन्दा,

[1] भक्तमाल, शिवदयालकृत पृष्ठ २२

घर मे घर दे परमानन्दा",[1] यह कहकर कबीर ने अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वन-वन फिरने का प्रसग अन्यत्र भी आया है—"जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि-बनि फिरो उदासी।" इससे यह तो सिद्ध होता है कि कबीर कुछ काल के लिए वैरागी अवश्य बन गये थे। यदि उक्त प्रवाद ठीक है तो इसका मूल कारण उनकी अपनी परिस्थितियाँ थी, किन्तु यह भी प्रकट होता है कि कबीर की वैराग्य वृत्ति अधिक दिन तक न ठहर सकी। वे शायद वन मे भी दुख से मुक्त न हो सके। उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ कि दुख साथ-साथ लगा फिरता था, अतएव उनका यह निश्चय बन गया कि दुख का सम्बन्ध घर या वन से नही है। उससे मुक्त होने का मार्ग तो कुछ और ही है। सम्यक् आत्म बोध से ही इसका अन्त हो सकता है। वे उद्बोधन को अपना अभीष्ट मानकर बोल उठे—"कहै कबीर जाग्या ही चहिए, क्या गृह क्या वैराग रे।"[2] इस प्रकार कबीर ने उस वैराग्य को अपनाया जो वास्तविक शान्ति का मूल निश्चित किया गया है। उनका वैराग्य 'माया मे उदास' का पोषक और 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' को चरितार्थ करने वाला था। कबीर ने वैराग्य के रूढ अर्थ का खण्डन करते हुए कहा—"करि वैराग फिरौ तन नगरी मन की किंगुरी बजाई।"[3] इससे स्पष्ट है कि कबीर का वैराग्य 'मन' का विराग था। उसका सम्बन्ध परिवार या निवास के परित्याग से बिल्कुल नही था।

कबीर बडे मेधावी व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभा बडी प्रखर थी। इसी कारण उनका ज्ञानार्जन उनकी जिज्ञासा की तृप्ति न कर सका। प्रतिभा से प्रज्ज्वलित जिज्ञासा ने एकबारगी उनको घर-बार की सुधि से विमुक्त करके इधर-उधर भटकने के लिए विवश कर दिया। उन्होने बचपन में तो कुछ पढा लिखा नही था और जाति के भी जुलाहे थे। 'न तो वे वेद ही पढ सकते थे और न कुरान ही। वेद के वे अधिकारी न थे और कुरान रटने का उन्हे अवकाश नही मिलता था। जो कुछ उन्होंने सीखा-समझा वह अपर्याप्त था',[4] अतएव वे सतसग से सशय का नाश करना चाहते थे, परन्तु उनके पास इतना समय कहाँ था और

ज्ञानार्जन

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११३

[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०६

[3] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१७

[4] कबीर का जीवन वृत्त—चन्द्रावली पाडेय

उनकी सुनता　　था[1] व घर स बाहर निकल इधर उधर भ्रमण करते रहे।[1] उन्होने इतना सत्सग किया था कि साधारणत लोग कर नही पाते। सन्त-समागम-काल म उन्हाने इतना सुना था कि उनका यह कहना अनुचित नही प्रतीत होता—

> 'बेद पुरान सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरना।
> कहु कबीर यो रामहि जपो मेटि जनम मरना॥"
> —(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१८)

इससे यही ध्वनित होता है कि कबीर को 'बहुश्रुतता' का बल प्राप्त था। यह नही कि उन्होने वास्तव में सब कुछ छान डाला था। कुछ लोगो की ऐसी धारणा है कि कबीर को सब ग्रन्थो का ज्ञान स्वत ही हो गया था, वे 'ऋतभर' थ। इस धारणा क पीछे पथवालो की श्रद्धा का चाहे जितना ही बल रहा हो किन्तु कम स कम यह तो सत्य है कि वे बहुश्रुत थे। उनके भ्रमण का मुख्य उद्देश्य ज्ञानार्जन था जिसका आधार गुरु आदि सन्त थे। कबीर ने अपरा विद्या (व्यावहारिक ज्ञान) को कभी महत्त्व नही दिया था। उनका लक्ष्य तो परा स परिचय प्राप्त करना था। उनका मत था कि वेद, कुरान आदि धार्मिक ग्रथ व्यावहारिकता क प्रचारकमात्र है। वे लोकाचार की शिक्षा देते है—

> "तातै कहिये लोकाचार, बेद कतेब कथं ब्योहार।"
> —(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७)

इससे स्पष्ट है कि उन्हाने धार्मिक क्रिया-कलापा को वेद या कुरान का प्रतिपाद्य विषय समझ लिया था। उनकी दृष्टि म पुस्तकाध्ययन व्यर्थ था। वे तो अनुभव ही को सब कुछ समझते थ। इसीलिए वे आदेश दते हैं—

> "कबीर पढिबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
> बावन आखिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ॥"
> —(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

क्योकि उनकी ऐसी धारणा है—

> 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पडित भया न कोइ।
> एकै आखिर पीव का, पढै सु पडित होइ॥"
> —(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

---

[1] कहते है कि व इसी धुन म बलख-बुखारा तक भी गये थे।

कबीर के ज्ञान का सम्बन्ध पोथियो से नही था, इसलिए वे पुस्तको व घोटने के पक्ष मे नही थे। उन्होने स्वय पुस्तको से ज्ञानार्जन नही किया घ ग्रौर न वे उनको इसका उचित साघन ही समभते थे। उन्होने जो कुछ प्राप्त किया था वह प्राय अनुभव प्रदत्त था। यही उनका 'सहज ज्ञान' था। इसी आधार पर वे कहते हैं—

"का पढिए का गुनिएँ, का वेद पुराना सुनिएँ।
पढें गुनें मति होई, मैं सहजें पाया सोई॥"
—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७)

जो ज्ञान कबीर के अनुभव से दूरस्थ है उसको वे लोकाचार-मात्र मानते हैं। उनके प्रति उनकी श्रद्धा तनिक भी नही है। इस ज्ञान को लेकर वे किसी वाद-विवाद या वितडावाद मे नही पडना चाहते और वे साफ साफ कह देते हैं—

"विद्या न पढूँ, बाद नहिं जानूँ।
हरि गुन कथत सुनत बौरानूँ॥"
—(कबीर-ग्रन्थवली, पृष्ठ १३५)

किंवदन्तियाँ

प्राय देखा जाता है कि महापुरुषो के अनुगामी उनके सम्बन्ध मे अनेक किंवदन्तियो का प्रचलन कर देते है। निस्सन्देह उनका उद्देश्य महापुरुष की महिमा बढाना होता है। वे किसी घटना को अतिशयोक्ति एव अतिरजना के साथ व्यक्त करने मे अपना गौरव समभते हैं। कालान्तर मे वे अतिशयोक्तियाँ ही रुढ हो जाती हैं और उनको हम किंवदन्तियो अथवा दन्तकथाओ के रूप में कहते-सुनते हैं। कबीर भी एक महापुरुष थे। उनके मत को लेकर अनेक सम्प्रदायो के रूप मे सत-मत का जो विकास हुआ उससे स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व एक महापुरुष का व्यक्तित्व था और उनकी शिष्य-परम्परा मे उनको विस्मयजनक सम्मान मिला। उनकी महिमा के प्रसार के लिए शिष्य-वर्ग ने जो किंवदन्तियाँ प्रचलित कर दी उनमे परोक्षत किसी तथ्य की गवेषणा अवश्य की जा सकती है। इनको स्थूल रूप से छै भागो मे बाँट सकते हैं—*जन्म से सम्बन्धित,* पत्नी से सम्बन्धित, पुत्र-पुत्री से सम्बन्धित, गुरु से सम्बन्धित, कबीर के व्यक्तिगत चमत्कारो से सम्बन्धित और मृत्यु से सम्बन्धित।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित किंवदन्तियां में तीन बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। उनमें से एक है कि काशी में एक सात्विक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी रामानन्द के परम भक्त थे। उनकी एक विधवा पुत्री थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण ने चौंककर जब पुत्री का वैधव्य प्रकाशित किया तो स्वामीजी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता, परन्तु इतने से सन्तोष करो कि इसमे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फलस्वरूप जब उस युवती ने पुत्र को जन्म दिया तो वह लोक-लज्जा और लोकापवाद के भय से उसे लहर तालाब के किनारे डाल आई। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पत्ति के कोई पुत्र न था। बालक के रूप ने इस दम्पत्ति के हृदय को लुभा लिया। वे उसे उठा ले गये और इसी बालक का भरण-पोषण कर वे पुत्रवान हुए। इसी का नाम कबीर रखा गया। इस किंवदन्ती में रामानन्द के आशीर्वाद वाली बात के कोई सिर-पैर नहीं दीखते।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित दूसरी किंवदन्ती यह है कि कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी की हथेली से हुआ था इसीलिए वे करवीर या कबीर कहलाए। यह कथा कबीर-पंथियों की जोड़ी हुई ज्ञात होती है। अप्राप्य प्रमाणों के आधार पर इसे सत्य रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

तीसरी किंवदन्ती यह है कि 'जेठ की पूर्णिमा थी। आकाश नवमेघों से आच्छादित था। रह-रह कर चमचमाती हुई चपला अपना प्रभाव दिखा रही थी। समस्त प्रकृति किसी दिव्य प्रकाश के अवतीर्णार्थ खिलखिलाकर हँस रही थी। ऐसे ही समय काशी के लहर तालाब में खिले हुए एक कमल पर आकाश से एक महापुरुष उतरा। इसी ने कुछ घड़ियों उपरान्त शिशु के रूप में नीमा के अंक को सुशोभित किया। इसके पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं है मनगढ़न्तमात्र है। कबीर के लौकिक होने की बात कबीर के उपासकों को प्रिय न लगी। उन्होंने अपने आदिपुरुष को जीवन मरण के कष्टों से मुक्त करने के लिए उनके जन्म को अलौकिक बना दिया। उनको याद था कि ब्रह्मा भी कमल से उत्पन्न हुए थे, अतएव कबीर के जन्म को भी कमल से जोड़ने में उन्हें किसी कठिनता का सामना न करना पड़ा।'

पत्नी से सबंधित किंवदन्तियो मे अधिक प्रचलित 'लोई' वाली है। कहते हैं कि लोई एक वनखडी वैरागी की परिपालिता कन्या थी। यह लोई उस वैरागी को स्नान करते समय लोई मे लपेटी और टोकरी मे रखी हुई तथा गगाजी मे बहती हुई मिली थी। लोई मे लपेटी हुई मिलने के कारण ही उसका नाम लोई पडा था। वनखण्डी वैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया मे गये। वहाँ अन्य सन्तो के साथ उन्हे भी दूध पीने को दे दिया गया। औरो ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोडा। पूछने पर उन्होने कहा कि 'गगा पार से एक साधु आ रहे हैं, उन्ही के लिए रख छोडा है।' थोडी देर मे सचमुच एक साधु आ पहुँचे जिससे अन्य साधु कबीर की 'सिद्धई' पर आश्चर्य करने लगे। उसी दिन से लोई उनके साथ हो ली।

उनके पुत्र और पुत्री—कमाल और कमाली—से सबधित एक किंवदन्ती है। कुछ लोगो का मत है कि कमाल और कमाली कबीर के औरस पुत्र-पुत्री थे। कबीर-पथियो का कहना है कि वे दोनो कबीर की सन्तान नही थे, वे किसी अन्य गृहस्थ के पुत्र-पुत्री थे। सयोगवश दोनो की मृत्यु हो गई और वे एक स्थान पर डाल दिये गये। कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन दोनो को पुनर्जीवित कर दिया और तभी से वे उनकी सन्तान कहलाने लगे। इस सम्बन्ध मे भी कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही है।

कबीर के सम्बन्ध मे एक किंवदन्ती रामानन्द विषयक है। कहते हैं कि 'रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया क्योंकि उनका पोषण एक जुलाहा परिवार मे हुआ था, किन्तु कबीर मे सच्ची लगन थी। उन्होने एक युक्ति सोची। एक दिन ब्रह्म मुहूर्त मे ही वे पच-गगा घाट की उन सीढियो पर जाकर लेट गये जिन पर से रामानन्द जी गगा-स्नान करने जाया करते थे। नित्य की भाति स्वामी जी सीढियो पर से उतर रहे थे कि कबीर के सिर पर उनके पैर की ठोकर लगी। स्वामी जी ने राम-राम कह कर अपना पैर हटा लिया और चले गये। कबीर ने उसी 'राम-राम' को गुरु मान लिया और स्वामी जी को अपना गुरु घोषित कर दिया। स्वामी जी ने जब कबीर से पूछा तो उन्होने घाटवाली घटना निश्छल होकर सुना दी। रामानन्द जी ने गद्गद होकर कबीर को कठ से लगा लिया।'

इसमे तो सन्देह की कोई बात ही नही कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, और हो सकता है कि इस किंवदन्ती मे भी कोई सत्य हो। कबीर-पथी तो इसे सत्य मानते ही है।

कबीर की उदारता से सबंधित भी अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं कि 'एक बार वे एक थान बुनकर उसे बाजार मे बचने गये। कुछ ही दूर जाने पर एक आदमी ने गिडगिडाकर उनसे कुछ माँगा। उन्होंने तुरन्त आधा थान फाड़कर उसको दे दिया किन्तु उसके यह कहने पर कि यह तो कम है', कबीर ने बचा हुआ आधा थान भी उसे दे दिया।'

कबीर की सत्यनिष्ठा के सम्बन्ध में भी कुछ किंवदन्तियाँ चली आ रही है। एक बार की बात है कि कबीर के यहा बहुत से साधु आ गये। उनके स्वागत के लिए घर पर कुछ भी न था। वे बडे व्यग्र थे। वे उनके भोजनादि का प्रबन्ध कहा से करें, यह उनके सामने एक समस्या थी। लोई ने उन्हे दुखी देखकर साहूकार के पास जाने की आज्ञा मागते हुए कहा कि साहूकार मुझ पर आसक्त होने के कारण मेरी बात नहीं टाल सकता। मैं शीघ्र ही उससे रुपये ला सकती हूं। कबीर से आज्ञा मिलने पर लोई रुपये लेने चली गई। साहूकार के बेटे से, शाम को आने का वचन देकर वह रुपये लेकर लौट आई। यहा उसने कबीर को सारा समाचार कह दिया। शाम होते ही आकाश गरजती हुई काली घटाओ से घिर गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा, किन्तु कबीर ने अपने वचन न जाने देने के निमित्त कम्बल उठाकर लोई को उसी समय साहूकार के घर पहुँचा दिया। साहूकार ने जब लोई को भीगा न देखा तो पूछा—'पानी से बचकर कैसे आई ?' लोई ने सब बात बतादी जिसे सुनते ही साहूकार का मद गलित हो गया। वह कबीर के पैरो पर गिर कर गिडगिडाने लगा।'

कबीर और सिकन्दर लोदी से सबंधित भी एक किंवदन्ती है। कहा जाता है कि काजी ने कबीर को काफिर घोषित कर दिया और मृत्यु दण्ड की आज्ञा दे दी। बेडियो से जकडे हुए कबीर नदी मे फेंक दिये गये, किन्तु जिन कबीर को मोह-माया की शृ खला न बाध सकती थी जिनकी पाप की बेडियाँ कट चुकी थी उन्हे ये जजीर बाध न रख सकी और वे तैरते हुए नदी-तट पर आ खडे हुए। फिर काजी ने उन्हे दहकते हुए अग्नि कुण्ड मे डलवाया, किन्तु उनके प्रभाव से आग बुझ गई और कबीर की दिव्य देह पर आच तक न आई। इसके बाद उनको मस्त हाथी के सामने छोडा गया, किन्तु पास पहुँचकर हाथी उन्हे नमस्कार करके चिघाडता हुआ भाग खडा हुआ।'

कबीर की मृत्यु के अवसर पर शव को जलाने और दफनाने के प्रश्न को लेकर हिन्दू-मुसलमानो मे विग्रह खडा हो गया। एक पक्ष के नेता रीवा के

वीरसिंह देव बघेला और दूसरे के नवाब बिजली खाँ थे। इसी समय आकाश-वाणी हुई बताई जाती है। जब कबीर के शव पर से चादर उठाई गई तो शव के स्थान पर कुछ फूल पडे मिले जिनको हिन्दू-मुसलमान दोनो ने आधा-आधा बाँट लिया। अपने हिस्से के फूलो को हिंदुओ ने जलाया और उनकी राख को काशी ले जाकर समाधिस्थ किया। वह स्थान अब तक कबीर-चौरा के नाम से प्रसिद्ध है। अपने हिस्से के फूलो के ऊपर मुसलमानो ने मगहर ही मे कब्र बनाई।

इन किंवदन्तियो मे से कुछ तो सत्यता को लिए हुए है, किन्तु कुछ भावना और कल्पना के आधार पर निर्मित्त है। किंवदन्तियों का कोई ऐतिहासिक मूल्य चाहे न भी हो किन्तु भावना के इन रगो में कबीर के चरित्र के कुछ पहलू अवश्य सुरक्षित है। भावना के दूसरे पक्ष मे कबीर के अनुयायियो के गुरु विषयक आदर्श का अवलोकन भी किया जा सकता हैं।

जो काम आज फोटोग्राफी से लिया जाता है, प्राचीन काल मे वही चित्रकला और मूर्तिकला से लिया जाता था। भारतीय कलाओ मे इन दोनो का प्रमुख स्थान था। चित्र और मूर्ति द्वारा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का न केवल कायिक रूप ही हमारे सामने आ जाता है वरन् कलाकार के कौशल से उसकी मुद्राएँ तक हमारे सामने आ जाती हैं। बुद्ध और महावीर की मूर्तियाँ उनकी शान्तिमयी मुद्रा को हमारे लोचनो मे बसा देती है। भारत मे ऐसी मूर्तियो की सुरक्षा धर्म ने की है। मूर्तियो के जो अवशेष आज तक मिल रहे हैं उनका एकमात्र कारण मदिर या विहार रहे हैं। कबीर के सम्बन्ध मे ऐसी कोई मूर्तियाँ नही मिलती हैं। कबीर मूर्ति पूजा के विरोधी थे। उनके धर्म में मूर्ति को कोई स्थान नही दिया गया है। इसीलिए कबीर पथी मठो में कबीर की मूर्ति दिखाई नही देती है।

चित्र

ऐतिहासिक व्यक्तियो के रूप को सुरक्षित रखने के लिए दूसरा साधन चित्र थे जो प्राय दीवारो या शिलाओ पर चित्रित किये जाते थे। चित्रकला का नूतन विकास शायद मध्यकाल में हुआ है। कबीर का कोई प्राचीन चित्र तो मिलता नही है। उनकें जो चित्र मिले हैं वे उत्तरमध्यकालीन प्रतीत होते हैं। कबीर ग्रथावली मे कबीर के दो चित्र मिलते है—एक युवावस्था का और दूसरा वृद्धावस्था का। पहला चित्र कलकत्ता म्यूज़ियम से प्राप्त हुआ है और दूसरा कबीरपथी स्वामी युगलानन्द जी से मिला है। डा श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'दोनो चित्र एक ही व्यक्ति के नही मालूम पडते। दोनो की आकृतियो में बड़ा अन्तर है। यदि दोनो नही तो इनमे से कोई एक अवश्य

अप्रामाणिक होगा। दोनों भी अप्रामाणिक हो सकते हैं, किन्तु संत युगलानन्द जी वृद्धावस्था वाले चित्र के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रामाणिकता का दावा करते हैं, जो ४६ वर्ष से अधिक अवस्था वाले व्यक्ति का ही हो सकता है।"[1] प्रसगवश इस चित्र के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह अवश्य ही अन्य चित्रों से अधिक प्रामाणिक है। कबीर के दो चित्र जो कबीर-ग्रंथावली और 'की' महोदय की पुस्तक 'कबीर एण्ड हिज फालोवर्स' में दिये गये हैं, परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं। ग्रथावली के चित्र का समय अज्ञात है, किंतु 'की' के चित्र का समय १८वीं शताब्दी है। इसमें सन्देह नहीं कि ये चित्र काल्पनिक है। कबीर के गले एवं हाथ में कण्ठी और माला के अतिरिक्त कबीर की 'भीनी-भीनी' चदरिया भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चित्र का आधार प्रचलित प्रभाव है, इतिहास या सत्य नहीं।[2]

स्वामी युगलानन्द जी का दिया हुआ चित्र बड़ा शानदार है जिसमे किसी सूफी की वेश-भूषा प्रदर्शित की गई है। इसमें हिन्दू-भक्त प्रकट नहीं हुआ। इसी कारण इस चित्र में कुछ तथ्य निहित प्रतीत होता है, कोरी कल्पना की सजावट दिखाई नहीं पड़ती। युगलानन्द जी ने इस चित्र को कबीर के सम्बन्ध से सुरक्षित रखा है। इसमें किसी हिन्दू भक्त की भावना की उपस्थिता दिखाई नहीं पड़ती।, प्राय. देखा जाता है कि कबीरपंथी महंत लोग अब भी विशेष अवसर पर वैसी ही टोपी लगाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि कबीर 'सूफियाना' वेश-भूषा को पसद करते थे और विशेष अवसरों पर वैष्णव होने पर भी इसी में दिखाई देते थे। श्री चन्द्रबली पाडेय का कथन है कि 'यह पोशाक उनकी रक्षा में कवच का काम करती थी, नहीं तो कट्टर काजी उनको जीवित नहीं छोड़ते और सिकदर के कोप ने उनको कभी का चर्महीन कर दिया होता।

जो हो, किन्ही प्रौढ़ प्रमाणों के अभाव में यह कहना अनुचित नहीं कि कबीर ने किसी विशेष वेश-भूषा को नहीं अपना रखा था। जिस प्रकार वे काशी और मगहर को एक-सा समझते थे, उसी प्रकार वे वेश-भूषा को भी महत्व नहीं देते थे। अतएव उक्त चित्रों के आधार पर, यदि वे प्रामाणिक हों तो भी, कबीर के रूप और वेश-भूषा का निर्णय करना कठिन है। जो चित्र हमारे सामने आते हैं वे कबीर-पंथियों की भावना के प्रसून हैं। इनका महत्त्व केवल उनकी श्रद्धा तक ही सीमित लगता है।

---

[1] कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २१

[2] कबीर का जीवन-वृत्त—श्री चन्द्रबली पाडेय

कबीर की उक्तियो से यह प्रकट होता है कि उन्होने आत्मसाक्षात्कार कर लिया था। इस सिद्धि का आधार उनका आस्तिक्य-भाव था। उनका विश्वास था कि परमात्मा जीवमात्र के अन्तर मे निवास करता है। उसको केवल वे ही देख सकते हैं जिनका अन्तर निर्मल है, मन पावन है—

आत्म-साक्षात्कार

"जो दर्शन देखा चहिए, तो दर्पण माजत रहिए।"

यह उक्ति उपदेशमात्र नही है, इसमे अनुभव का सार है। आत्मा का साक्षात्कार होने पर ही वे यह कह सके हैं—

"प्रगटो जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जम दुख द्वारा।
प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन, मैं पायो करत विचारा॥"[1]

यह सब कुछ कहने पर भी प्रमाण की आवश्यक्ता होती है कि कबीर को अनुभव हो गया था। जिस समय मन 'उनमन' होकर शून्य मे लीन हो गया द्विविधा और दुर्मति का बहिष्कार हो गया और 'राम-नाम' मे 'लौ' लग गई, तब कबीर को आत्मा का साक्षात्कार हुआ। कबीर का अनुभव उन्ही के शब्दो से प्रमाणित होता है :—

"उनमन मनुआ सुन्नि समाना, दुविधा दुर्मति भागी।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, राम-नाम लिव लागी॥"[2]

यही 'आत्म परिचय' की दशा है। उस 'परिचित' का परिचय देना दुष्कर है क्योकि वह वाणी से परे है। इसी दशा मे कबीर के मुख से निकल पडता है —

"कह्यौ न जाइ निमरै अरु दूरी,
सकल प्रतीत रह्या घट पूरी।
जहां देखौं तहाँ राम समाना,
तुम्ह बिन ठौर और नहीं आन॥"

कबीर मुग्ध एव विस्मित होकर मूक हो जाते है। उनके सामने रहस्य तो स्पष्ट हो जाता है, किन्तु वह कहने मे नहीं आता। वाणी उनकी सहायता नही देती। बस इतना भर कह सकते हैं :—

[1] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६

[2] कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ २११

'नियर थे दूरि दूरि थे नियरा,
राम चरित न जानियें जियरा ॥"

आत्मसाक्षात्कार की दशा में कबीर उन्मत्त हो जाते हैं। जो मन इधर-उधर लिए फिरता है वह मर जाता है। सर्वत्र आत्मतत्त्व ही आत्मतत्त्व का प्रसार लगता है। इस दशा में कबीर कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं जो तत्त्वत सत्य हैं किन्तु कुछ लोगों को गर्वोक्तितया दीख पडती है। देखिये —

"कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर ॥"

यह ठीक है कि कबीर ऐसी उक्तियों में अपने को सिद्ध-सा व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें गर्वोक्ति की बात भी क्या है ? वे सिद्ध तो थे ही और यदि उन्होंने 'सिद्धता' की बात कह दी तो मिथ्या नहीं है सत्याभिव्यक्तिमात्र है।

कबीर के उपदेश अनुभूति में पगे होते थे। अपने अनुभव को दूसरों तक

उपदेश पहुँचाना कबीर ने अपना कर्तव्य समझ रखा था। इसीलिए उन्होंने कहा भी है —

"हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौ सागर मैं जीव हैं, ज कोइ पकडै तीर ॥"[1]

इतना ही नहीं उन्हें दयालु की आज्ञा हुई थी कि वे लोक को उपदेश दें। अतएव उपदेश देते हुए वे परमात्मा की आज्ञा का पालन करते थे। अन्त में जब उन्होंने देखा कि लोग उनके उपदेशों से भी अपने मार्ग को नहीं बदलते तो उन्होंने स्पष्टत कह दिया —

"मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यो, अब मोहि दोस न लाइ ॥"[2]

वे अपने उपदेशों को बिखरना या किसी पर लादना नहीं चाहते थे किन्तु वे इतना चाहते थे कि उनके उपदेश पात्र तक अवश्य पहुँच जाएँ और वे यह जानते थे कि जो पात्र होगा उसे एक तृषा, एक पिपासा अवश्य होगी और वह अवश्य ही जल की खोज में निकलेगा। इसीलिए वे सच्चे उपदेशकों को ना देते हैं —

---

[1] कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ ५६

[2] कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ६६

"नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर-घर वारि ।
जो त्रिषावत होइगा, सो पीवेगा झक मारि ।।"[1]

कर्तव्य और पात्रता के तटो के बीच मे कबीर के निर्लिप्त आचरण की धारा प्रवाहित थी । व उदासीन रहकर भी उपदेश देने म मग्न रहते थे । उनके उपदेशो का कुछ प्रभाव पडता था । जहाँ कबीर का पदार्पण होता था वही मानो धैर्य आ पहुँचता था —

"दाध बलीना सब दुखी, सुखी न देखौं कोइ ।
जहाँ कबीरा पग धरैं, तहाँ टुक धीरज होइ ।।"[2]

इसी धैर्य को कबीर अपने उपदेश की उपादेयता समझते थे, यही उसकी सार्थकता थी । "कबीर प्रेम-रस का पौसरा चला रहे थे । पीनेवालो की कमी थी । इसी चिन्ता म वे घुने जाते थे । उनकी समझ मे नही आता था कि वे किस प्रकार जनता को उसका आस्वादन कराएँ ।"[3]

"दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊँ ।
बिधना वचन पिछाणत नाहीं, कहु क्या काढि दिखाऊँ ।।"[4]

इसमे सन्देह नही कि कबीर क उपदेश बडे मूल्यवान थे । वे लोक को बन्धन से मुक्त कराने के लिए उत्सुक थे । भव सागर को पार करने के लिए राम नाम' से अच्छी और कोई नौका नही है । इसीलिए वे डूबते हुए आर्त लोकजनो से कहते हैं —

"भौ बूडत कछु उपाय करीजै, ज्यूं तिरि लघै तीरा ।
राम-नाम लिखि भेरा बाधौ, कहै उपदेश कबीरा ।।"[5]

लोक के आर्तनाद मे कबीर को एक परिचित करुण स्वर सुनाई पडता था । वे भी भव-पीडा से पीडित हो चुके थ । उन्हे अपने मार्ग मे जो अमूल्य रत्न प्राप्त हुआ था उसे वे छिपाना नही चाहते थे । छिपाते तो तब न जबकि

[1] कबीर-ग्रथावली पृष्ठ ६१
[2] कबीर-ग्रथावली पृष्ठ ८०
[3] कबीर का जीवनवृत्त—चन्द्रबली पाडेय
[4] कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ १४४
[5] कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ १७३

वह छिप सकता और वे छिपा सकते। उसे पाकर वे मानो उन्मत्त हो गये थे। व उसे सबको गा गा कर दिखाने लगे। दूसरो का तरसाने के लिए नही, वरन् भटकनेवालो को उस 'हीरा' का मम समझाकर उसकी प्राप्ति की ओर प्रेरित करने के लिए। जसे व दूसरा का प्रेरित कर रहे थे वैसे ही उन्हे भी अपने गुरु से प्ररणा मिली थी। इसी को व स्पष्टत कहत है —

> "गुरु दीनी वस्तु कबीर कौं, लेवहु वस्तु सम्हारि।
> कबीर दई ससार कौं, जिसु लीनी मस्तक भाग॥"[1]

जिस रस का भेद कबीर को ज्ञात हो गया था उस व सबको बता रहे थ। वह रस कितना मधुर था कितना मादक था! उसे पाकर और पीकर उन्ह दुनिया की किसी वस्तु की कामना नही रह गई थी। वह रस था राम का नाम। वे दूसरो का मिहर कर समझाते हैं —

> 'दास कबीर कहे समझावै, हरि की कथा जीवै रे।
> राम को नाव अधिक रस मीठौ बारबार पीवै रे॥"[2]

कबीर का राम सत्वस्वरूप है। ब्रह्मा और शङ्कर म वे गुण कहाँ है जो राम मे है? तमोगुण का नाम ही शङ्कर ह और रजोगुण ब्रह्मा है। राम की ज्योति सत्वस्वरूपिणी ह जो निर्विकार एव उज्ज्वल है। अपने राम का परिचय दत हुए कबीर कहते है —

> "रजगुन ब्रह्मा, तमगुन सकर सतगुन हरि है सोई।
> कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई॥"[3]

दूसरी पक्ति मे यह भी स्पष्ट है कि कबीर के राम दश, काल एव जाति की परिधि स विमुक्त है। उनम जिस प्रकार हिन्दुओ द्वारा जपे जाने की योग्यता है उसी प्रकार तुर्कों द्वारा भी। इसी मे एकता की समस्या का हल है और इसी मे राम-रहीम क अभेद का रहस्य निहित है।

---

[1] कबीर-ग्रथावली पृष्ठ ३२४
[2] कबीर-ग्रथावली पृष्ठ १६३
[3] कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०६

कबीर बड़े सरल और शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे, किन्तु उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। उन्होंने धर्म और समाज के गहनातिगहन तल मे प्रवेश करके जो कुछ देखा था उसीसे उन्होंने एक नये समाज और नये धर्म की कल्पना की थी। वे वयनजीवी थे और अपने श्रम से ही अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। उसी श्रममय जीवन मे से अधिकाश समय वे साधु-सेवा और सत्सग मे बिताते थे। उनकी अतिथि-सेवा साधु-समाज मे इतनी मोहक बन गई थी कि उनके घर पर साधुओ की भीड लगी रहती थी।

स्वभाव

उनमे भावुकता और बौद्धिकता का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ था। दया के तो मानो वे सागर ही थे। उनकी दयार्द्रता के कारण ही उनके सम्बन्ध मे अनेक दन्तकथाएँ बन गई हैं जिनमें कुछ तथ्य अवश्य रहा होगा। वे 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के समर्थक थे। समता उनका नारा था। वे हिंसा के विरोधी थे और झूठ से उन्हे घृणा थी। यह कहना अयुक्त न होगा कि सत्य और अहिंसा उनके आयुध थे। काँटे बोने वाले के लिए भी वे फूल बोने का उपदेश देते थे।

उनकी अहिंसा में विनीतता का प्रमुख स्थान था। इसीलिए उन्होंने 'बाट का रोटा' बने रहने का उपदेश दिया है। कुछ लोग उनको गर्वोन्नत कहते हैं। वास्तव मे वे गर्वोन्नत थे नही। उनकी जिन उक्तियो मे गर्व की गन्ध आती है वे अध्यात्म-सम्बन्धी हैं। उनमे तथ्य की चोट है, सत्य का प्रकाश है, दिखावट या बनावट का काम नही है। वे उस अवस्था की उक्तियाँ है जिनमे अस्मिता गल जाती है और अहकार काफूर हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो वे यह क्यो कहते —

> "तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मे रही न हूँ।
> वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥"

धर्म के आडम्बरो के प्रति कबीर की कोई सहानुभूति नही थी, किन्तु किसी धर्म की अच्छाई को वे भुला नही सकते थे। यही कारण है कि कबीर का पथ सारग्राहिता से प्रशस्त है। कबीर का लोकाचार दभ और पाखड से मुक्त था। वे जो कुछ कहते थे, करते भी थे। इसीलिए उन्होंने करनी और कथनी दो॰ पर जोर [illegible]

कबीर को जीवमात्र प्रिय था। प्रत्येक मानव उनका बन्धु था। दुखी के प्रति उनकी महानुभूति थी और सुखी के प्रति व प्रसन्न दीख पडते थ किन्तु दुख स घबराने वाले और सुख मे इतराने वाले को व बुद्धिमान नही मानत थ। उनकी यह मान्यता थी कि प्राय लोग सुख के मद से चूर होकर आस्तिक्य भाव को खो बठते हैं और दुख म व परम आस्तिक बन जाते हैं। यदि व सुख मे आस्तिक बने रह तो दुख की नौबत ही क्यो आए ?

> दुख मे सुमिरन सब कर सुख मे करै न कोइ ।
> सुख मे जो सुमिरन कर तो दुख काहे को होइ ॥"

लोक के प्रति व विनीत और विनयशील दीख पडते हैं किन्तु दीन नही। अपनी दीनता का प्रदर्शन व एकमात्र प्रभु के सामने करते है और वहा व उसकी महत्ता के स मने सिर झुकाकर कह उठते ह —

> 'मेरा मुझ को कुछ नही जो कुछ है सो तेरा।
> तेरा तुझ को सौंपते क्या लागत है मेरा॥'

यही कबीर का भावुक रूप है इसी मे उनके आत्मसमपरण की भावना निहित है। यहा कबीर का भक्त प्रमुख है।

कबीर को मिथ्या चमक-दमक प्रिय नही थी और न वश भूपा के प्रति ही उनका मोह था। जो मिल गया सो पहन लिया के सिद्धान्त मे उनकी पूण आस्था थी। व परम आस्तिक होने के कारण ही सत्यनिष्ठ एव भक्तिदृढ थे। प्रम की पीर ने उनके हृदय म अपना घर बना लिया था किन्तु उन पर इस पागलपन म मजनू बनने का जुनून सवार न हो सका।

कबीर में सीखने की लगन थी सीखने क लिए ही व इधर उधर घूमे फिरे। इसी लगन मे उनका तथ्यान्वपरा निहित था। उनको ज्ञान की पिपासा थी। पडितो से उनको किसी प्रकार की सहायता नही मिल सकती थी किन्तु उन्होने उनके शास्त्राथ से लाभ अवश्य उठाया। गोरखनाथ के जगाये हुए योग से भी उन्ह बहुत कुछ मिला। सूफियो की शराब से उनका महारस कुछ घटिया नही था। कबीर ने उसका भी मनमाना आस्वादन किया।

सब ओर घूमते हुये भी कबीर ने समाज को नही भुलाया था। कबीर

खग की भाँति विहार करते थे। स्वर्ग और नर्क की कल्पना, कबीर की दृष्टि मे, केवल मानसी कल्पना थी, किन्तु पाप और पुण्य, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के मन और कर्म दोनो मे है, उनकी दृष्टि मे बडे कठोर बन्धन थे जिनसे केवल विवेकी पुरुष ही मुक्त होते हैं।

कबीर अनित्य को नित्य नही मानते थे। जो लोग अनित्य को नित्य मान बैठते हैं वे भ्रान्त हैं। जो नित्य है उसका विनाश नही होता और जो उत्पन्न और नष्ट होता है वह नित्य नही है। अतएव यह कहना अनुचित नही है कि कबीर के अपने सिद्धान्त थे जिन पर वे आरूढ थे।

कबीर का जन्म काशी मे (या उसके आस पास) सम्वत् १४५५ में एक जुलाहा परिवार मे हुआ था जिस पर नाथ-पथ का प्रभूत प्रभाव था। जुलाहा जाति को हिन्दू तो हेय समझते ही थे, किन्तु मुसलमान भी आदर की दृष्टि से नही देखते थे। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के परिवार का तत्कालीन समाज मे कोई आदर नही था। कबीर के पिता का नाम नीरू और माता का नीमा था।

जीवन-विषयक निष्कर्ष

उस समय शिक्षा का जो वातावरण था वह कबीर की स्थिति के अनुकूल नही था। उस समय कबीर के जैसे परिवारो मे शिक्षा का प्रचलन नही था। कबीर जैसे बालक अपनी जीविका के उपार्जन मे (कुछ तो प्रथा-वश और कुछ स्थिति-वश) सलग्न हो जाते थे। कबीर अपनी पारिवारिक एव सामाजिक परिस्थितियो के बीच मे पुस्तक-अध्ययन से वचित ही रह गये, किन्तु, जैसा कि आगे विवेचन किया जाएगा, प्रतिकूल परिस्थितियो मे ही उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। यद्यपि पुस्तक-ज्ञान की दृष्टि मे वे अपढ थे, परन्तु परिस्थियो ने उन्हे जीवन के गम्भीर एव विशाल अध्ययन के लिए उत्कट प्रेरणा दी थी। कबीर के व्यक्तित्व मे जो फौलादी शक्ति दिखाई पडती है वह नि सन्देह परिस्थितियों का परिणाम है।

कबीर पढे-लिखे नहीं थे, इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उनका कोई विद्या-गुरु भी नहीं था किन्तु उन्होने रामानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु मान लिया था। कबीर का गुरु कभी कभी परमात्मा या राम मे भी दीख पडता है जिसको वे 'सतगुरु' भी कहते हैं। गुरु या 'सतगुरु' के प्रति कबीर के अन्तर मे बडा सम्मान है।

कबीर की दो पत्नियाँ थी, एक लोई और दूसरी धनिया। दूसरी रामजनी या रमजनिया नाम से भी प्रसिद्ध थी। लोई की प्रकृति कबीर के अनुकूल नहीं थी किन्तु दूसरी कबीर की भक्ति को सहयोग देनेवाली थी, इसीलिए वह उनकी स्नेह-भाजन थी। लोई कबीर की साधु-संगति से बहुत खिन्न थी। इससे खिन्न तो कबीर की मा भी थी, परन्तु लोई इससे व्यथित थी। पति के इस प्रकार के आचरण या जीवन से अधिकांश स्त्रियों को खेद होता है, किन्तु कौटुम्बिक आवश्यकताएँ व्याहत होने के कारण लोई इसको विशेष अभिशाप समझती थी।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि कबीर का पुत्र कमाल और पुत्री कमाली थी। डा मोहनसिंह ने 'कबीर—हिज बाइग्राफी' मे दो पुत्र (कमाल और निहाल) तथा दो पुत्री (कमाली और निहाली) का उल्लेख किया है। कहीं कहीं निहाल और निहाली के स्थान पर जमाल और जमाली नाम भी मिलते है। डा त्रिगुणायत ने भी ऐसा संकेत किया है कि कबीर के कई बच्चे थे। कबीर की सन्तान की संख्या को अन्त साक्ष्य पर न छोडकर यह कहा जा सकता है कि वे बड़े खर्चदार गृहस्थ थे।

कबीर गृहस्थ साधु थे। उनका परिवार भी कुछ छोटा नहीं था। अतिथियों के कारण वह और भी विशाल बना रहता था। प्राय वैष्णव भक्त और सन्त जन ही कबीर के अतिथि होते थे। उनको पाकर वे अपने को धन्य समझते थे। वे सन्त-सेवा मे इतने रत रहते थे कि वे अपने सम्बन्धियों और विशेषत अपनी माता और स्त्री लोई के भी अप्रिय हो गये थे।

सत्संग से कबीर को बहुत बड़ा लाभ हुआ और वह था ज्ञान लाभ। ग्रन्थों को पढकर शायद उनको इतना ज्ञान न हो पाता जितना उन्हें सुनने से हुआ था। उनका ज्ञान केवल सुनने तक ही सीमित नहीं था, अपितु मनन से उसमे तेज आ गया था। उनका फौलादी व्यक्तित्व इसी मनन का परिणाम था। उनका व्यक्तित्व ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों से समन्वित था। उसमे एक ही साथ सरलता समरसता और विचित्रता का दर्शन होता था।

उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी। यात्रा का लक्ष्य तीर्थाटन नहीं था। वे अनेक स्थानों मे साधुओं से मिलने ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने अथवा अपने मत का प्रचार करने के लिए घूमते थे। वे झूँसी मगहर, जौनपुर, मानिकपुर, गागरोनगढ, गुजरात मथुरा आदि स्थानों मे गये थे।

उनके अनेक शिष्य थे जिनमे हिन्दू और मुसलमान, दोनो वर्ग सम्मिलित थे। उनमे बिजलीखाँ, धर्मदास, वीरसिंह बघेला, सुरतगोपाल, जीवा, तत्वा, जागूदास आदि अधिक प्रसिद्ध थे। कबीर के पश्चात् उनके पंथ की अनेक शाखाएँ हो गई थी, जिनका जन्म उनके शिष्यो की प्रसिद्धि के कारण हुआ था।

कबीर का पथ सत्य पर आधारित था जो उनके अनुभव से अभिन्न था। उनकी अहिंसा भी भावनामात्र नही थी। उसमे भी सत्य का बल था, अनुभव की धरा थी। दंभ और पाखड से उनको घृणा थी क्योंकि उनका आधार मिथ्या है जो खोखली है और जिसमे प्रदर्शनमात्र है। 'कहना और, करना और' का सिद्धान्त उन्हे तनिक भी प्रिय नही था। वे तो 'करनी और कथनी' मे एक तादात्म्य चाहते थे। वे सत्यप्रिय होने के नाते स्पष्टतावादी थे, किन्तु इस विषय में अनेक आलोचको को भ्रम हो गया है जो उनके हृदय की शुष्कता एव कठोरता से लाछित करते हैं।

उन्होने न तो धार्मिक पक्षपात सीखा था और न खुशामद। उनमे पक्षपात इसलिए नही था कि सत्य को वे सदैव सत्य ही समझते थे। असत्य कभी सत्य नही हो सकता है, ऐसी उनकी धारणा थी। इसीलिए वे खुशामद और पक्षपात से मुक्त थे, इसीलिए भय उनमे दूर भागता था। सिकन्दर लोदी ने काशी के बहकाने मे जो जो यातनाएँ कबीर को दी, वे भी उनको सत्य से विचलित न कर सकी। अन्त मे मुक्ति ने सत्य का ही वरण किया।

कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। जिस परमात्मा का कोई आकार-प्रकार नही, जो देश-काल की सीमाओ मे आबद्ध नही हो सकता, उसकी मूर्ति कैसी? यही कारण है कि उन्होने स्थान-स्थान पर मूर्ति-पूजा के प्रति अपनी अरुचि दिखलाई है। जिसका आकार नही उसकी मूर्ति का आश्रय लेकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न बिल्कुल वैसा ही है जैसा असत्य के सहारे सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न। असत्य से भ्राति की वृद्धि हो सकती है, जिज्ञासा की तृप्ति नही हो सकती। इसीलिए मूर्ति-पूजा पर उनका यह व्यग है—

"लाडू लावर लापसी, पूजा चढे अपार।
पूजि पुजारा ले चला, दे मूरति के मुख छार॥"

कबीर किसी धर्म विशेष के अनुयायी नही थे, वे तो सारग्राही थे। इसी कारण कबीर का पथ चला। वे अवतारवाद के विरोधी थे, किन्तु आवागमन को मानते थे क्योंकि वे कर्म-परिपाक को भुला नही सकते थे। वे इस

सिद्धान्त से सहमत नही थे कि मरने के बाद भी प्राणी कब्र मे पडा पडा कयामत तक सडा करता है। 'जनम अनेक गया अरु आया' तथा 'देखो कर्म कबीर का कछू पूरब जनम का लखा' कह कर कबीर ने कर्मवाद और तत्सबन्धी पुनर्जन्मवाद का समर्थन किया है।

कबीर प्रेम के पथिक थे। प्रेम ने ही कबीर को ऊँच-नीच के भेद भाव का परित्याग कर सब की एकता प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी थी। जाति और धर्म के भेद को भी प्रेम ने ही निकाल बाहर किया था। कबीर का यह प्रेम मनुष्यो तक ही सीमित नही है परमात्मा की सृष्टि के सभी जीव-जन्तु उसकी परिधि में आ जाते है। वे 'सर्वजीव साईं के प्यारे' के सिद्धान्त के प्रतिपादक थे।

कबीर का प्रेम तत्त्व सूफियो के ससर्ग का फल होते हुए भी उसमे उन्होने भारतीयता का पुट दे दिया है। सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप मे देखते हैं। उनके मजनूं को अल्लाह भी लैला नजर आता है किन्तु कबीर ने परमात्मा को प्रियतम के रूप मे ही देखा है। उनकी उक्ति 'राम मेरे दूल्हा मै राम की बहुरिया' राम का प्रियतमत्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। कबीर के प्रेम का यह रूप भारतीय माधुर्य भाव के सर्वथा अनुकूल है। प्रेम का जो स्रोत कबीर ने विरहिणी नायिका के हृदय मे देखा है उसमे निःसन्देह भारतीय प्रेम का प्रवाह है। भारतीय प्रेम मार्ग के पथिक ने विरह-व्यथा का सदैव नारी हृदय मे देखा है। कबीर ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है जिसमे सूफियाना भावो मे भी भारतीयता कूट-कूट कर भरी है।

कबीर अपने सिद्धान्तो के पक्के थे क्योकि वे किसी की नकल नही थे। उनमें अनुभवसिद्ध सत्य था। सत्य मनुष्य के व्यवहार को निश्चित और दृढ बनाता है। निश्चय और दृढता कबीर का व्रत था। उनके अनुभव मे जो सिद्ध हुआ उसको उन्होने वैसा ही कहा। यही उनका सत्यान्वेषण और सत्य-परिचय था। उन्होने अपने अनुभव को आचरण मे भी उतारा था। उनके समय मे लोक का ऐसा भ्रम था कि काशी मे मरने से स्वर्ग मिलता है और मगहर में मरने से नरक किन्तु कबीर की तत्त्व-दर्शिनी दृष्टि ने इसे स्वीकार न किया। वे अपने अन्तकाल मे इसी कारण मगहर मे चले गये थे। वही सवत् १५७५ मे उन्होने अपनी देह का विसर्जन किया।

: ३ :

समकालीन वातावरण

कबीर का समय एक उथल-पुथल का समय था। उनके चारो ओर राजनीति, धर्म, समाज आदि का जो वातावरण बना हुआ था उसी मे उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। उस वातावरण के अनेक झोको मे प्रताडित होकर कबीर की आँखे खुल गई। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा थी, केवल उसके सजग होने की देर थी। उद्बोधन का यह काम उनकी समकालीन परिस्थितियो ने किया। उन्होने समाज को न केवल तत्कालीन राजनीति मे ही घुटा हुआ देखा, अपितु धार्मिक रूढियो और विकारो मे भी दलित और गलित पाया।

कबीर के व्यक्तित्व की सबसे बडी विशेषता यह थी कि उनकी प्रतिभा मे अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। उन्होने एक ओर तो सामयिक परिस्थितियो का निर्भीकता से सामना किया और दूसरी ओर समाज के त्राण की दिशा मे उत्साहपूर्वक अपना कदम बढाया। जिस समय असख्य लोग उस विकरालता मे आँखें मीच कर कराह रहे थे उस समय कबीर अदम्य उत्साह और सहज मन्यु से उसके बहिष्कार मे सलग्न हो गये। उस समय की सामाजिक परिस्थितियो की विकटता का दायित्व केवल धर्म पर ही नही था, बलिक राजनीति पर भी था।

राजनीतिक वातावरण

भारतीय प्रजा अभी तक तुगलक काल को नही भूली थी। तुगलक-वश का अन्त होते-न होते दिल्ली-सल्तनत के टुकडे होने लगे। जौनपुर मे एक नई शक्तिशाली बादशाहत की स्थापना हो गई जिसका विहार मे भी अधिकार था, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता अधिक दिन तक न रह सकी। मलिक-उस-शर्क (पूर्व का शासक) के उत्तराधिकारियो के समय में इस सल्तनत को बडा वैभव प्राप्त हो गया।

मालवा मे एक खिलजी अमीर ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था [illegible] ४० [illegible] और [illegible] शाह मालवा का

प्रथम शासक था जिसने माण्डू को अपनी राजधानी बनाया किन्तु मालवा को वास्तविक महत्त्व का उपलाभ सुल्तान महमूद के शासन काल से पूर्व न हो सका।

गुजरात को अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १२९७ में ही जीत लिया था। परतन्त्रता की एक शताब्दी पश्चात् जफरखां ने सन् १४०१ में औपचारिक रूप से शाह की पदवी ग्रहण करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। इसके पश्चात् गुजरात का वैभव काल प्रारम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वह भारत के अग्रणी राज्यों में से एक महत्त्वपूर्ण राज्य रहा। अहमदशाह (१४११-१४४१ ई०) ने अहमदाबाद का नगर बसाया और उसे सुन्दर इमारतों से विभूषित किया।

मालवा और गुजरात के मध्यवर्ती हिन्दू राजा मालवा और गुजरात के सुल्तानों के बीच होने वाले युद्धों में पक्ष ले रहे थे। दोनों मुस्लिम शक्तियों के बीच में राजपूत राजाओं का राज्य फैला हुआ था और आबू से रणथम्भौर तक के इस क्षेत्र में एक सैनिक संघ प्रतिष्ठित था जिसका नेतृत्व मेवाड़ के गुहिलौत वंशीय राणा कर रहे थे। उनकी नीति यह थी कि दोनों सुल्तानों में एकता न होने पाए इसलिए गुजरात को निरन्तर मेवाड़ के राणा से लोहा लेना पड़ रहा था। आबू की पहाड़ी पर निर्मित अचलगढ़ के दुर्ग ने मुस्लिम शक्ति को एक ओर से सीमाबद्ध कर लिया था।

उधर बंगाल का सूबा फीरोज तुगलक के समय में ही स्वतन्त्र हो चुका था किन्तु बंगाल के स्वतन्त्र बादशाहों का वास्तविक वैभव हुसैनशाह से प्रारम्भ हुआ जिसका वंश अकबर के समय (सन् १५७६) तक सत्तारूढ़ रहा।

देश और राजधानी पर प्रभाव

भारतीय प्रजा अभी तक तुगलक काल को नहीं भूली थी। यदि मोहम्मद तुगलक की प्रजा के लोग राजधानी-परिवर्तन, फारस विजय कामना, ताम्र सिक्कों के प्रचार, नृशंस मानव हिंसा आदि के कारण अभी तक नहीं भूले थे तो फीरोजशाह तुगलक को उसके संकीर्णहृदय और धर्मान्ध होने के नाते अब तक कोसते थे। उसके समय में ब्राह्मणों पर जो पालटैक्स लगाया गया था उसकी चर्चामात्र से न केवल ब्राह्मण ही थर्रा जाते थे अपितु हिन्दूमात्र का हृदय व्याकुल हो उठता था। उसने कितने ही हिन्दुओं को असिधारा में निमग्न करा दिया था। उसके पश्चात् भी जो धर्मप्रिय

शासक गद्दी पर नही बैठा। उसके बाद जो सुल्तान सिंहासनारूढ हुए प्राय वे सभी क्रूर एव विलासी थे।

इसके बाद तैमूर का आक्रमण हुआ जो भारतीय इतिहास की एक भीषण घटना है। नृशस युद्ध और बबर लूटमार म हिदुओ की अवशिष्ट प्रतिष्ठा भी परास्त हो गई। उसकी राजनीति धम से कितनी व्याकुल थी इसका परिचय उसके ही शब्दो मे इस प्रकार मिलता है— भारत पर आक्रमण करने का मेरा लक्ष्य काफिरो को दण्ड देना बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का अन्त करके गाजी और मुवाहिद बनना है। [1] अपने लक्ष्य की सिद्धि मे वह कितना सफल हुआ इसका अनुमान हम केवल इससे लगा सकते हैं कि भारत से लौटते समय उसका एक एक सिपाही सौ-सौ स्त्री पुरुष और बच्चो को गुलाम बनाकर ले गया था।"[2]

कहने की आवश्यकता नही कि तैमूर का हमला हिन्दुओ ही के लिए नही देश के लिए भी एक कठोर वज्रपात था। उससे देश मे दरिद्रता अशाति और निराशा क भयावह एव करुण दृश्य दिखाई पडने लगे। अनाचार और व्यभिचार की दु दुभि बजने लगी और सबसे भयकर धक्का पहुँचा हिदू-जाति और हिदू धम को जिससे उनकी काया काँप उठी। इतना ही नही तैमूर के आक्रमण मे दिल्ली का गौरव भी गिर गया। जो नगर लगभग दो शतियो तक साम्राज्य के गौरव का केद्र रहा वही अब प्रातीय राजधानी की दशा को प्राप्त हो गया।

देश की ऐसी दुदशा के समय दिल्ली का शासन सूत्र लोदी वश के हाथो में चला गया। बहलान लोदी ने एक बार पुन देश को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया कितु देश के दुर्भाग्य से शासन सत्ता अधिक दिन तक उसके व्यक्तित्व का उपभोग न कर सकी। उसके पश्चात् शासन की बाग डोर सिकन्दर लोदी के हाथो मे चली गई। उसका समय हिदुओ के लिए और भी भयानक सिद्ध हुआ। इस काल मे हिदुओ को गाजर मूली की भाँति काटकर फेंक दिया गया। उसका धार्मिक दुरत्साह इतना प्रबल था कि वह एक एक दिन मे पन्द्रह

---

[1] एलियट एण्ड डाउसन तीसरी पुस्तक पृष्ठ ३९७

[2] ईश्वरी [illegible] इया [illegible]

सौ हिन्दुओं को तलवार के घाट उतारने मे भी नही हिचका।[3] यदि उसने कबीर को भी मरवाने का प्रयत्न किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नही।

सिकन्दर का भी अधिकांश समय विद्रोहियों को दबाने मे ही बीता। उसकी नीति से दिल्ली का रहा सहा गौरव भी क्षत विक्षत हो गया। अब केन्द्रीय शासन इतना विभक्त हो गया था कि दिल्ली का साम्राज्य का अतीत गौरव प्राप्त न हो सका। जैसा कि पहले कहा जा चुका है दिल्ली के गौरव का विभाजन बंगाल जौनपुर गुजरात और मालवा के बीच हो गया था।

राजनीतिक प्रभाव का पर्यवेक्षण

कबीर के आविर्भाव का यह समय एक उथल पुथल का समय था। अब राज्य विजय का प्रश्न नही रह गया था। अब तो प्रश्न था शासन को दृढ और प्रभावशाली बनाने का। देश के टुकड़ों का सम्बन्ध दिल्ली से न रह जाने के कारण उनमे शासकों की अपनी अपनी नीति चल रही थी जिसका प्रजा से विशेषतया हिन्दुओं से गहन सम्बन्ध था। दिल्ली के हाथ मे केवल स्थानीय शासन रह गया था जिसमे पंजाब का समृद्ध प्रान्त भी सम्मिलित था। उस समय इस्लाम का वास्तविक वैभव दिल्ली मे नहीं, बल्कि अहमदाबाद माडू जौनपुर और लखनौती मे था। इस विभाजन और रीति-नीति का प्रभाव धर्म समाज, कला साहित्य आदि पर भी पड़े बिना न रह सका। कबीर वाणी इसका एक मुखर प्रतिरूप प्रस्तुत करती है।

धार्मिक वातावरण

यह ठीक है कि कबीर के उदय से पूर्व ही हिन्दू धर्म पर संकट के काले बादल छा रहे थे। इस्लाम काफिरों को जो कुछ दे सकता था, हिन्दुओं को वह सब कुछ मिला। शासन की छत्र छाया मे हिन्दू लोग मुसलमान बन रहे थे। हिन्दुओं के बहुदेववाद और मूर्तिपूजन के प्रति इस्लाम की स्थायी घृणा थी और दोनों धर्मों मे सम्बन्ध स्थापित होने की कोई आशा नही थी। इस समय तक जितने मुसलिम विजेता आए उन्होंने मंदिर की मूर्तियों का अपमान किया। हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता पर क्या-क्या आघात हो चुके थे इसका प्रमाण फीरोज तुगलक के काले कारनामे है। कहा जाता है कि उसने एक बार एक

---

[3] टिट्स इण्डियन इस्लाम, पृष्ठ ११–२

ब्राह्मण को बुनग्राम हिंदू संस्कार करने पर जीवित ही जलवा[1] दिया था। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि सिकंदर लोदी की उपस्थिति में बोधन नाम के एक ब्राह्मण को अपने धर्म का उत्कर्ष प्रकट करने पर मृत्यु दण्ड[2] दिया गया था।

इन सब घटनाओं से जो विस्मयजनक तथ्य उद्घाटित होता है वह है हिंदू धर्म की शक्ति। उस हिंदू के लिए जो इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता था, सब द्वार खुले थे। कोई पद या अधिकार ऐसा नहीं होता था जो उसको न मिल सकता था। खुसरो (काठियावाड़ का एक सवर्णदास) ने तो मुसलमान होकर थोड़े समय के लिए दिल्ली का तख्त तक पा लिया था। छः सौ वर्ष तक शक्ति और समृद्धि का सरल पथ उपलब्ध होने पर भी उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की संख्या १४ प्रतिशत ही रही यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। इससे स्पष्ट है कि हिंदू धर्म ने अपने ऊपर आए हुए सब आघातों का बड़े साहस से सामना किया। उधर तो धर्म परिवर्तन की परम्परा बनी रही और इधर हिंदू धर्म ने दृढ़ बनने के प्रयत्न किये। धर्म रक्षा की भावना ने नए सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को जन्म दिया। इस समय हिन्दू धर्म में अनेक आंदोलन हुए। वैष्णव सम्प्रदायों ने उत्तर में और लिंगायत धर्म ने कर्नाटक में जो विकास किया उससे हिंदू धर्म की बड़ी रक्षा हुई।

कहना न होगा कि उक्त धार्मिक आंदोलन केवल भक्तिपरक आश्रित थे कर्मकाण्डपरक नहीं थे। निस्सन्देह भारतीय भक्ति का रूप बहुत प्राचीन है, किन्तु उस समय उसको जो लोकप्रियता प्राप्त हुई उसका कारण थी हिन्दुओं की निराशा जो तत्कालीन आघातों से उत्पन्न हुई थी। गीता में भक्तियोग का उपदेश दिया गया है और उसका अन्तिम सन्देश परमात्मा को अपना सर्वस्व समर्पित कर देना है। गीता ने जीवन में प्रयत्नवाद की प्रतिष्ठा करते हुए फल सक्ति का अवमूलन अवश्य किया है किन्तु जयदेव से लेकर चैतन्य (उससे भी पीछे) तक की राधा कृष्ण की भक्ति में इसकी कोई प्रतिध्वनि नहीं है।[3]

इससे यह स्पष्ट है कि भक्ति क्षेत्र की यह नई उपज थी। मध्यकालीन भक्ति का उदय इस्लाम के आक्रमण के उत्तर के रूप में हुआ था। चाहे उनके

[1] स्मिथ स्टुडेण्ट्स हिस्टरी आफ इण्डिया पृष्ठ १२६

[2] ईश्वरी प्रसाद मेडिवल इण्डिया पृष्ठ ४८१–८२

[3] के एम पनिक्कर ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्टरी, पृष्ठ १३१

देवो के कुछ भी नाम रहे हो किन्तु सभी मध्यकालीन भक्तो ने यह माना है कि एक परमात्मा हमारा उपास्य है और उसी के अनुग्रह से हमारी मुक्ति हो सकती है। अतएव सभी भक्ति धाराओ मे तत्त्वरूप से *अद्वैतवाद* का प्रवाह है। भिन्न भिन्न नामो से प्रख्यात राम कृष्ण, शिव आदि एक ही अनन्त शक्ति के प्रतीक है। कबीर की बानियो मे इस तथ्य का दर्शन स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

इस्लाम के बढते हुए प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप मे भारतीय भावना ने अपने को अनेक रूपो मे व्यक्त किया था। अपनी भूमि पर इस्लाम को अपना सहचर समझ कर अनेक भारतीय धर्मो ने उसके प्रति जिस सहिष्णुता का परिचय दिया था वह सहज सांस्कृतिक थी। यद्यपि कुछ मुसलमान शासको ने भी यहा के धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखलाई किन्तु वे अपने नैतिक दृष्टिकोण से इस्लाम की बढती हुई कट्टरता का नियन्त्रण न कर सके। इस्लाम जैसे नए धर्म मे इस प्रकार की कट्टरता स्वाभाविक थी किन्तु उससे भारतीय हृदय की उपजाऊ भूमि मे रक्षात्मिका भावना के अनेक बीज अकुरित हो उठे।

वीरशैव सम्प्रदाय

कर्नाटक मे वीरशैव सम्प्रदाय का विकास भी इस युग की एक विशेषता थी। तामिलनाड की भाँति कर्नाटक मे भी शैव मत की एक प्राचीन परम्परा थी। बारहवी शताब्दी मे इसके दो सिद्धान्तो पर विशेष जोर देते हुए एक नए मत का आविर्भाव हुआ। उन सिद्धान्तो मे से एक तो था केवल शिव की उपासना पर आधारित अद्वैतवाद और दूसरा था जाति पाँत का बहिष्कार जिसमे ब्राह्मणो की प्रमुखता का भी उन्मूलन था। वीर शैव मत के अनुयायी बासव को अपने मत का जन्मदाता मानते है। निस्सन्देह मध्यकालीन हिन्दू-सन्तो मे बासव का प्रमुख स्थान था।

शैवमत

वीरशैव मत उस समय नया दीखता हुआ भी अपने मूल रूप मे प्राचीन था। कहना न होगा कि शैवमत बहुत प्राचीन धर्म है। उसका प्रचार कबीर के प्रादुर्भाव से पूर्व उत्तर भारत मे भी था। शैव और वैष्णव मतो मे एक दूसरे के सम्पर्क के कारण बहुत कुछ आदान प्रदान हो चुका था। साम्प्रदायिक उत्साह से मुक्त विष्णुभक्त शिव की आराधना बिल्कुल उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार उदार शैव शिव के साथ साथ विष्णु और उनके अवतारो का भी समादर करते थे।

पूर्व मे शाक्त मत का जोर था किन्तु जिस प्रकार वैष्णव भक्तो में दुर्गा की उपासना प्रचलित थी उसी प्रकार शवो मे योग के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति की प्रतिष्ठा के साथ-साथ अन्य प्रभाव भी परिलक्षित होने लगे थे। आद्या शक्ति को देवी के रूप मे स्वीकार करके भी शवो और वैष्णवो के मन मे शाक्तो के प्रति घृणा भर गई थी। पच मकारो में मत की घोरतम विकृति की अभिव्यक्ति ने शाक्त मत को मधत धर्मों से विदूर कर दिया था।

शाक्तमत

इन धर्मों मे एक ओर तो अपरिलक्षित रूप से आदान प्रदान हो रहा था और दूसरी ओर साम्प्रदायिक कट्टरता और कठोरता के कारण भाव सकीर्णता और कटुता का विकास हो रहा था। अतएव अन्त साम्प्रदायिक राग-द्वेष धार्मिक विकृतियो का परिणाम था। एक ही भाव भूमि पर आग्रह और विग्रह के प्रारूढ हो जाने से विकृति कुछ अधिक जटिल हो गई थी।

शैव शाक्त और वैष्णव मतों का सम्बन्ध

यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म के विकारो की छाया ने जिन मतो का आविर्भाव हो गया था उन्होने भी आर्य-संस्कृति की मौलिकता को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। उससे हिन्दू धर्म की एकता खण्डित हो गई। यह कहना भी असगत नही कि बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय होने पर भी वह अपने अनेक सिद्धान्तो को भारतीय विचार धारा मे प्रवाहित छोड गया था। अनात्मवाद की चरम अभिव्यक्ति नागार्जुन के शून्यवाद मे हो चुकी थी। औपनिषदिक आत्मा के स्थान पर शून्य की प्रतिष्ठा ने भारतीय चिन्तन की परम्परा मे एक बडी क्रान्ति और प्रगति को जन्म दे दिया था। शकर का मायावाद शून्यवाद को एक चुनौती था।

बौद्ध धर्म

कहने की आवश्यकता नही कि 'शून्य' ने विकास क्रम से अशून्य के रूप में सब कुछ प्राप्त किया। धीरे धीरे शून्य को स्थिति और शक्ति की विशेषता प्राप्त हो गई। जिस प्रकार बौद्ध चिन्तन से प्रसूत क्रान्ति को नही भुलाया जा सकता है उसी प्रकार बौद्ध साधना की क्रान्ति को नही भुलाया जा सकता है। यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत साधना की वस्तु है किन्तु व्यक्तिवाद के हाथो में पड कर वह अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण नही रख सकता। परिणामत विकृतियो का

विकास होता है जिससे अनेक मतो और सम्प्रदायो का प्रजनन होता रहता है। वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की विकृति और विकलता के ही परिणाम थे किन्तु कालक्रम से वे भी विकृतियो से विगलित हो गये। फिर भी नये धर्मों और सम्प्रदायो के लिए वे अपनी कुछ परम्पराएँ और साधनाएँ छोड गये।

नाथ पथ

नाथ-पथ वज्रयान और सहजयान ही की प्रतिक्रिया था। कुछ विद्वानो का मत है कि नाथ पथ सहजयान और वज्रयान का ही परिमार्जित एव परिष्कृत रूप है।'[१] राहुल जी ने तो नाथ-पथ के प्रधान आचार्य गोरखनाथ को वज्रयान का ही आचार्य कहा है।[२] यो तो इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ (भगवान् शकर) ही माने जाते है किन्तु इसके पुनरुत्थान का श्रेय गोरखनाथ ही को दिया गया है। इस सम्प्रदाय का उदय सिद्धो की बीभत्स एव तामसिक साधना पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप मे होने से इसमे सदाचरण को विशेष महत्त्व दिया गया।[3] नाथ पथ के स्रोत की विवेचना करते हुए विद्वानो ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। डा रामकुमार वर्मा ने नाथ पथ को दार्शनिक दृष्टि से शैवमत के अन्तर्गत रखा है किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से उसे पतञ्जलि के योग से सम्बद्ध किया है।[४] डा हजारी प्रसाद[५] ने इसका सम्बन्ध बौद्ध और शाक्त मतो से भी जोडने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अनेक प्रमाण देते हुए उन्होने कौल और कापालिक मतो को नाथमतानुयायी कहा है। डा मोहनसिंह ने अपने ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मेडिवल मिस्टिसिज्म' मे नाथ-पथ के सिद्धान्तो और साधन पद्धति को औपनिषदिक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

किसी समय नाथ-पथ का बडा प्रभाव था अनेक सवर्ण और अवर्ण लोग इसके अनुयायी थे, किन्तु अवर्णों मे तो इसका प्रचार बहुत ही अधिक था।

---

[१] डा हजारी प्रसाद द्विवेदी— नाथ सम्प्रदाय' तथा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ १४३।

[२] मत्रयान वज्रयान चौरासी सिद्ध—गगा पुरातत्त्वाक पृष्ठ २२१।

[3] चौरासी सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय—योगाक, पृष्ठ ४७१।

[४] डा रामकुमार वर्मा—हि सा का आलोचनात्मक इतिहास, परिवर्द्धित सस्करण पृष्ठ १५२।

[५] डा हजारी प्रसाद—नाथ सम्प्रदाय पृष्ठ ५६।

गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक लोक वार्तायें परम्परा मे देश में प्रचलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखपथ या नाथ-पथ का प्रभाव कभी लोकव्यापी था। सभी वर्ग और श्रेणियों मे उसका समादर था, इसीलिए राजा से रङ्क तक की लोक कथाएं इससे सम्बन्धित मिलती है। ऐसा दीख पडता है कि इसके सिद्धान्तो का सामान्य समादर इसलिए हुआ कि इस मत ने सामाजिक भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था। अवर्णों के लिए यह एक बहुत बड़ा आकर्षण था। इसके अतिरिक्त पथ की यौगिक करामातो और सिद्धियो की जनश्रुतियो से समाज जितना विस्मित हुआ था उतना ही आकृष्ट भी। कबीर के समय में भी इस मत का व्यापक प्रचार था, किन्तु उत्तर भारत मे इसके मठ स्थापित हो गये थे। कहते है कि गोरखपुर इस पथ का केन्द्र था। जिस प्रकार उत्तर भारत मे उसी प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत मे भी इस मत का प्रचलन रहा है। नाथ-पथ मे निरजन की महिमा का बहुत गान किया गया है। साधारण रूप मे 'निरजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप मे शिव का वाचक है।

निरजन संप्रदाय

भारत मे 'निरजन' से सम्बन्धित एक सम्प्रदाय भी रहा है जो 'निरजन सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पथ नाथ-पथ की भाँति ही प्राचीन माना जाता है। इस पथ मे निरजन-पद परमपद का समकक्ष था। आजकल निरजनी साधुओ का एक सम्प्रदाय राजस्थान और उसके प्रान्तरीय भागो मे मिलता है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरानन्द थे जो निरजन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे। "पर आजकल के निरजन मत के अनुयायी बहुत कुछ रामानन्दी वैरागियो के समान राम-सीता के उपासक हैं। वे शालिग्राम-शिला और गोमती-चक्र को मान्यता देते है।"[1] अपने मेडिवल मिस्टिसिज्म मे श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "उडीसा मे अब भी वह निरजन पथ जी रहा है जिसने निर्गुण साधना को प्रभावित किया था। यहीं से इस पंथ की शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तो मे पहुँची थी। पश्चिमी भारत मे भी इसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है।"[2] डा हजारीप्रसाद ने अपने 'कबीर' में लिखा है कि 'बगाल के पश्चिमी हिस्सो तथा बिहार के पूर्वी जिलो में आज भी एक

---

[1] भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृष्ठ १८६।

[2] क्षितिमोहन सेन मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७०७।

धर्ममत है जिसके देवता निरजन या धर्मराज है।"[1] उन्होने अपनी नई पुस्तक 'कबीर-पंथ' में दिखाया है कि एक समय यह धर्म-सम्प्रदाय भारखण्ड और रीवा तक प्रचलित था। बाद मे चलकर यह मत कबीर सम्प्रदाय मे अन्तर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाऐं कबीर-मत मे गृहीत हो गई, परन्तु उनका स्वर बदल गया।"[2] "बगाल मे धर्म-पूजा-विधान का एक काफी बडा साहित्य उपलब्ध हुआ। शुरू-शुरू में धर्म ठाकुर या निरजन देवता को बौद्ध धर्म के त्रिरत्न मे से एक रत्न (धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मत मे सन्देह भी किया जाने लगा है।"[3] कबीर पथ के अध्ययन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि "निरजन का सम्बन्ध बुद्ध से था।"[4] डा त्रिगुणायत का अनुमान है कि निरजन पथ नाथ पथ का ही एक उपसम्प्रदाय है। निरजन पथ का अध्ययन इस अनुमान का समर्थन नही करता। जिस प्रकार कबीर-पथ को नाथ-पथ या निरजन पथ का उपसम्प्रदाय नही कह सकते उसी प्रकार निरजन-पथ को भी नाथ-पथ का एक उपसम्प्रदाय नही कह सकते। डा त्रिगुणायत की यह बात भी उचित नही दीख पडती कि उत्तरी भारत मे निरजन पथ का नाम-मात्र अवशिष्ट रह गया है। राजस्थान राज्य मे अब भी अनेको निरजनी मिलते है।

इस्लाम और सूफी मत

कबीर के समय मे इस्लाम धर्म इतना प्रबल नही था जितना सूफी मत। डा० हजारीप्रसाद का यह कहना ठीक ही है कि 'मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नही कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे, पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ कर दिया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नही कर सके। उनका सामजस्य आचार प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नही हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय

[1] डा हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर, पृष्ठ ५२।

[2] डा हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर, पृष्ठ ५२।

[3] दे सुकुमार सेन और पचानन मण्डल सम्पादित 'रूपारामेर धर्म मगल' की भूमिका।

[4] दे डा हजारीप्रसाद का लेख, विश्वभारती पत्रिका खण्ड ५, अङ्क ३।

निर्गुण परम तत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी जो बौद्ध मघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश मे पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को एक अननुभूतपूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे"[1] जिसको 'राज और समाज' किसी का आदर प्राप्त नही था, किन्तु सूफीमत की आड मे इस्लाम अपनी सहानुभूति का आकर्षण दे रहा था, उसको केवल स्वीकार करने की देर थी। फिर तो समता और पद सब कुछ प्रस्तुत था। सच तो यह है कि कुछ भारतीय विचारो के आवरण मे सूफीमत इस्लाम का पोषक था। यही कारण था कि हिन्दू-समाज इस्लाम का सामना करता हुआ भी सूफीमत का विशेष विरोधी नही था। तत्कालीन निर्गुणोपासना की विरह भावना मे जिस तीव्रता का समावेश हुआ वह प्राय सूफीमत की ही प्रेरणा थी।

अनेक धर्मों का विवेचन करते हुए हम उस समय प्रचलित तान्त्रिक साधना को नही भुला सकते। यो तो तान्त्रिक साधना बहुत से सम्प्रदायो और मतो मे समादृत हो चुकी थी, किन्तु कबीर के युग मे वह अपनी पराकाष्ठा पर थी। उसकी चरमाभिव्यक्ति शाक्त मत मे हो रही थी। यद्यपि शाक्तमत अपनी अनेक हेय प्रवृत्तियो के लिए बहुत से लोगो की घृणा भी पा चुका था, फिर भी इसके अनेक सिद्धान्त उस समय की विचार-परम्परा और साधना-पद्धति में समाविष्ट हो गये थे। तान्त्रिको का प्रभाव समस्त भारत मे विद्यमान था, किन्तु शाक्त लोगो का प्रभाव बगाल और उसके आस-पास के भू-भाग पर विशेष था। शाक्तो को वक्र दृष्टि से देखते हुए भी कबीर ने उनकी साधना की कुछ बातों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा था, इसीलिए बुराइयो मे भी अच्छाइया मिलने पर उन्होने उन्हे स्वीकार कर लिया था। कबीर की साधना में वे बातें किस मार्ग से समाविष्ट हुई, यह प्रश्न विचार करने योग्य है। अनुमान किया जाता है कि वे सीधी तान्त्रिको या शाक्तो से न आकर नाथ-पन्थ के माध्यम से आई थी। अस्तु, इस प्रश्न पर 'प्रभाव' के अन्तर्गत ही विचार करना सुसगत होगा।

तान्त्रिक सम्प्रदाय

---

[1] डा० हजारीप्रसाद कबीर, पृष्ठ १७४–१७५

वेद विरोधी धर्मो में बौद्ध और जैन धर्म ही प्रमुख थे। बौद्ध धर्म की विकृतियो ने वज्रयान और सहजयान जैसे सम्प्रदायो को जन्म देकर भी अवकाश ग्रहण नही किया था। प्रतिक्रियास्वरूप नाथ-पथ आदि अनेक मतवाद प्रचलित हो गये थे। इधर जैन धर्म के अन्तर्गत भी सम्प्रदायो का उदय हो गया था। उनकी स्पर्धा की भावना में कटुता के फल लग कर वे न केवल धर्म को खिन्न कर रहे थे अपितु सामाजिक जीवन को सकीर्ण बना रहे थे। जबकि बौद्धो की अहिंसा हिंसा का रूप ले चुकी थी जैनो की अहिंसा ने अपने तात्त्विक सौन्दर्य का विसर्जन नही किया था। हा वह उपेक्षा और रूढियो के द्वारा किसी अश तक उपहास्य अवश्य हो गई थी। या तो जैन धर्म भारत भर में फैला हुआ था और उसके अनुयायी किसी न किसी अश में कम से कम नगरो मे तो मिलते ही थे किन्तु राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र में उनका बाहुल्य था।

जैन धर्म

भारतीय धर्म साधना को सामान्यत दो प्रमुख धाराओ मे बाटा जाता है—वैदिक धारा तथा वेद विरोधी धारा। जैन तथा बौद्ध वेद विरोधी धारा में आते है। वेद विरोधी धारा मे चार्वाको का नाम भी आता है किन्तु चार्वाक मत का अधिक विकास न हो सका। कबीर के समय मे भी चार्वाक मत उपेक्षित ही था। वेद विरोधी धारा तो वैदिक युग मे भी रही होगी किन्तु उस समय वह अत्यन्त क्षीण होगी अन्यथा वेदो का इतना डका न बजता। महात्मा बुद्ध मे यह धारा अत्यन्त शक्तिमान रूप में प्रकट हुई। वैदिक तथा वेद विरोधी धाराओ का सघर्ष जीवन के अनेक क्षेत्रो मे था। सघर्ष के जो कारण तब थे वही कबीर के समय में भी विद्यमान थे।

सघर्ष

कबीर के युग तक आते आते भारतीय चिन्तन तथा साधना की अनेक धाराओ का उद्गम तथा विकास हमारे सामने आ जाता है। कबीर के युग मे भारत दो भिन्न समाजो मे विभक्त दीख पडता था—एक भारतीय धर्म-साधना का पोषक था और दूसरा अभारतीय धर्म-साधना का। भारतीय धर्म-साधना का पोषक समाज अनेक धर्मों और सम्प्रदायो से क्षत विक्षत होते हुए भी अपनी सास्कृतिक एकता रखता था किन्तु अभारतीय धर्म ने जो समाज तैयार किया था वह भारतीय समाज से एक दम भिन्न था इसीलिए देश मे विरोध का वातावरण था। हिन्दू धर्म से सूफी मत की सहानुभूति अवश्य दिखाई पडती थी

किन्तु बिल्कुल वैसी ही जैसी कि किसी वृक्ष के पार्श्व में उगी हुई एवं वृक्ष पर छाई हुई लता की, जो वृक्ष की मौलिक शक्ति को स्वयं लेकर उसे हीन करने का प्रयत्न करता है।

हिन्दू-समाज में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनमें वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध, जैन और वैदिक कर्मकाण्डी भी थे। इन धर्म-साधनाओं में पारस्परिक विरोध था। जिस प्रकार शिव, विष्णु और शक्ति की प्रधानता को लेकर उनके उपासकों में विरोध का उद्बोधन होता था, उसी प्रकार उनकी साधना भी संघर्ष को जन्म देती थी।

तान्त्रिक सिद्धों की साधना अत्यन्त विकृत तथा वामाचार से भरी हुई थी। वे शक्ति की पूजा करते थे। उन्होंने मांसाहार, सुरापान तथा व्यभिचार को साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। इधर उनके आचरण की तो यह दशा थी, उधर वे लोग सामान्य जनता को सिद्धियों के चमत्कार दिखा कर प्रलोभन से बहकाते थे। स्पष्टतः इस प्रकार की साधना साधकों के पतन के साथ-साथ समाज पर भी बुरा प्रभाव डाल रही थी। परिस्थितियां मानो उद्धार के लिये व्याकुल थी।

हिन्दुओं में बहुदेवोपासना और मूर्ति-पूजा का प्रचलन था। मूर्ति-पूजा के अनेक विधि-विधान विद्यमान थे। मन्दिर के अनेक पुजारियों के हृदय में सकीर्णता, पाखण्ड और दुराचार का आवास था। बाह्याचार चरम-सीमा पर था। स्नान, छापा, तिलक, माला, वस्त्र आदि के बल पर ही अनेक पाखण्डी भक्त, साधु और महात्मा बने बैठे थे। अज्ञ जनता को बहका कर वे अपना उल्लू सीधा करने में सलग्न रहते थे। इन बाह्याचारों के प्राबल्य और बाहुल्य से सत्य-धर्म अन्धकार में निमग्न हो चला था। श्रद्धा और विश्वास ने अपना स्थान अन्ध भक्ति और दंभ को छोड़ दिया था। वेदों की सेवा होती थी। सत्य के परिपोषी को अश्रद्धालु, अधर्मी एवं नास्तिक आदि संज्ञाओं से विभूषित किया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था ने कर्माधार का परित्याग करके जन्माश्रय स्वीकार कर लिया था। शूद्रों को सामाजिक सौभाग्य से वंचित कर रखा था। अन्त्यजों को वेदाध्ययन से ही परिवारित नहीं कर रखा था, अपितु उन्हें मन्दिरों तक में प्रवेश नहीं मिलता था, मानो धर्म का ठेका कुछ ही लोगों को मिला था।

उनका स्पर्श तक दूषी समझा जाता था। उनके कुए भिन्न थे, उनके मोहल्ले अलग थे। हिन्दुत्व की सीमाओं मे उन्हे कही मुक्ति नही दीख रही थी। इस्लाम के द्वार के भीतर उन्हे अपने दुर्भाग्य से मुक्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। इसीलिए अवर्ण लोग मुसलमान होते चले जा रहे थे। जो लोग इस्लाम को नही भी चाहते थे, वे भी तत्कालीन हिन्दुत्व से ऊब गये थे। अतएव समय किसी ऐसे धर्म अथवा पथ को अपेक्षा रखता था जिस पर चलने का सब को अधिकार हो। यद्यपि बौद्ध-धर्म म किसी समय ऐसे लोगो को आकर्षण मिल सकता था, किन्तु उस समय वैदिक धर्म की उदारता ने उस आकर्षण को मन्द कर दिया। कबीर के समय म वैदिक उदारता रूढियो में बध करस कीर्णता में परिणत हो गई थी। उस समय बौद्ध धर्म अपनी विकृतियों को छोडकर लुप्त हो गया था। जितने मत मतान्तर उस युग म प्रचलित थे वे भी अनेक विकृतियो का आवास बन रहे थे, किन्तु नाथ पथ जैसे सम्प्रदाय भी विद्यमान थे जिनमे चाहे और कितनी ही खराबिया रही हो, उन्होने जाति-पाति के बन्धन को तोडकर एक नई सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया था जिसम वेदा, मन्दिरो और वेशभूषा को कोई महत्व नहीं दिया गया था। ऐसे सम्प्रदायो म दलित वर्ग के लिए आकर्षण था। इसीलिए निम्न वर्ग के लोगो पर नाथ-पथ का इतना व्यापक प्रभाव था, किन्तु उसम बुद्धि के साथ हृदय के समन्वय को तृप्ति प्राप्त नही हो सकी थी, अतएव अब भी एक अभिनव समन्वित सहज धर्म की आवश्यकता थी।

व्यवसाय और व्यापार

उस समय के लोग या तो सरकारी नौकरियो द्वारा या स्वतन्त्र व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे। मुसलमान शासको की नीति चाहे कुछ भी रही हो, किन्तु छोटे छोटे सरकारी कर्मचारी प्राय हिन्दू ही थे। यह स्पष्ट है कि बडे-बडे हाकिमो के मुसलमान होते हुए भी छोटे-छोटे कर्मचारिया के बिना जो हिन्दू ही हो सकते थे, मुसलमान शासको का काम नही चल सकता था। पटवारी, लेखपाल, कोषाध्यक्ष और जिले के अन्य कर्मचारी अनिवार्यत हिन्दू होते थे तथा गवर्नर और जिले के हाकिम मुसलमान होते थे। मुसलमान शासको ने केवल न्यायाधिकार अपने हाथा म ले रखा था, किन्तु इस्लाम धर्म से सम्बन्धित कानून के अधिकारी काजी ही होते थे।

यह समझना उचित न होगा कि व्यापार हिन्दुओ के हाथ से मुसलमानो के हाथ में पहुच गया था। यह ठीक है कि मुसलमान भी व्यापार करने लगे थे,

किन्तु मुसलमान आक्रमणकारी सैनिक साहसिकता के पक्षपाती थे, अतएव वे व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यापार शैली जिसमे 'हुडी' का विशेष महत्व था एव जिसमे 'उधारखाता' अपना विशेष महत्व रखता था उनके लिए रहस्य था। इसमे सन्देह नही कि व्यापारी जातियो के लाभ का अधिकाश सरकारी कोष एव हाकिमो की जेबो मे जाता था, किन्तु हिन्दू बनिया आज की भांति ही सामाजिक ढाचे का एक आवश्यक अग था।

हिन्दू आय का अधिकाश धन कर में चला जाता था। अधिकाश जनता दीन थी। प्रजा के बहुत से लोग स्वतन्त्र व्यवसाय से ही अपनी उदर-पूर्ति करते थे। हिन्दुओ के बहुत से व्यवसाय मुसलमानो ने भी अपना रखे थे। इसका एक कारण यह भी था कि धर्मान्तरण के उपरान्त भी बहुत से व्यवसायियो ने अपने व्यवसाय नही छोडे थे।

हिन्दू-लोग सामाजिक उच्चता को व्यवसाय के माप-दण्ड से नापते थे। उनकी दृष्टि मे धर्म और व्यवसाय म एक सम्बन्ध था, किन्तु मुसलमानो का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध मे स्पष्ट था। वे धर्म और व्यवसाय को भिन्न मानते थे। पुजारियो और पण्डो ने धर्म को *व्यवसाय बना लिया था*, इसलिए उसका सहज औदार्य और चारित्र्य गुण विलीन हो चला था। सकीर्णता, दभ और पाखण्ड के विकास का यही मूल कारण था।

: ४ :

साहित्यिक वातावरण

कबीर के प्रादुर्भाव काल म भारतीय जीवन में वह स्पन्दन नही था जो साहित्य की प्ररणा बनता है। क्रूरता और उत्पीडन क बीच आकर्षण और आशा म विकलता का अवशेष मात्र था। जहा भय और अशान्ति का साम्राज्य हो, जहाँ दरिद्रता और निराशा स लोग व्याकुल हो, जहाँ जीवन दभ और पाखड स क्षुब्ध हो, जहाँ राजनीतिक कुचालो स हृदय विदग्ध हो रहा हो और जहाँ अनिश्चय का अधकार छा रहा हो, वहा साहित्य कैसे पनप सकता है? ऐसे युग म वीर पूजा से भी अधिक वैराग्य का अवसर मिला। वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का युग था, जिसमे वैराग्य और उपदेश का स्वर अधिक ऊचा रहा। वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान जैसे सम्प्रदायो के अनुयायी अब भी अपनी साधनाओ म निरत रहते थ। उनको अपने सिद्धान्तो और आदर्शों की ही चिन्ता थी। यदि उनका समाज मे कोई सम्बन्ध था तो अपने सिद्धान्तो के सम्बन्ध से। जहा उनके सिद्धान्त नहीं थे वहा उनकी घृणा थी। सिद्धो और नाथो की वाणियो म अनेक स्थानो पर ऐसे स्वर का उद्वलन भी होता दीखता है जिसम सन्त वाणी का बीज दीख पडता है। ऐसी बात नहीं कि सन्त-वाणी अपनी पूर्व वाणी से सर्वथा साम्य ही रखती थी, वह उसका विरोध भी करती थी। विरोध के स्वर म सन्तो न अपने पूर्ववर्तियो को 'सशयग्रस्त' एव 'माया-निरत' बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि सन्त मत अपनी स्वतन्त्रता म प्रकट हुआ।

नामदेव, त्रिलोचन, सदना आदि न सन्त वाणी-परम्परा को और आग बढाया। इन वाणियो म ब्रह्म, माया और जीव से भी अधिक जगत और शरीर की अस्थिरता के वर्णनो और उपदेशो की प्रचुरता थी। बगाल म गीतगोविंद के रचयिता जयदेव ने अपनी मौलिक उदभावना से एक नई शैली को जन्म देकर ब्रह्म निरुपण की धारा को मानो एक नई दिशा प्रदान की थी, किन्तु उस समय

उसकी गणना सन्त-साहित्य के साथ की जाती थी। कबीर की वाणियो मे इन दोनो धाराओ का मिलन स्पष्ट है। कुछ लोग कबीर को सन्त-मत का प्रवर्तक मानने की भूल कर सकते हैं, किन्तु उनको सन्तमाला की उज्ज्वल मणि ही कहना समीचीन होगा। उन्होने साहित्य को जो कुछ दिया वह 'सार-सग्रह' के रूप मे ही था।

उस समय साहित्य मे काव्य के शास्त्रीय विधि-विधानो का उपयोग कम अथवा नाममात्र के लिये ही होता था। प्रबन्धकाव्य तो बहुत ही कम रचे जाते थे। मुक्तक क्षेत्र म था। यावद्ध परम्परा के पुजारी ही कुछ करते दिखाई देते थे। जिस प्रकार जैनो और चारणो के स्वर मे कोई प्रगति नही दीख पडती थी उसी प्रकार सन्त वाणियो मे भी गतानुगतिकता ही प्रमुख थी। उन का प्रचलन मुक्तक रूप मे ही था।

साधारणतया साहित्य मे जीवन के प्रवृत्ति-मूलक तथा निवृत्तिमूलक, दोनो ही दृष्टिकोण विद्यमान थे। पहले से लौकिक साहित्य का सृजन हो हो रहा था और दूसरा वैराग्य तथा अध्यात्म-सबधी काव्य को प्रेरित कर रहा था। जिस प्रकार नागार्जुन के शून्यवाद ने निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को प्रेरित किया था उसी प्रकार शकर के मायावाद ने भी उसे प्रोत्साहन दिया था। इसके अतिरिक्त राजनीति के विक्षुब्ध वातावरण तथा समाज की विषमताओ ने भी निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को ही अग्रसर किया था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वीर-वन्दना का प्रचलन अब भी था। सामन्ती दरबारो म शास्त्रीय दृष्टि से कविता करनेवाले कवियो का अभाव नही था और वहा उनको पर्याप्त सम्मान भी प्राप्त होता था, किन्तु कला-प्रदर्शन की भावना ही उनकी रचनाओ मे प्रमुख थी। जिस प्रकार इस समय सस्कृत मे काव्य शास्त्र और नायक-नायिका-भेद की रचनाए बढ रही थी, उसी प्रकार दरबारी कवि भी हिन्दी-काव्य-शास्त्र को अपनी कृतियो से समृद्ध बना रहे थे। वे यश और अर्थ के लोभ मे कला-कौशल के नवीनतम रूप पर ही दृष्टि रखते थे। अभिप्राय यह है कि कबीर का पूर्ववर्ती साहित्य प्रयोजनसाध्य था। सन्त-काव्य मत-प्रचार के लिए निर्मित हो रहा था और दरबारी कवि अपने सामन्तो की विरुदावली मे अपनी कला का चमत्कार दिखाने मे ही अपने को कृतकृत्य मानते थे, किन्तु ऐसे कवि भी अधिक नही थे।

देश के अनेक भागो मे, प्रमुखतया पश्चिमी भाग मे, जो जैन साधु साहित्य-सर्जना मे तत्पर थे उनकी रचनाओ को मूल प्रेरणा धार्मिक प्रचार और कला-कौशल के प्रदर्शन के लोभ से मिलती थी, इसलिए वे प्राचीन कृतियो के नवीनीकरण म ही प्राय लोप-नाम करत थ।

कबीर के पूववर्ती साहित्य म वर्णाश्रम का प्रचुर विरोध दिखाई पडता है। बौद्ध धम के प्रचार के साथ साथ ही भारतीय साहित्य म इस विरोध का प्रजनन हो गया था। सिद्धो ने उसे कम न होने दिया। भारत म इस्लाम के जमने पर उसको अधिक उत्तेजना मिली। उस समय की अधिकाश रचनाए समाज का विभाजित करने का प्रयत्नमात्र हैं। सन्त-वाणी के अतिरिक्त उसको एक सूत्र म बाधने का प्रयास किसी दिशा से नही हुआ।

यदि यह कहा जाय कि उस समय साहित्य-निर्माण शक्तिहीन हो गया था, तो कुछ अनुचित नही। यह कहना तो ठीक नही कि लोक मे अनुभूति प्रदान करने वाला वातावरण नही था, किन्तु अनुभूति को व्यक्त करने वाली शक्ति-मयी प्रतिभा का मानो अकाल पड रहा था। मौलिक सृजन-शक्ति के अभाव में अनुभूति की कोई गति नही थी।

उस समय सस्कृत भाषा सामाजिक जीवन से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुकी थी। यद्यपि त्रावनकोर स कश्मीर तक सस्कृत अब भी विद्वानो और दार्शनिको की भाषा बनी हुई थी, किन्तु सिद्ध-सम्प्रदाय ने देश के तत्कालीन साहित्यिक वातावरण म बडी क्रान्ति पैदा कर दी थी। उसने न केवल सस्कृत भाषा के मूल पर आघात किया अपितु जन भाषा के विकास मे बहुत बडा योग दिया। इन्ही के हाथो म एक नई अभिव्यजना-शैली को भी जन्म मिला जिसको विद्वानो न 'सध्या भाषा' कहा है। अपभ्र श के भग्नावशेष उनकी लखनी म अब भी निहित थे। मुसलमानो के सम्पर्क ने भी लोक-भाषाओ का बडा प्रोत्साहन दिया था। गुजराती, बगाली, मराठी, मारवाडी और व्रज-भाषाए अपभ्रश की गोद म अपना रूप सवार रही थी।

'सध्या भाषा' कोई भाषा नही थी। वह तो एक शैली थी जिसमे उलटे अर्थो का प्राधान्य था। नाथो और तान्त्रिको मे इसका बहुत प्रचलन था। इसम वाच्यार्थ को बाधित करके कोई सकेतिक अर्थ ग्रहण किया जाता था।

यह शैली साम्प्रदायिक शैली थी जो केवल सीमित क्षेत्रो मे प्रचलित थी। साधारण क्षेत्रो में इसके सकेतो को अधिक प्रोत्साहन नही मिला क्योंकि इसके रूढार्थ कभी-कभी घोर गर्हणीयता तक पहुच जाने से इसमे लोकप्रियता नही थी।

'सन्ध्या भाषा' ने एक ओर तो अपने प्रवर्तको के आचरण की कलई खोली और दूसरी ओर साहित्य की प्रतीक-पद्धति को आगे बढाया। उसी से उलटबासियो का प्रचलन हुआ। यों तो प्रतीक प्रयोग कोई नयी चीज नही थी और न उलटबासियो मे ही कोई नवीनता थी। कूट और विरोधाभास म इनका बीज-दर्शन हो जाता है, किन्तु शैली के रूप मे इनमे नूतनता अवश्य थी।

उस समय की शब्दावली मे विविधता थी। यद्यपि योग, तन्त्र, आदि से सबधित उक्तिया प्राय विदेशी शब्दो से मुक्त थीं, किन्तु सन्त-वाणियो को फारसी-अरबी के अनेक शब्दो ने भाषा के शब्दो में मिल कर निर्वर्गीय रूप दे दिया था। इन शब्दो के प्रचलन के लिए प्राय मुस्लिम सस्कृति का सम्पर्क ही उत्तरदायी था। सूफीमत के प्रचार और राजनीतिक परिस्थितियो ने भी उक्त शब्दो के प्रचलन को आगे बढाया था। सम्मिलित समाज के ढाचे मे इनका प्रयोग अस्वाभाविक नही था। लोक-व्यवहार से आये हुए विदेशी शब्दो को तत्कालीन सिद्धा नुयायी जिनके हृदय में सस्कृत के विरोध की भावना निहित थी, बड़े उत्साह से देखते थे।

उस समय की भाषा का निर्णय करना आज के आलोचक की समस्या है। अपभ्र श अपना दायित्व अपनी बोलियो को सौंप चुकी थी, किन्तु प्रमुखता पाने के लिए उनमे प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। शौरसेनी या महाराष्ट्री अपभ्र श की भाति अभी किसी बोली को प्रामुख्य नही मिला था, इससे कोई भाषा अभी तक साहित्यिक भाषा की स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकी थी। जैन और चारण कवि अब भी अपभ्र श का पल्ला पकडे हुए थे। बोलियो मे अपभ्र श का पूरा पुट था। विद्यापति ठाकुर जैसे कवि भी अपनी भाषा मे अपभ्र श का पुट दे रहे थे। हा, सन्तो ने अपनी वाणियो में एक नयी परपरा को जन्म दिया था जिसमे अनेक प्रमुख बोलियो के शब्दों के सम्मिश्रण की स्वीकृति थी। उनकी भाषा को विद्वानो ने 'सधुक्कडी' भाषा कहा है। 'सधुक्कडी' शब्द सन्तो की भाषा को साधारण भाषा से पृथक् कर देता है।

मिले जुले शब्दों के प्रयोग से बनी हुई भाषा को सधुक्कड़ी नाम यदि हिन्दुस्तानी जैसे अर्थ में दिया जाता है तो उसमें निहित लोक-तन्त्रता के प्रति सवेग स्पष्ट हो जाता है। अनेक स्थानों में भ्रमण करने वाले एवं अनेक स्थानों में सर्वाजन शिष्यों के सम्पर्क में आनेवाले साधुओं की वाणियों में मिले जुले शब्दों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक था। सन्तों की वाणी में प्रतिस्पर्धी भाषाओं की एकता और व्यापकता का स्वर था। यद्यपि उनकी यह कामना आज तक सफल नहीं हो पायी किन्तु अनेक बाधाओं के रहते प्रयत्न अब तक चल रहे हैं और वह दिन बहुत दूर नहीं जब कि सन्तों का स्वर देशव्यापी भाषा की एकता में मिले जुले शब्दों से प्रतिध्वनित होगा।

अभी तक छन्द क्षेत्र में कोई नवीनता नहीं आयी थी। दोहा, चौपाई, सबद रमैनी गीत बानी आदि का प्रयोग रूढ़ हो गया था। इन्हीं को प्रमाण में ला के शिष्य प्रशिष्य जहां तहां गा गा कर लोगों को मुक्ति का साधन बताते फिरते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह तानपूरे का साहित्य था।

गीतों का जो रूप संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचलित था वह बदलने लगा था। गीतगोविंद ने गीत की एक नयी शैली और परम्परा को जन्म देकर लोक भाषाओं के क्षेत्र में गीत के लिए एक अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर दिया था। विद्यापति के पद उसी का परिणाम थे। यद्यपि सिद्ध लोग ही पद शैली का प्रचलन कर चुके थे किन्तु विद्यापति से पूर्व पदों को केवल साम्प्रदायिक स्वीकृति ही मिली थी। विद्यापति ने उन्हें साहित्यिक स्वीकृति देकर उनके इतिहास में एक नूतन अध्याय का प्रारम्भ कर दिया था। उसी परम्परा का निर्वाह कुछ अधिक विस्तार से सन्तों ने किया।

तत्कालीन पदों को देख कर यह कहना अनुचित न होगा कि संगीत का विरोध सिद्धों के सम्प्रदाय में भी नहीं रह गया था। उस समय पद स्वयं एक छन्द बन गया था किन्तु दो पदों में मात्रा भेद अथवा राग-भेद हो सकता था। लोक भाषाओं में पदों को प्राय भक्ति वैराग्य आदि के क्षेत्र में ही प्रमुख महत्व मिला था। यों तो विद्यापति के बाद भी पदों में शृंगार-रचना हुई किन्तु उनके प्रसार में भक्ति और अध्यात्म का धरातल ही प्रमुख रहा।

उस समय का सर्वप्रिय छंद दोहा था जो लोक भाषाओं को अपभ्रंश से मिला था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक तो वह राजा से रंक तक, सभी का कंठहार बन गया था और उसकी उपयुक्तता सभी रसों में स्वीकार करली गयी थी। सभी धर्मों, सम्प्रदायों और वर्गों ने इसका स्वागत करके इस छन्द को साहित्यिक ही नहीं, प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी अनिवार्य बना दिया था। यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि दोहा को सिद्धों से भी अधिक जैनों और चारणों से परिपोषण प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि दोहा की सरलता उसकी लोक प्रियता का प्रमुख कारण थी। उसने कलात्मक भेद-उपभेदों में भी जिस प्रकार अपनी लोक-प्रियता को अक्षुण्ण रखा उसी प्रकार सरलता को भी। सच तो यह है कि दोहा लोक-जीवन का एक अंग बन गया था। इसको सबसे बड़ी सहायता चौपाई और चौपई से मिली। ऐसी बात नहीं कि वह चौपाई या चौपई से अलग रहा ही नहीं, किन्तु अनेक प्रबन्ध काव्यों में उसको प्रायः उन्हीं का साथ मिला। रमैणियां भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह समय सांस्कृतिक संघर्ष का समय था। युग प्रवृत्तियां ऐसे वातावरण की प्रतीक्षा कर रही थीं जिसमें आदान प्रदान की संभावनाएं बढ़ें तथा अस्थिर और निराश जीवन को सान्त्वना मिले। कबीर से पूर्व के काव्य में जीवन और समाज में समरसता लाने वाली शक्ति का अभाव था, प्रायः प्रयत्नों का प्रवाह विपरीत दिशा में था। इसलिए लोक जीवन को कबीर की 'वाणी' की बड़ी आवश्यकता थी।

: ५ :

वातावरण का प्रभाव : क्रिया और प्रतिक्रिया

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर का समय भारतीय इतिहास मे अत्यन्त अशान्ति का समय माना जाता है। शासको की अदूरदर्शिता, अमीरो की दलबन्दी, देशी राजाओ और प्रान्तीय सूबेदारो की विद्रोह-भावना और इन सबकी परम्परा में तैमूरलंग का प्रलयकारी आक्रमण—ये सब ऐसी बाते थी जिनसे तत्कालीन राजनीतिक वातावरण विषाक्त हो गया था। देश की राजकीय एकता के छेद विच्छेद से दिल्ली नष्ट हो गयी थी और अनेक प्रान्तीय सूबेदारो ने स्वाधीन होकर मनमानी करना प्रारम्भ कर दिया था। इधर दुर्भिक्ष और महामारी के प्रकोप से सहस्रो व्यक्ति काल कवल बन गये थे। धन जन के विनाश और राजनीतिक अस्थिरता के कारण जनता म व्याकुलता फैल रही थी।

कबीर ने राजनीतिज्ञ न होते हुए भी दूषित राजनीति को बड़े दु ख और क्षोभ से देखा था। क्रूर राजनीति उनकी आखो की जलन थी। शासको को देश के टुकडो की चिन्ता नही थी, अकाल और महामारी की चिन्ता नही थी, प्रजा के सुख दु ख की चिन्ता नही थी। यदि उनको कोई चिन्ता थी तो यह कि उनके प्रभुत्व की रक्षा या वृद्धि कैसे हो। वे अपनी-अपनी प्रभुता के लिये प्रजा का कैसा ही बलिदान कर सकते थे। उनकी ऐश्वर्य लोलुपता के पीछे कोई मगल भावना या नैतिक सिद्धान्त नही था। आकाक्षा की कोई दिशा अथवा आशा की कोई किरण किसी भी विभीषिका को स्वीकृति दे सकती थी। नरसहार से वे हिचकते नही थे क्योकि वह तो उनकी दैनिक क्रीडा बन गया था। ऐसी बात नही कि अच्छे शासक थे ही नही। थे अवश्य, किन्तु इने-गिने थे जो देश के दुर्दिन की बाढ को बडी व्यग्रता से देखते थे। धोखा, छल, कपट, क्रूरता, विलास आदि राजनीति की ऐसी लहरे थीं जो युग के प्रवाह म कही भी दृष्टिगोचर हो सकती थी।

कहने की आवश्यकता नही कि समग्र देश मे एक उद्दाम लू चल रहा थी जिसका दाह भयकर एव व्यापक था। उससे छोटे बडे, गरीब-अमीर, सब पीडित थे। पसीना बहाकर दैनिक आजीविका का उपार्जन करने वाले लोग तक नृशसता का शिकार बन रहे थे। उनकी मुक्ति उपेक्षा से भी सम्भव नही थी, सम्भव तो वह तब होती जब स्वय उपेक्षा असभव न होती। विशेष करो ने सामाजिक एकता को विक्षुब्ध करके चूर चूर कर डाला था। धार्मिक विडम्बनाए राजनीति का अग बन रही थी। कबीर भी उस पीडित समाज के एक अग थे। पीडा ने उन्हे सचेत किया था और दलितो की कराहो ने बल दिया था। उन की भर्त्सनाओ में समाज का क्षोभ था और उनकी विरक्तोक्तियो म उनकी निराशा थी।

अभी कहा गया है कि राजनीतिक वातावरण को विषाक्त बनाने मे धार्मिक विषय का भयकर हाथ था। तत्कालीन राजनीति को बहुत अश तक मुल्ला और पुजारी प्रेरित करते थे। हिन्दू मुसलमानो के धार्मिक विवादो के अतिरिक्त हिन्दुत्व के भीतर भी मतान्तर ईर्ष्या और द्वेष का बोल बाला था। एक ओर शकर और कुमारिल के प्रयत्नो से बौद्ध धर्म अन्तिम साँसे ले रहा था, दूसरी ओर जैन, शैव और वैष्णव धर्मो के भीतर अनेक उपसम्प्रदाय सगठित हो रहे थे। भारत मे दक्षिणी और पश्चिमी नाथ-पथियो का अधिक जोर था और योगी, जती, सन्यासी शाक्त आदि सब पारस्परिक सघर्ष मे व्यस्त थे। देश या सामाजिक जीवन की एकता की चिन्ता किसी को नहीं थी। उत्तर भारत मे स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र मे एक क्रान्ति को जन्म देकर जाति-पाँति के तने को हिलाकर देखा था और पश्चिम की ओर नामदेव घूम घूम कर वारकरी सम्प्रदाय के प्रचार मे सलग्न थे जिससे मालवा, राजस्थान तथा पजाब में उनके अनेक अनुयायी बन गये थे।

बौद्धो का सहजयान सम्प्रदाय लुप्त प्राय होता हुआ भी अपने विकृत रूप को बगाल मे छोड गया था। इस्लाम के मुल्लाओ और काजियो ने अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दू और मुसलमानो के बीच गहरी खाई खोद दी थी। इस समय तक सूफी-सम्प्रदाय चिश्तिया और सुहर्वर्दिया शाखाओ को जन्म देकर अपने प्रचार को बढाने मे लगा हुआ था। चिश्तिया शाखा के फकीर अहमद साबिर (मृ० स० १३८२) ने उत्तरप्रदेश के पश्चिमी

भाग मे अपनी साबिरी शाखा की नीव डाली थी और सुहर्वदिया शाखा' के शेख तकी (म० १३७७—१४८६) न अपने अपन उपदेशो का प्रचार उत्तर प्रदेशो के पूर्वी भाग म किया था। बगाल सहजिया सम्प्रदाय ने वैष्णवो पर अपना जादू डाल दिया था जिससे वहा वैष्णव सहजिया सप्रदाय की नीव पड रही थी और मथिल कवि न धम म एक नए स्वर को प्रारम्भ किया था। एम वातावरण म कुछ ऐसे विचार भी पनप रहे थे जो धार्मिक सघष और मलीणता म ऊचे उठकर एक नए पथ की ओर सकेत कर रहे थ। उन्हे केवल एक प्रौढ पवनक और कमठ सचालक की आवश्यकता थी जो युग की भयानकता मे होकर उनका माग बढाना। यह माग भी किसी धम विशेष से असम्भव था। वह तो सब धर्मो क सार ग्रहण से ही बन सकता था। वहा स्थायी और सार्वभौम माग हो सकता था।

कबीर ने समाज की दुबलता को बडी करुणा स देख कर उसे निकालने के मौलिक प्रयत्न किए थ। भय भत्सना और भक्ति उनके ऐस अस्त्र थे जिससे व राजनीतिक विभीषिकाओ और सामाजिक विषमताओ क शत्रु को परास्त करना चाहत थ। जिस शरीर पर मनुष्य इतना गव करता है, जिस वैभव क लिए वह इतने अत्याचार करता है जिसकी गहरी नीव डालने के लिए वह अनक प्रयत्न करता है व अमर ह। इसीलिए व बोल —

> 'कबीर कहा गरबियो चाम पलेटे हड।
> हवरि ऊपरि छत्र सिरि ते भी देवा खड ॥
> कबीर घोडा जीवणा माड बहुत मडाण।
> सबही ऊभा मेल्हि गया राव रक सुलितान ॥'

परिवतन की लहरो के क्षणिक बुदबुदो पर गव करना व्यथ है। यह शरीर धूल की पुडिया है जो चन्दरोजा है। कुछ ही दिनो म यह खाक म मिल जायगा। कबीर विस्मित ह कि जन्म मरण को देखकर भी मानव अपने क्रूरकम नही छोडता इसलिए कबीर उपदेश देते ह कि एसे कर्मो से बच कर उचित आचरण करना चाहिए —

> 'कबीर धूलि सकेलि करि पुडी जु बाधी एह।
> दिवस चारिका पेषणा अंति षह की षेह ॥
> जामण मरण बिचारि करि कूड काम निवारि।
> जिनि पथू तुझ चालणा सोई पथ सवारि ॥

एक दिन सबको इस दुनिया से कूच करना है। जो राजा राणा या छत्रपति अपने अधिकार या पद के मद में विघूर्ण होकर अपने प्रस्थान को भूल रहे हैं, उनको सावधान हो जाना चाहिए—

"इक दिन ऐसा होइगा, सबसूं पड़ै बिछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होय॥"

इस प्रकार कबीर काल के डंके की कर्कश ध्वनि सबको सुनाते हैं और समझाते हैं कि गजे-आरोहण, छत्रधारण, वैभव-विलास, उच्च आवास, ये सब एक दिन नष्ट होने वाले हैं। इतने पर भी जो अपने मार्ग को नहीं पहचानते उन मूर्खों को कुछ कहना व्यर्थ है। जिनको राज-वैभव का गर्व है वे केवल गर्व का भार वहन करते हैं। दुनिया की कोई वस्तु, विलास की कोई सामग्री हमारे साथ नहीं जायेगी। जो लोग दुनिया को ही सब कुछ मान बैठे हैं उनकी तुलना कबीर उस ग़ाफ़िल से करते हैं जो अपने ही पैरों में कुल्हाड़ा मार लेते हैं—

"दीन गवाया दुनीं सौं, दुनी न चाली साथि।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणैं हाथि॥"

यह मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता, इसकी सफलता और सार्थकता हरि-भक्ति में है, अन्यथा वह व्यर्थ है—

"कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज।
बार-बार नहीं पाइए, मनिषा जनम की मौज॥"

इस प्रकार कबीर न केवल अपने मार्ग को प्रशस्त करते हैं, अपितु उनके मार्ग का भी निर्देशन करते हैं जो भ्रान्त या उन्मत्त हैं। अधिकार, यौवन या वैभव के मद से प्रमत्त लोगों को वे ऐसे संकेत करते हैं जो उनकी दुर्नीति के विसर्जन में सहायक हो।

यह ठीक है कि कबीर के वैराग्य में परम्परा की कड़ी दीखती है, किंतु उसमें चेतावनी का संकेत भी स्पष्ट है। उसमें युग-प्रवर्तन और क्रांति के अमोघ लक्षण दीख पड़ते हैं यह भुला देना चाहिए कि कबीर के पथ को उनकी भक्ति ने निर्मित किया था। सच तो यह है कि उनकी प्रेरणा में युग की अभ्यर्थना थी, अत्याचार को सकरुण विकल हृदय की चुनौती थी।

कबीर का लक्ष्य सयत एव सतुलित जीवन म निराशा का सचार करना नही था, अपितु एसे जीवन के प्रति आशा पैदा करना था। जिन लोगो का दुर्नम अनाचार की सीमा लाघ चुका था और जिनके निष्करुण अहकार की विस्फोटमयी ज्वालाओ म प्रलय का भयकर अभिनय था, उनको उनके कुकर्मो के प्रति निराश करना ही कबीर की वैराग्योक्तियो का प्रधान लक्ष्य था।

अपने समय म कबीर को भक्ति ही म एक ऐसा मार्ग दीख पडा जिसम विषमता का निवारण कर समता एव सन्तुलन स्थापित करने की क्षमता थी। भक्ति की शक्ति ही गर्व के उन्माद का उपचार एव दलितो की निराशा का अपहरण कर सकती थी। इसी भक्ति म कबीर को अपने लिए एक शक्ति का प्रवाह दिखाई पडा और इसी म उन्हे वह दिशा दिखाई पडी जो समाज की एकता के पथ को सर्वालित कर रही थी। उनकी विरक्तोक्तियाँ उसी पथ की सीढिया थी। अतएव कबीर की भक्ति म आशा-निराशा, आकर्षण विकर्षण तथा भय और प्रेरणा का अद्भुत सामजस्य खोज लेना कठिन नही है क्योकि दो विपरीत बिन्दु आक्षिप्त दशा म एक ही सरल रेखा मे, एक पथ मे प्रलीन हो जाते है। अतएव यह कह देना अनुचित नही है कि उनमे से एक दूसरे म खो जाता है। भक्ति सासारिक आसक्ति को परमात्मा की आसक्ति मे विलीन कर देता है जिसम दर्प का निपात, अनेकता का विलय और एकता का आविर्भाव होता है। कहना न होगा कि कबीर की भक्ति-भावना के मूल म सामाजिक एकता की प्रेरणा ही थी।

यदि यह सत्य है कि 'परमात्मा के प्रति परम प्रेम का नाम ही भक्ति है' तो यह भी सत्य है कि भक्ति को सामाजिक प्रेम के रूप मे अकुरित भी देख सकते है। कबीर की भक्ति म दो दिशाओ से आनेवाली प्रेम-परपराओ का मिलन है। एक तो भारतीय प्रेम-परम्परा और दूसरी सूफी प्रेम-परपरा। दोनो की पद्धतिया भिन्न होती हुई भी उनका लक्ष्य एक ही है।

भारतीय भक्ति-परम्परा म भी भक्ति की दो धाराए मानी गई है—एक तो भावप्रधान और दूसरी ज्ञानप्रधान। भावप्रधान भक्ति म साधक अपने हृदय की सारी कामनाए, अपने मन की समस्त प्रवृत्तियाँ अपने इष्टदेव के चरणो मे अर्पित कर देता है और आत्मसमर्पण के भाव में ही वह

परमानन्द का अनुभव करता है। इसको प्रेमाभक्ति भी कहते हैं। भक्ति के क्षेत्र का यह प्रेम ईश्वर सान्निध्य का एक मार्ग है। इसम प्रेमी अपने को प्रिय के प्रेम-बन्धन म बाध लेता है और इतना कस कर बाध लेता है कि उसका अपना अस्तित्व ही प्रिय में डूब जाता है, दुई मिट जाती है और एकता के भाव का अपूर्व उन्मेष होता है। शास्त्रीय परिभाषा म इसको कुछ भी कहा जाय, किन्तु है यह वही दशा है जिसे ज्ञानी अद्वैतावस्था कहते हैं। भाव और ज्ञान की परम परिणति एक ही स्थिति मे एक ही दशा मे होती है। इस स्थिति पर पहुँच कर भक्ति और ज्ञान का अन्तर मिट जाता है।

यह दुहराने की आवश्यकता नही कि कबीर के प्रेम का प्रादुर्भाव तत्कालीन समाज की दुर्दशा से हुआ। उनकी करुणा ही अन्ततोगत्वा भक्ति म परिणत हुई। खड को अखड और त्रस्त को आश्वस्त करने की प्रेरणा के पीछे उनका करुणाजन्य प्रेम था। इस प्रेम का मूल स्वर एकता था और यही उनकी भक्ति का स्वर था। कदाचित् कबीर के सामने एकता की समस्या को हल करने के लिए एक द्विविधा रही होगी, उनके समक्ष एक भयकर प्रश्न रहा होगा कि वे प्रेम-क्षेत्र मे किस पथ को अपनायें—भारतीय भक्ति-मार्ग को अथवा सूफी प्रेम-मार्ग को। एक में आलंबन साकार और सलील था और दूसरे म आरोपित। एक के समर्थन मे दूसरे का विरोध निहित था। कबीर का लक्ष्य विरोध का मिटाना था, इसलिए वे किसी एक मार्ग को लेकर नहीं चल सकते थे। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने दोनो ओर से प्रेम-साधना के तात्विक उपकरण सकलित किये और दोनो के विरोध को निर्गुण भक्ति म विलीन कर दिया।

कबीर की निर्गुण भक्ति का स्वरूप भारतीय भक्ति-धारा के बहुत समीप था। भारतीय भक्ति-धारा के दो रूप अन्यत्र कहे गये हैं। उनम से एक ज्ञानप्रधान भी था। कबीर की भक्ति इसी के अन्तर्गत आती है। जिस समय हम भक्ति के इस रूप पर विचार करते हैं तो सहसा गीता के उस भक्त का स्मरण हो आता है जिसके लिए 'ज्ञानी'[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द ज्ञान और भक्ति के सामजस्य की ओर सकेत करता है। यही सामजस्य कबीर की निर्गुण भक्ति की आधार-शिला है। यहाँ ज्ञान का महत्व भक्ति के लिए ही है।

[1] तेषा ज्ञानी मम प्रिय

कबीर की भक्ति को देखते समय विशेष ध्यान देने की बात यह है कि निराकार के समर्थक कबीर अपनी वाणी में साकार को नहीं भुला सके हैं। 'ना जसरथि घरि औतरि आवा ना जसवै ले गोद खिलावा'—कहने वाले कबीर ही उस स्वरूप से संबंधित अनेक उदाहरण दे जाते हैं जो साकार की प्रतिष्ठा में ही अधिक सहायक होते हैं जैसे—

'राजन कौन तुमारे आवै।
ऐसो भाव बिदुर को देख्यो, बहु गरीब मोहि भावै।
(दुर्योधन) हस्ती देखि भरम से भूला हौ भगवान न जाना'।[1]

और

'महापुरुष देवाधिदेव नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहलाद उबारयो अनेक बार'।।[2]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कबीर को सगुण और निर्गुण की विशेष चिन्ता नहीं थी चिन्ता तो उन्हें उस सामाजिक खाई की थी, जो उनके कारण उत्पन्न हो सकती थी क्योंकि साकारोपासना अवतारवाद और बहुदेववाद का समर्थन करती है जिसका तालमेल इस्लाम के 'एकेश्वरवाद' से बिल्कुल नहीं बैठता। कबीर के युग में एकता एक समस्या थी। उसका हल खोजना कबीर अपना कर्तव्य समझते थे। निर्गुण-पंथ उसी हल को प्रस्तुत करता है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि एक नये पंथ को चलाने के लिए ही कबीर ने निर्गुण-भक्ति को पुरस्सर किया था। उनके इस कथन में तथ्य केवल इतना है कि कबीर ने एक नया पंथ चलाया और उसमें निर्गुण-भक्ति का प्रमुख स्थान रहा किन्तु कबीर पंथ में निर्गुण भक्ति की मान्यता पंथ के आग्रह से नहीं थी समस्या के हल के निमित्त थी। कबीर पंथवादी थे, यह समझना भ्रम होगा, किन्तु यह सत्य है कि उन्हें नया पंथ चलाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी क्योंकि वे एकतावादी थे। निर्गुण पंथ को नया पंथ इसलिए नहीं समझ लेना चाहिए कि उसमें कोई नयी चीज थी। ईंट और रोड़े सब पुराने थे यदि कोई नवीनता थी तो उनसे 'भानुमती का कुनबा' जोड़ने में थी।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१८, १७६
[2] कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २१४

कबीर की भक्ति मे प्रेम-तत्त्व की प्रतिष्ठा की कोई नयी बात नही थी। भारतीय भक्ति धारा म प्रेम का वह स्वरूप मिलता है जिसके श्रद्धा और विश्वास अभिन्न अग है। भक्ति के रूप को आगे बढाने म कबीर का बडा हाथ रहा। अनात्मवादी बौद्धो ने देश म ही नही बाहर भी अनीश्वरता के प्रचार म कोई कमी नही छोडी थी। सिद्धो ने सिद्धियो के प्रलोभन से जहा योग का प्रचार किया वहा अनीश्वरवाद को भी दृढ किया। उनके निरीश्वर योग मे आत्मा और परमात्मा के लिए कोई स्थान नही था। इससे भागवत धर्म को बडा आघात पहुँचा और कबीर के समय अनास्था और अविश्वास लौकिक और आध्यात्मिक दोनो रूपो मे बहुत बढे हुए थे। इससे मनुष्य के मन म सन्देह के साथ साथ निराशा भी बढ गयी थी। इन्ही म कबीर के युग की दुरवस्था का विशेष कारण निहित था। इसके उच्छेदन के लिये, विश्वास और आशा की प्रतिष्ठा के लिए एक सामान्य भाव भूमि की आवश्यकता थी जो कबीर को ईश्वरवाद के भीतर ही दिखायी पडी। यह ईश्वरवाद हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिय सामान्य था, अतएव कबीर ने जिस भक्ति की प्रतिष्ठा की, देश की सामाजिक एकता के लिए उसका बहुत बडा मूल्य था।

कबीर की भक्ति का वियोग-पक्ष अधिक सबल है। उसकी विशेषता विरह की तीव्रता जो उन्होने सूफीमत से ली। कहने की आवश्यकता नही कि सूफी-प्रेम उन्मादविशिष्ट है और कबीर के प्रेम निरूपण म उसके अनेक लक्षण मिलते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी प्रेम साधना से कुछ नही लिया वे हाथी को देख कर भी उसके अस्तित्व का निषेध करते हैं। ऐसी बात नही है कि कबीर ने परमात्मा के केवल प्रिय (पति) रूप को ही अगीकार किया था, अपितु माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपो म उसको उन्होने चित्रित किया है। सूफी-सम्प्रदाय म इन सब रूपो को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नही है। सूफियो के लिए परमात्मा माशूक है और जीवात्मा आशिक है और कबीर के दाम्पत्य सम्बन्ध म हरि 'पीव' ह और वे उनकी बहुरिया' हैं। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो व्यजना है उसम सूफी-मान्यता का भी पुट है। यह ठीक है कि कबीर और हरि—जीव और परमात्मा—म जो पत्नी और पति का सम्बन्ध है वह भारतीय भक्ति परम्परा के अनुरूप है, किंतु इसमें आश्रय और आलबन मे सम्बन्धित आरोप भी स्पष्ट हैं। इस आरोप के लिए भारतीय भक्ति मे कोई स्थान नही है। कृष्ण भक्ति मे व्रज गोपियो का

कृष्ण मे पत्नी पति सम्बन्ध आरोप के लिए कोई स्थान नही देता। इसीलिए नारदीय भक्ति सूत्र म भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सा तु प म प्र मरूपा यथा ब्रजगोपिकानाम किन्तु सूफी प्र म-साधना का सारा महल ही इस आरोप के ऊपर खडा हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय तक भक्ति और योग म असगति का स्वर प्रबल हो गया था। उनके समर्थक न उनम एकरूपता और सगति देखने के बजाय असगति को ही देखा। परिणामत ज्ञान और भक्ति की भाति भक्ति और योग के बीच म भी खाई सी बन गयी। यद्यपि नाथ पथ ने योग म प्र म का पुट देकर उसे भक्ति के समीप लाने का प्रयत्न किया था किन्तु उसकी क्षीण रुचि गवमत म ही अवरुद्ध हो गयी। वह वष्णव भक्ति म भी अपना सवद्य स्थापित करने की चेष्टा न कर सका। कबीर ने योग की इस प्रवत्ति को बडी व्यग्रतापूर्ण सक्ष्मता स देखा और उसे भक्ति म लाने का अतुल प्रयत्न किया। श्रीरग हरि राम गोविंद शिव आदि शब्दों से एक ही शक्ति की ओर सकेत करके योग को भक्ति स जोड दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति म चित्तवृत्ति की स्थिरता और योग म प्रम-तत्त्व की प्रतिष्ठा होने से योग और भक्ति बहुत निकटस्थ हो गये।

कबीर की भक्ति बहुप्रयोजना है। वह निराशा और सदेह का निवारण कर आशा और विश्वास को दृढ करती है एक ही परम शक्ति की प्रतिष्ठा कर लौकिक शक्तियों को चुनौती देती है एक सत्य की मान्यता से अनेकता का निराकरण करती है और नाम से अटूट सम्बन्ध जोडकर प्र म के आलम्बन की एकता को प्रतिष्ठित करती है। उसम अन्धविश्वासो के लिए कोई स्थान नहीं है। किसी पद्धति या प्रथा का कबीर रूढि के रूप म स्वीकार नहीं करते। उनकी स्वीकृति केवल उसी धर्म या विश्वास को मिल सकती थी जो प्र म मूलक एकता की व्यवस्था करने वाली उनकी बौद्धिकता की निकष पर खरा उतर सकता था। जो चीज समय के लिए प्रयोजनीय नहीं है कबीर उसे हेय एव त्याज्य मानते हैं। समय की कसौटी पर खराब सिद्ध होने वाली जाति प्रथा को वे हेय मानते हैं। वे ब्राह्मण और चाण्डाल म कोई मौलिक भेद नहीं देखते थे। उनकी दृष्टि मे प्रेम से परिष्कृत चाण्डाल दुराचारी ब्राह्मण स बढ़कर ऊचा था। कबीर के अन्तर की इस प्रक्रिया म उनके मस्तिष्क और हृदय का सामजस्य देखा जा सकता है यहा कबीर के ज्ञानी भक्त की अभिव्यक्ति थ

कबीर भक्ति को आडम्बर से अलग मानते थे। मस्जिद और मदिर कुरान और वेद, ईमान और धर्म, तस्बीह और माला, दाढी और चोटी आदि अपने तथाकथित रूप म वाह्याडम्बर हैं इनसे सामाजिक विकृतिया और भेदो की वृद्धि मात्र होती है। इनसे कबीर उनको स्वीकृति नही देते। उनको न तो वे धम का ही लक्षण मानते हैं और न ईश्वर प्रेम का ही। खुदा या परमात्मा मस्जिद या मन्दिर म नही मिलता। वह तो हृदय म प्रतिष्ठित है। हृदय के निर्मल होने पर ही उसका अनुभव होता है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

> "कबीर दुनिया देहुरै सीस नवावण जाइ
> हिरदा भीतर हरि बसैं, तू ताही सौं ल्यौ लाइ॥"

परमात्मा प्रेम और दया म है। दम्भ और पाखण्ड मे नही। खुदा की सच्ची बदगी नवाज म नही है दया म है। जो नवाज पढ कर जीवहत्या करते हैं, वे कभी सत्यरूप परमात्मा के समीप नही पहुच सकते। इसी प्रयोजन से वे काजी को चेतावनी देते हैं—

> "यहु सब झूठी बदिगी, बरिया पच निवाज।
> सोचै मारै झूठ पढि, काजी करै अकाज॥"

इस विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि कबीर ने मानव प्रेम को उदार बनाकर व्यापक ईश्वर-प्रेम म विलीन कर दिया था। ज्ञान और भक्ति अथवा योग और भक्ति के बीच म खडे किये हुए अवरोधो को मिटा कर भक्ति को ज्ञान और योग से परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया था। ज्ञान क्रिया विशिष्ट कबीर की भक्ति में तत्कालीन सभी विचार-धाराओ और साधनाओ का सार सगृहीत था।

पिछले अध्याय मे जिन अनेक धार्मिक विचार धाराओ की ओर सकेत किया गया है उनमें से प्रमुख थी—१ सगुण वैष्णव भक्ति धारा २ ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति धारा, ३ नाथपथी योग धारा, ४ सूफी प्रेममार्गी धारा और ५ इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा। कबीर की साधना म इन सबके उपकरण सार रूप म मिलते हैं। कबीर की साधना के सबध मे अनेक मत प्रस्तुत किये गए हैं। कबीर के आलोचको ने अपनी अपनी रुचि एव खोज के अनुसार अपने अपने निर्णय दे दिये हैं। कुछ ने उन्हे सगुण भक्त कहा है, कुछ

ने ज्ञानी के रूप में अंकित किया है और कुछ ने उन्हे योगी माना है और कुछ ने सब कुछ भुला कर सूफी और इस्लाम का अनुयायी कहा है। रविवंचित्र्य उन्हे ईसाई धर्म से प्रभावित कहने की सीमा तक पहुच गया है। इन अनेक मतो के पीछे दो कारण दीख पडते हैं—एक तो यह कि कबीर ने कही भी अपने सिद्धान्तो का शास्त्रीय विधि से निरूपण नही किया और दूसरा यह कि उनके सारग्रहण म अनेक मतमतान्तरो का अतर इतना सूक्ष्म हो गया है कि उसके रहस्य का उदघाटन सरलता से नही किया जा सकता।

यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर पर अपने समकालीन वातावरण का प्रभाव पडा किंतु प्रभाव के ग्रहण करने म वे बडे सतर्क थे। इसका परिचय हम उन का सार–स्वीकृति और विकार–निषेध से मिलता है। हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कबीर ने किसी मत या पथ का खण्डन या उपहास नही किया। हा, उनम आ जाने वाले विकारो पर अवश्य ही व्यंग्यो का कशाघात किया है। दम्भ, पाखड और धूर्तता के प्रति तो वे बडे ही कटु हो गए हैं। उनकी यह कटुता असत्य और असार के प्रति थी। सार सत्य के प्रति नही थी। इस तथ्य की भाकी हमे इस पद से मिल सकती है—

> 'काजी कौन कतेब बखानै।
> पढत पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नही जानै॥
> सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु नबदू रे भाई।
> जोर खुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई॥
> हौं तो तुरक किया करि सुनति औरति सौं का कहिए।
> अरध सरीरी नारिन छूटै, आधा हिन्दू रहिए॥
> छाँडि कतेब राम कहि काजी खून करत हो भारी।
> पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झक मारी॥"

कबीर का कहना है कि धर्म का लक्षण वेशभूषा नही है, उसका सार तो सत्य है जो एक है और जिसे किसी धर्म या पथ से देखा जा सकता है। ढोग ढकोसले उस सत्य को छुपाते हैं और उन्हीं के आवरण मे वह अनेकता में प्रदर्शित होता है—

> 'कबीर यहु तो एक है पडदा दीया भेष।
> भरम करम सब दूरि करि, सबहीं माँहि अलेष॥"

तिलक-छापा, वेश-भूषा, मंदिर-मस्जिद आदि भेदसूचक हैं, भ्रम-मूलक हैं, सत्य नहीं हैं। भेदावलबी इस संसार-सागर से कभी पार नहीं उतर सकता --

"कबीर इस ससार कौं, समझाऊं कै बार।
पूंछ ज पकड़ै भेद की, उतरया चाहै पार॥"

इससे स्पष्ट है कि कबीर अपने वातावरण को बड़ी सूक्ष्मता से देख रहे थे। प्रभाव उनके चारों ओर छा रहे थे। किंतु उन्हीं को स्वीकार किया था जो उनकी मानसिक तुला पर पूरा उतरा था। वे चतुर शिल्पी की भांति प्रभाव के प्रस्तर को अपनी बुद्धि की टांकी से तराश कर अपनी रुचि के अनुकूल गढ कर उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देते थे। इसीलिए वे वैष्णव सूफी, योगी आदि अनेक रूपों में आलोचकों के समक्ष आ प्रकट होते हैं।

कबीर ने अपने पथ का आधार वैष्णव-धर्म को बनाया था जिस पर उपनिषदों की शिक्षा का विशेष प्रभाव है। उनके निर्गुण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म का अभेद तथा एकत्व के ज्ञान से मुक्ति आदि के सिद्धांत मूलत उप-निषदों में ही मिलते हैं। उनके 'भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तरि, कहै कबीरा'—शब्दों से वैष्णव भक्ति के प्रति उनका आकर्षण स्पष्ट है। वैष्णव धर्म के प्रति उनका झुकाव इतना है कि वे सिहर कर कह उठते हैं—

'कबीर धनि ते सुन्दरी, जिन जायो बैसनो पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत॥"

कबीर के कुछ सिद्धान्तों की प्रवृत्ति वैष्णव-धर्म के अनुरूप है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, अहिंसावाद, मायावाद, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के प्रति कबीर की आस्था और श्रद्धा वैसी ही है जैसी वैष्णव भक्तों की होती है।

इसके अतिरिक्त कबीर का परिचय बौद्ध-धर्म के महायानी रूप, वज्रयान, सहजयान, निरंजन-पथ, तन्त्रमत और नाथ-पथ और जैन-धर्म से भी था। कबीर की वाणी को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि वे सहजयानी और नाथपथी सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित थे। बाबा गोरखनाथ के प्रति

उनका आदर दीख पड़ता है, किन्तु उन नाथपंथी योगियों को खरी सुनाने में वे बिल्कुल नहीं हिचकते जिन्होंने योग को किंगरी, मेखला, सींगी, जनेव, मधारी, रुद्राक्ष, अधारी, गुदरी खप्पर झोला आदि में ही परिमित कर लिया है। इन चिन्हों को वे बाह्याडंबर मानते हैं और इनकी निंदा करते हैं। वे योगी के स्वरूप की मीमांसा करते हुए कहते हैं :—

"सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
राति दिवस न करई निद्रा॥
मन में आसन, मन में रहना।
मन का जप तप मनसूं कहना॥
मन में खाप्रा मन में सींगी।
अनहद नाद बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लंका॥"

उनके अन्य कई पदों से भी यही प्रकट होता है कि नाथ-पंथ के बाह्याडंबरों को भी उन्होंने आड़े हाथों लिया है। वे तो बाबा गोरखनाथ के अलख जगाने तक के भी समर्थक नहीं हैं और न वे उनकी साधना की प्रमुखता को ही स्वीकृति देते हैं। कबीर के लिए साधना गौण है, राम की कृपा मुख्य है। वे इस रामकृपा में विश्वास के समर्थक हैं। कबीर के राम उदार और भक्तवत्सल हैं और गोरखनाथ सिद्धों की ज्योति के उस अव्यक्त रूप में आस्था रखते हैं जो निरंजन है। यही कबीर का गोरख से अलगाव है। दोनों में एक और भी अन्तर है। कबीर के गुरु आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी हैं, अपितु परमात्मा के समकक्ष या साक्षात् परमात्मा हैं, जबकि बाबा गोरखनाथ के गुरु कायिक साधना और योग के विशेषज्ञ हैं। पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में गोरखनाथ का कबीर पर बहुत प्रभाव है। नाद, बिन्दु, सुरति, निरति आदि शब्द जिनका प्रयोग कबीर-वाणी में अनेक बार हुआ है, गोरखनाथ की टकसाल के ही सिक्के हैं। खंडन-मंडन की शैली और तीव्र प्रयोग भी कबीर ने गोरखनाथ से ही सीखे हैं। उनके वाक्यों में सिद्धों और नाथों का अक्खड़पन भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु कबीर के व्यक्तित्व की छाप कहीं भी छिपी नहीं है। उनका व्यक्तित्व उनकी भाषा

ग्रौर अर्थ में है। सहज, समाधि, शून्य, षटचक्र, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि पर उन्ही का रंग चढा हुआ है।

कबीर के 'अजपा जाप', 'उल्टी चाल' या 'उल्टी गंगा' आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको हम निरंजन-सम्प्रदाय में खोज सकते हैं। इसी प्रकार चक्रभेदन, कुण्डलिनी-चालन आदि बातें कबीर ने तंत्र-मत से ली हैं। 'कुंडलिनी' की मान्यता शाक्तों म भी थी, किन्तु उनके असयत आचरण के प्रति कबीर को बडी घृणा थी। इसीलिए वे कह उठे —

'चन्दन को कुटकी भलो, ना बबूर को अवराउ'।
बैस्नो की छपरी भली, ना साकत का बड गाउं॥"

ग्रौर भी,

"साकत बामण मति मिले, बैसनो मिले चंडाल।
अंक माल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल॥"

इन सब प्रभावो के परिणामस्वरूप कबीर का निर्गुण पंथ बडे समृद्ध रूप मे प्रकट हुआ। उसम व्यवस्थित साधना का विकास हुआ। भक्ति और योग की संगति पुष्ट हुई। माया के व्यवहारिक और सैद्धान्तिक भेदो के बल से मायावाद को तर्कों की भूमिका पर खडे होने का हौसला हुआ और अद्वैतवाद बहुत पूर्णता को प्राप्त हो गया। कबीर ने धर्म को अत्यन्त सहज, सरल, सात्विक और बुद्धिवादि रूप देकर धर्म और समाज का निकट संबध प्रकट किया।

इसके अतिरिक्त वातावरण के प्रति कबीर की प्रतिक्रिया भी हुई जिससे वर्णाश्रम के दर्प दंभ के प्रति उनका विरोध मतर्क हो गया। लोक और वेद के अधानुसरण के विरुद्ध उन्होने बहुत सी खरी खोटी बातें सुनायी और हठयोगियो की करामातो का विरोध करके उन्होने बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का खंडन किया।

: ६ :

सिद्धों और नाथों की परम्परा में कबीर

महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त उनके शिष्य-प्रशिष्यों में व्यावहारिक पक्ष की मान्यता घट गयी। साथ ही सरल सुगम धर्म साधना के स्थान पर दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार बौद्ध धर्म में मतभेद बढ़ गया और सम्प्रदाय बनाने की भावना का विकास होने लगा। प्रोफेसर कीथ के अनुसार साम्प्रदायिक उथल-पुथल के गर्भ में बौद्ध-धर्म कम से कम अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया उनमें से हीनयान और महायान नामक दो सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं। वास्तव में यान का अर्थ वाहन या यात्रा का साधन है। हीनयान नाम महायान सम्प्रदाय वालों ने ही प्रतिपक्षी सम्प्रदाय को दिया था।

चाहे हीनयान सम्प्रदाय के लोग प्रारम्भ में अपने लिये यह नाम पसंद न करते हों किन्तु उसमें केवल नैतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को ही स्थान दिया जाता था अतएव यह यथार्थवादी, अनत्ववादी और नैरात्म्यवादी ही रहा। इसके विरुद्ध महायान में सभी वर्ण, विचार एवं मत वालों को सरलता से समान स्थान मिल सकता था, अतएव उसे हीनयान की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता एवं गौरव प्राप्त हुआ और वह अधिक मानवीय लोकगम्य, सहज एवं समन्वमूलक समझा जाने लगा। इस मत ने बुद्ध को देवत्व पर प्रतिष्ठित कर, जातक कथाओं के आधार में बोधिसत्त्वों की उपासना को प्रेरित किया और बौद्ध-धर्म के मूल ढाँचे को ही बदल दिया।

इस सम्प्रदाय ने संस्कृत भाषा अपनायी, भक्तिवाद एवं तन्त्रोपचार की पद्धतियों का समर्थन किया। तन्त्रवाद के प्रभाव के कारण महायान वाले विभिन्न गुह्य साधनाओं की ओर आकर्षित हुए और गूढ़ातिगूढ़ रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के प्रजनन के कारण वे भी कई उपायानों में विभक्त हो गये। जिनमें इतनी

विभिन्नताएं आ गयी कि यह पहिचानना भी कठिन हो गया कि कभी उनका सम्बन्ध महायान से रहा होगा। उनमें साधना की उलझने, मत्रो की जटिलताए, योग, समाधि, तत्रो, मत्र तथा डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि का महत्त्व बढ गया। मत्रो मे लोगो की आस्था इतनी बढ गयी कि मत्रो, के विभिन्न प्रयोगों द्वारा ही उनके परिणामो का अनुमान कर लिया जाता था।

इसके समानान्तर ही महायान सम्प्रदाय मे वाम-मार्ग की धारा भी प्रवाहित होने लगी जिसकी विकृतावस्था के कहने की आवश्यकता नही है। वे बौद्ध साधक जो मत्रो द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में विश्वास करते थे और मत्रयान सम्प्रदाय का प्रचार करते थे सिद्ध कहलाने लगे। शकर के आलोक से जब बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त अभिभूत होने लगे तो आन्ध्र शासको के अनुराग के कारण उनकी राजधानियो (प्रतिष्ठान और धान्यकटक) के निकट श्रीपर्वत उन सिद्धो का प्रधान केन्द्र हुआ। मत्रयान सम्प्रदाय धनलोलुप होने के कारण विलासिता की ओर प्रवृत्त हुआ और वह उस सीमा तक पहुची कि वह 'भैरवी चक्र' के रूप मे सदाचार की भी अवहेलना करने लगा। अब उसका परिवर्तित रूप वज्रयान हो गया। यह परिवर्तन सन् ८०० ई० के आस पास हुआ और वज्रयान मे मत्र और योग के साथ मद्य और मैथुन भी सम्मिलित हो गया। आठ सौ वर्ष बाद महायान के सदाचार की यह दशा हुई। सन् ८०० से सन् ११७५ ई० तक वज्रयान सम्प्रदाय अपने दिन देख कर पतनोन्मुख हो गया। आगे चल कर वज्रयान सम्प्रदाय पाल शासको का आश्रय लेकर बिहार से आसाम तक फैल गया। वज्रयान के प्रचारको के प्रसिद्ध चौरासी सिद्धो की भी गणना की जाती है जो अपनी चमत्कारपूर्ण सिद्धियो और विभूतियो के लिए प्रसिद्ध थे। इनमे प्राय. सभी वर्ग के साधक थे। उनमे शूद्रो की अधिकता थी।

इस कारण इनमे वर्ण और वर्ग भेद की भावना थी। प्रत्येक वज्रयानी साधक एक महामुद्रा के सम्पर्क मे अवश्य रहता था। वह किसी नीच जाति की रूपवती स्त्री को अपने लिए चुन लेता था और फिर गुरु के आदेश से उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। उसके सहवास में रहकर ही उस साधक की हर प्रकार की साधना चला करती थी। उन दोनो की वृत्तियो मे साम्य लाने के प्रयत्न सहवास के द्वारा ही किये जाते थे।

इन सिद्धातो के कारण साधना काम-वासना प्रधान बन गयी। दुर्व्यसन उनकी साधना बन गये थे। उनके सहवास में 'समरस' व 'महासुख' का रहस्य निहित था। इस का दुष्प्रभाव समाज में बड़ी तीव्रता से फैलने लगा।

आगे चल कर धीरे धीरे यह वज्रयानी सम्प्रदाय ही सहजयान सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। चौरासी सिद्धो में से बहुत से साधना के वास्तविक रहस्य को जानते थे। अतएव उन्होंने साधना के पथ से जटिलता को दूर करके सहज भाव की स्थिति का महत्त्व दिया। इसी कारण उनका सम्प्रदाय सहजयान नाम से अभिहित हुआ। उनके मत से साधना ऐसी होनी चाहिये जो चित्त को विक्षुब्ध न होने दे अन्यथा सिद्धि असम्भव है। सहजयानियो ने मंत्रयान और वज्रयान में प्रचलित मंत्र आदि बाह्य साधनो की उपेक्षा करके मानसिक शक्तियों के विकास पर ही विशेष ध्यान दिया। उन्होंने अपने पूर्वजो के मूल पारिभाषिक शब्दो का स्वीकार करते हुए भी उनको अपनी व्याख्या से विभूषित किया। इस प्रकार वज्रयान में जो वज्र शब्द पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक था वह सहजयान में उस प्रज्ञा का बोधक बना लिया गया जो बोधिचित्त का सारस्वरूप है।

सहजयान में योग साधना के हेतु गुरु से दीक्षा लेना अनिवार्य था और वह गुरु अपने शिष्यो की अन्तर्वृत्तियों का परीक्षण करके ही साधना विशेष में प्रवृत्त करता था और उसी के अनुसार वह किसी कुल या वर्ग का सदस्य समझा जाता था। बौद्धो के पंचस्कंधो या मूल तत्त्वो के अनुसार डोबी, नटी, रजकी चाडाली, और ब्राह्मणी—ये पाच प्रकार के कुल होते थे। वस्तुत वज्रयान और सहजयान दोनो सम्प्रदायो का लक्ष्य 'महासुख' या 'पूर्णानन्द' प्राप्त करना था। यह समरस दशा सहज ही कही जाती थी। इसी कारण सम्प्रदाय का नाम सहजयान पड़ा।

सिद्धो का समय वि० स० ७६७ से १२५७ तक माना जाता है। मान्यता तो यह भी है कि सिद्ध परम्परा आगे चलकर मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ के हाथो में नाथ-पंथ के नाम से अभिहित हुई जो बारहवी शताब्दी के आरम्भ से चौदहवी शताब्दी के अन्त तक चलती रही। यही नाथ-पंथ सन्तकाव्य का अधिकांशत प्रेरक रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ आदि सिद्धो की टकसाल के ही सिक्के थे। अतएव सन्त-साहित्य की नींव को वस्तुत सिद्धो ने ही डाला था।

सिद्धो मे वर्ण-भेद के प्रति घृणा थी। आदि सिद्ध सरहपा जो स्वय ब्राह्मण भिक्षु थे, जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने सहजयान सम्प्रदाय मे इसको पनपने नहीं दिया। उन्होने ब्राह्मणो की आलोचना करते हुए कहा—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे—जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो ये भी दूसरो की तरह उत्पन्न होते हैं। तो ब्राह्मणत्व रहा कहा? यदि यह कहा जाये कि सस्कारवश ब्राह्मण होता है तो फिर चाडाल मे भी सस्कार करने दो, वह भी ब्राह्मण हो जायेगा। यदि वेदाध्ययन से कोई ब्राह्मण बन सकता है तो चाडालो को भी वेदाध्ययन करके ब्राह्मण क्यो नही बनने दिया जाता?" इसी प्रकार सिद्धो ने वेदवाद की आलोचना की और कहा—"पाठसिद्ध न होने से वेदो की प्रामाणिकता असिद्ध है। वे परमार्थ नही हैं क्योकि उनमे शून्य की शिक्षा ही नही है। अत उन्हे व्यर्थ की बकवास समझना चाहिए।"

इतना ही नही इन सिद्धो ने धार्मिक आचार-विचारो पर भी वाक्प्रहार किये और यज्ञादि की व्यर्थता बतलायी। सरहपा ने कहा—"यदि अग्नि मे घृत डालने मे ही मुक्ति मिलती है तो फिर यज्ञादि सबको क्यो नही करने दिये जाते, जिससे सब के सब मुक्त हो जायें। यज्ञ करने से मुक्ति चाहे प्राप्त होती हो या न होती हो किन्तु धुआ लगने से नेत्रो को तो पीडा पहुचती ही है।" इसी प्रकार शिवोपासको का उपहास करते हुए सरहपा ने कहा, "ये शिव के भक्त शरीर मे भस्म लगाते है, सिर पर जटा धारण करते है, दिया जला कर घर मे बैठते हैं और ईशानकोण मे बैठकर घटा बजाया करते हैं, आसन बाध कर आखे मूदा करते है तथा लोगो को व्यर्थ ही धोखा देकर गुमराह करते हैं। बहुत से लोग इनके बहकाने मे आ जाते है परन्तु जब कोई वस्तु है ही नही तो फिर ईश्वर भी एक पदार्थ है और वह भी कैसे रह सकता है?" इस प्रकार सरहपा और उनके अनुयायियो ने वैष्णव, शैव आदि धर्मों की साधना पद्धतियो का कटु उपहास किया और सहज साधना को ही श्रेष्ठतम साधना मान कर उसी का प्रचार किया।

सरहपा ने चित्त की शुद्धि का अपूर्व साधन वज्रयानियो में प्रचलित योगिनी-मार्ग को माना है। जो उस मार्ग को पूर्णत समझता हुआ अपना चित्त उसी मे लगाता है, वस्तुत उसी को चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है। सम्प्रदाय मे इसके अनेक नाम हैं। कही यह अवधूती, कही चाडाली, कही डोम्बी था कही

बगाली से अभिहित है। यह एक ऐसा राज मार्ग माना जाता है जो वैराग्य से बिलकुल भिन्न एव विपरीत है। इसके अनुयायी घर म भार्या के साथ निवास करते हुए भी मुक्त हो सकते हैं। वास्तव म सहजयानी साधना का अन्तिम लक्ष्य चित्त शुद्धि है। इसी से सहजावस्था सुगमता से प्राप्त हो सकती है। जो इस सहज का परित्याग करके निर्वाण प्राप्त करना चाहता है मानो वह आकाश कुसुम की गध सूघना चाहता है।

सहज साधना म एक चित्त ही सब का बीज रूप है। बधन और मुक्ति का उद्भव यहीं से होना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्त चित्त ही मुक्ति का साधन है। प्रबद्ध चित्त केवल बधन म डाल सकता है। जड-जीव जिस चित्त के कारण बधन म पडते हैं वही विवकियो को मुक्त करता है।

> चित्तेक्केस प्रलबीअ भयणिव्वाणोवि जस्सविफुरंति ।
> त चितामणिरूअ पणयह इच्छा फल देन्ति ।।
> चित्ते बज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ णत्थिसन्देहा ।
> बज्झन्ति जेण विजडा लहु परिमुच्चन्ति तेणवि बुहा ।।"

गीता म भी बध और मुक्ति का कारण मन ही माना गया है। जो मनोजित् है वही बडा भारी योगी होता है। सहजयान सम्प्रदाय म भी मनका शून्यीकरण इष्ट है। शून्य दशा म मन इंद्रिय-विषयो की अनुभूति नहीं करता मनातीत होने के कारण वह सब सुख 'अद्वय' कहलाता है। इसी को अमनीकरण, नि स्वभावीकरण या मन का मार डालना कहते हैं। कबीर आदि सन्तो का 'अमन या 'उन्मन' भी यही है। अमनीकरण की स्थिति के अभ्यास को अनेक रूपको द्वारा प्रकट किया गया है। रुई धुनने या हरिण की आखेट के रूपक उनके सुन्दर उदाहरण हैं।

सहजयानी सिद्धो ने अपनी साधना पद्धति म योग की अनेक प्रक्रियाओं का भी स्थान दिया है। प्राणायाम की उस दशा मे जहा इडा पिंगला मिल जाती हैं अर्थात् दोनो स्वरो से वायु का गमनागमन निरुद्ध हो जाता है, सहज या महासुख का आविर्भाव होता है। इस महासुख-कमल किंजल्क का पान योगी शरीर के भीतर ही प्राप्त कर लेते हैं। वह आनन्द 'सुरत-वीर' के सुख के समान होता है।

इस महासुख-कमल के दो खड है—'ललना' (चन्द्रानाडी) और 'रसना' (सूर्या-नाडी)। यह पादप नभ रूपी जल मे परमानन्दमय प्रकाश-पथ मे उत्पन्न होता है। मूल शक्ति उसकी नाल है और अनाहत-नाद उसका रूप है। जहा वायु और मन एक साथ निश्चल हो जाते हैं वह 'उद्गमेरु' (सुषुम्ना का सिरा) है। उसकी कल्पना पर्वत-शिखर के समान की गई है वह महामुद्रा और मूलशक्ति का निवास-स्थान माना गया है। जिस प्रकार वज्रयानियो ने महामुद्रा की साधना में व्यभिचारपरक चित्र प्रस्तुत किये थे, उसी प्रकार सहजयानियो ने भी प्रस्तुत किये। साधक के एकान्तविहार और प्रेम-विलास की अवस्था भी उन्होने उसी प्रकार चित्रित की, किन्तु अपनी साधना को स्पष्ट करने के लिए उन्होने भिन्नार्थ प्रकट किया।

सहजयान सम्प्रदाय में एक युगनद्ध की भावना भी विद्यमान थी। उनकी बोधिचित्त को सवृत अवस्था मे ले जाने का विशेष महत्त्व है। बोधि-चित्त का यह पथ इडा तथा पिगला-नाडी से होकर मध्या-नाडी सुषुम्ना से जाता है जिसमे उसे मध्यमार्ग भी कहते हैं। 'सहजमार्ग' से अभिहित सहज-यानियो की यह साधना उजूबाट (ऋजुवाट) अथवा सरल मार्ग के रूप में चित्रित की गयी और विशुद्ध सात्विक जीवन का मार्ग मानकर उसके द्वारा विश्व-कल्याण तक की आशा की गयी।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-धर्म सदाचरण की साधना के रूप म प्रारंभ हुआ था उसने परिवर्तनो के गर्भ म अनेक रूप धारण किये, किन्तु वज्रयान मे उसका अति विकृत एव वीभत्स रूप प्रस्तुत हुआ। सहजयान ने अपने प्रयत्नो से कुछ सुधारो को जन्म अवश्य दिया और ये प्रयत्न चौदहवी शताब्दी तक होते रहे किन्तु वह भी अपनी प्रवृत्तिया दूसरे नये सम्प्रदायो को सौंप कर उनमें विलीन हो गया। सहजयान को चाहे वज्रयान की ही एक प्रशाखा मान लिया जावे परन्तु उसके दृष्टिकोण की विशेषता भुलायी नही जा सकती। वस्तुत सहजयान ने ईश्वरवाद की प्रेरणा दी और स्वाभाविक धर्म और आचरण का प्रतिपादन किया।

सिद्धो का साहित्य अनेक सग्रहो में मिलता है। उन्हो ने किसी सुसस्कृत भाषा को व्यवहार में न लाकर सर्व-सामान्य जन-भाषा का ही प्रयोग किया। भिन्न-भिन्न विद्वानो ने उन्हे भिन्न-भिन्न भाषाओ से सम्बन्धित किया है। कोई उन्हें बगला का आदि कवि कहता है और कोई अवधी का। वस्तुत. वे अप-

भ्रष्ट वे ही कवि हैं। उनकी भाषा प्रमुखतया मागधी अपभ्रंश है। कुछ विद्वानों ने उसे 'सध्या' भाषा कहा है और इस शब्द के अनेक अर्थ किए गये हैं। कुछ विद्वानो ने सध्या भाषा उस भाषा को कहा है जिसम सध्या का आलोक और अधकार दोनो का मिलन हो अर्थात् जिसम स्पष्टता के साथ अस्पष्टता भी हो। कुछ विद्वानो के अनुसार सध्या भाषा वह भाषा है जो देशा के सधि प्रदेश म बोली जाय। कदाचित बगाल और बिहार की सीमा पर निर्मित होने के कारण सिद्ध भाषा को सन्ध्या नाम दिया गया। कुछ विवेचको ने अभि सन्धि (रहस्य) से सम्बन्धित करके इसको यह नाम दिया है। प० विधुशेखर शास्त्री ने इस शब्द को सधा कहा है और उसे सस्कृत शब्द सधास (अभि प्रेत) का अपभ्रंश रूप मानकर उसको अभिसधि सहित या अभिप्राययुक्त भाषा माना है। विद्वानो ने अपने अपने तर्को से इन तीनो मतो को काट दिया है। डा० रामकुमार वर्मा ने सन्ध्या भाषा' उस भाषा को कहा है जो अपभ्रंश के सध्याकाल म प्रयुक्त हुई। मेरी समझ म यह मत भी निर्दोष नहीं है क्योकि ऐसी भाषा का जन्म उपनिषद काल म ही हो गया था। वज्रयान ने इस भाषा का पर्याप्त विकास किया और तेरहवी चौदहवी शताब्दी म तो कुछ सम्प्रदायो म यह भाषा प्रचलित हो गयी। अवश्य ही सध्या भाषा नाम बहुत बाद का है जो स्पष्टास्पष्ट दोनो अर्थो का एक साथ ही द्योतन करता है। यह भाषा वाच्यार्थ म छिपा कर कोई दूसरा अर्थ भी देती है। इसी गूढागूढता के कारण सभवत उसका यह नाम दिया गया।

सिद्ध काव्य म गूढता और अगूढता के सबध से एक ही साथ दो रस निष्पन्न होते कहे जाते हैं—शृङ्गार और शान्त। इन दोनो के निर्वाह म ही कौशल निहित है। रूढियो के खडन, सदाचार के प्रतिपादन और मध्यमार्ग के प्रतिष्ठापन के साथ सिद्धो ने जिस महासुख की गवेषणा की है उसम नैतिक और मानसिक धरातल पर शान्ति और आनन्द की भावना का विनिवेश है। सिद्ध लोग दुख और नश्वरता से घबरा कर निराशावाद का आश्रय लेने के समर्थक नहो हैं। वे तो वास्तव म निराशा म आशा की कान्त किरण दिखला कर महासुख की ओर प्रेरित करते हैं। वे जीवन के सकलन मे रस प्राप्त करते हैं विकलन म नही। शृङ्गार रसोर्मिया कही कही अश्लीलता अभिव्यक्त करने लगती हैं। जिस के मूल म वज्रयानी प्रभाव है।

सिद्धो का साहित्य चाहे साहित्यिक निकष पर पूरा न उतरता हो किन्तु लोक-भाषा के प्रचलन मे उनका महत्वपूर्ण योग रहा। भाषा की लाक्षणिकता, एक नयी शैली के बीज भी इन्ही लोगो ने लोक-भाषा म बोये थे।

सिद्ध-साहित्य ने गीतिकाव्य के क्षेत्र मे भी अपना योग दिया और जन-मन को आकर्षित करने के लिए दोहो के साथ छोटे-छोटे पदो का प्रचलन भी किया। सगीत साधना के प्रति अभिरुचि होने के कारण कुछ सिद्धो ने तो अपनी रचनाओ को सगीत के घाट उतारने का ही उपक्रम किया। वीणापा नामक सिद्ध की रचनाओ मे राग-रागनियो की सहज-सयोजना हुई है।

छन्दो के क्षेत्र म सिद्धो को आचार्य होने का गौरव तो नही दिया जा सकता किन्तु दोहा, चौपाई, छप्पय आदि छन्दो के प्रचलन म उनका योग अवश्य रहा। उन्होने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिये तो प्राय दोहा-छद की ही सहायता ली। कुछ लोग भ्रमवश दोहा-चौपाई वाली शैली मे प्रबन्ध-काव्य की सृष्टि करने का श्रेय सूफी कवियो को देते हैं किन्तु सरहपा तथा कृष्णाचार्य के ग्रन्थो म इस शैली का प्रणयन स्पष्ट है। इन से भी पहले जैन कवियो ने अप-भ्रश मे इस शैली का प्रवर्तन किया था और दस-दस बारह-बारह चौपाइयो के बाद छत्ता, उल्लाला आदि के योग से प्रबन्ध-काव्य लिखने की परम्परा भी उस समय अधिक प्रचलित हो चुकी थी। फिर भी छन्द-साधना म सिद्धो के महत्व को भुलाया नही जा सकता।

इस प्रकार हिंदी की साहित्यिक परम्पराओ के निर्माण म ही सिद्धो का योग नही है, अपितु धार्मिक और सास्कृतिक विचार-धारा की दृष्टि से भी उनका योगदान स्मरणीय है। धर्म के विकास की दिशा में सिद्धो ने एक बडा महत्वपूर्ण कदम उठाया। उस क्षेत्र में नाथ-सम्प्रदाय ने कुछ और प्रगति की। आगे चलकर साहित्य मे जिस रहस्यवाद ने व्यवस्थित रूप में अपनी अभि-व्यक्ति की वह सिद्ध साहित्य से ही प्रेरित हुआ था। वर्ण और वर्ग के विरोध में समता की जिस भावना का उदय हुआ हिन्दी का परवर्ती साहित्य उसके मूल्य को नहीं भुला सकता।

नाथ-पथ को भी सिद्ध-साहित्य की ही एक शाखा कह सकते हैं। यह सत्य है कि कुछ सिद्ध नाथ ही थे। त्रिपुरा विषयक तात्रिक साहित्य के इतिहास में नाथो के नामो का प्राचुर्य है। नाथों की बहुत सी बातें जिस प्रकार वज्र-

यानियों सहजयानियों तान्त्रिकों नपुरा वीराचार्यो से मिलती है उसी प्रकार शवों सहजियों और बाद के वष्णवों से मिलती है। महायानियों और तान्त्रिकों का सम्बन्ध अध्ययन का एक रोचक विषय है। महायानियों का शून्यवाद हठयोग तन्त्र आदि में कसे प्रविष्ट हो गया और बाद के बौद्ध सम्प्रदायों में उसकी व्याख्याए क्या से क्या हो गया यह भी एक रोचक विषय है। इन मतों का सम्बन्ध रासायनिकों के दशन से होने के कारण उसका अध्ययन भी आवश्यक है। वष्णवों के रसवाद पर सिद्धों से सम्बन्धित रहस्य विज्ञान के विकास का बहुत प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि कबीर जैसे वष्णव के वाणी प्रवाह में इस परम्परा की लहर छिटक रही है तो आश्चय की क्या बात है।

वस तो नाथ लोग अपनी उत्पत्ति शिव से बतलाते हैं जिनको वे नाथ कहते हैं इसीलिए पथ का नाम नाथ पथ है। साहित्य में नाथ-पथ को सिद्ध-माग या अवधूत माग भी कहा गया है और इस मत के आचार्यों ने सिद्धि के लिय योगाभ्यास पर विशेष बल दिया है इसलिये यह योग माग नाम से भी अभिहित है। कुछ अशो में कापालिकों का भी नाथों से घनिष्ठ सबध है किन्तु वह अपने आप में एक स्वतन्त्र मत के अनुयायी हैं। कहने के लिए तो कापालिक मत के प्रवतक आदिनाथ ही माने जाते हैं किन्तु इसके सिद्धान्तों और आचारों में इसका अपनापन स्पष्ट है।

नाथ पथी अपने मत की दिव्योत्पत्ति में विश्वास करते हुए मत्स्येन्द्र नाथ को मत प्रवतक मानते हैं। इनका इतिहास अनेक दन्तकथाओं से आवृत होते हुए भी यह मानने में बाधा नहीं डालता कि मत्स्येन्द्रनाथ एक बड़े योगी थे। इनके सबध में यह कहा जाता है कि बड़ी भारी योगशक्ति के होने पर भी ये वासना के पाश में पड़ गये, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने उन्हें बड़ी कठिनता से उससे मुक्त किया।

मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्यों मे योग्यतम गोरखनाथ ही थे। भारतीय महापुरुषों में उनका नाम अमर रहेगा। वे बड़े भारी सिद्ध ही नहीं आधुनिक हठयोग के जन्मदाता भी थे। वे मध्यकाल में यौगिक रहस्यवाद के प्रसिद्ध सचालक थे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद जी शास्त्री का कहना है कि मूलत गोरखनाथ बौद्ध थे। बाद में वह नाथ हो गये।

तारानाथ के अनुसार उनका बौद्ध नाम अनगवज्र था किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार उनका नाम रमणवज्र था। यह सत्य हो सकता

है किन्तु कायाबोध मे जो गोरखनाथ की रचना के रूप मे प्रसिद्ध है, एक कहावत आती है जिससे वे 'परवारम्भक' प्रकट होते हैं। यदि 'आरभ' शब्द बलिदान (Sacrificial slaughter) का वाचक है तो गोरखनाथ नाथ होने से पूर्व बौद्ध कदापि नही हो सकते।

गोरखनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ का समय निश्चित नही है। परम्परा उन्हे कबीर (१५०० ई०) और मधुसूदन सरस्वती (१७०० ई०) मे सम्बद्ध करती है, किन्तु शायद इसका कोई ऐतिहासिक मूल्य नही है। ज्ञाननार्थ या ज्ञानदेव ने, जिनका होना १३वी शताब्दी मे माना जाता है, अपनी भगवद्-गीता की टीका मे अपनी गुरु-परम्परा म उनको तीसरा माना है। यह परम्परा इस प्रकार दी गयी है— १. आदिनाथ, २ मत्स्येन्द्रनाथ, ३ गोरखनाथ, ४ गहिनीनाथ, ५ निवृत्तिनाथ और ६. ज्ञाननाथ। इससे गोरखनाथ का १२वी शताब्दी के आरभ मे होना सिद्ध होता है। इससे गोरखनाथ और धर्मनाथ समसामयिक और एक ही गुरु के शिष्य भी सिद्ध हो जाते हैं परन्तु कुछ अन्य मतों के अनुसार गोरखनाथ का जीवन-काल ५०० ई०, ७०० ई० या १००० ई० भी माना जाता है। गोरखनाथ के अनेक शिष्य थे। उनमें से, बालानाथ, हालिकपाव, मालिपाव आदि प्रसिद्ध थे। राजा गोपीचन्द की राजमाता मयनामती गोरखनाथ की ही शिष्या बतलायी जाती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से नाथ लोग अद्वैतवादी नही थे और न द्वैतवादी ही थे। वे दोनो से भिन्न थे। नाथ को वे परमेश्वर कहते हैं जो सगुण और निर्गुण से सबधित विरोध से परे है। उनकी दृष्टि में जीवन का परम लक्ष्य नाथ रूप मे आत्मानुभूति करना और सबधो की दुनिया से सदैव ऊपर रहना है। इस अनुभूति का मार्ग योग बतलाया गया है जिस पर उनका प्रमुख बल रहता है। नाथो की यह धारणा है कि योग के बिना सिद्धि प्राप्त करना असभव है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति, जिसे कुछ लोग गोरखनाथ की कृति बतलाते हैं और कुछ नित्यनाथ की, तो यहा तक कहती है—

"सन्मार्गश्च योगमार्गः, तदितरस्तु पाषण्डमार्गः।"

योग की चाहे कुछ भी परिभाषा रही हो किन्तु अपने नाम के समय से ही हठयोग की परिभाषा वही है। सि० सि० पद्धति में उसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ॥"

ब्रह्मानन्द के अनुसार यहा सूर्य और चन्द्र क्रमश प्राण और अपान के प्रतीक हैं और उनका योग ही प्राणायाम है जो वास्तव म हठयोग का अर्थ है। वायु विजय (प्राण निरोध) ही हठयोग का सार है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार का प्रचलन भारत म नाथो ने किया था। हठयोग प्रदीपिका (१ ४) म कहा गया है कि इस योग का रहस्य केवल मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ को ही विदित था। ब्रह्मानन्द ने जालन्धर भर्तृहरि और गोपीचन्द के नाम और जोड दिए हैं। इन सब लोगो का सबध नाथपथ स था। अतएव यह सभव है कि गोरक्षनाथ, या अधिक सभवत म स्येन्द्रनाथ हठयोग के आदितम प्रचारक थे। इसका इस उक्ति से कोई विरोध समझने की आवश्यकता नही है—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या (ह० यो० प्र० १-१) क्योकि प्रत्येक विद्या एक प्रकार से परमेश्वर से निकली हुई कही जा सकती है।

हठयोगविद्या की नीव नाथो ने डाली, इसका निणय करना कठिन है क्योकि एक अन्य परपरा के अनुसार हठयोगियो के दो सम्प्रदाय हैं—एक प्राचीन और दूसरा आधुनिक, जिनकी नीव क्रमश मार्कण्डेय और नाथो ने डाली—

"द्विधा हठ स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधित।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यै साधितो हठसंज्ञक ॥"

मार्कण्डेय द्वारा प्रवर्तित हठयोग म अष्टाग की मान्यता है किन्तु दूसरे सम्प्रदाय ने हठयोग म स यम-नियम को निकाल कर उसे षडङ्ग बना दिया। यदि इस परपरा मे कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यही कहना उचित है कि नाथो ने प्राचीन मृतप्राय विद्या को पुनर्जीवन दिया। यह मत अधिक ग्राह्य भी लगता है।

अब प्रश्न यह है कि जब राजयोग पहले से ही उन्नत दशा म था तो हठयोग के पुनर्जीवन की क्या आवश्यकता थी ? यह तो स्वय सिद्धो ने भी

स्वीकार कर लिया था कि अपने पूर्णतम रूपो में भी हठयोग राजयोग का केवल सहयोगी या सोपान है। पतजलि का योग प्रमुखत राजयोग सिद्धान्तो पर आधारित है। इसी प्रकार जैन और बौद्ध सम्प्रदायो में मान्य योग भी राजयोग पर आधारित है यद्यपि हठयोग की सरल क्रियाओ की उपयोगिता इन सभी ने स्वीकार की है।

हठयोगियो का ऐसा विश्वास है कि साधारण लोगो के लिए जिनका मन पर बिल्कुल अधिकार नही, राजयोग का अभ्यास असम्भव है। मत्रयोग ध्यान-योग का अभ्यास यदि समुचित रूप मे किया जाये तो राजयोग की सिद्धि तक पहुचा सकता है किन्तु इनको भी सशक्त बनाने के लिए मनोयोग या मन-साधना की आवश्यकता है जो साधारण भक्ति की शक्ति से बाहर की चीज है। मगर हठयोग की नीव शरीर की कुछ यात्रिक क्रियाओ पर होने से उसी को एकमात्र वैज्ञानिक योग कह सकते हैं और सामान्य व्यक्ति के लिए उसकी सुगमता भी स्वय सिद्ध है क्योंकि इसकी साधना में किसी प्रकार की मानसिक शक्ति, जिसकी अन्य प्रकार के सभी योग मे थोडी-बहुत आवश्यकता रहती है, अनिवार्य नही है।

यह तो प्रारम्भ में ही कह दिया गया है कि हठयोग का सार प्राण-विजय है और इस देश के सभी लोग यह मानते हैं कि बिन्दु (वीर्य), वायु (प्राणवायु) तथा मन का एक दूसरे से गहन-सबध है। इससे किसी एक के निरोध से शेष दो अपने आप निरुद्ध हो जाते हैं। हठयोगी अपनी साधना का आधार ब्रह्मचर्य या वीर्य-निरोध मान कर चलते हैं। अतएव उनकी साधना का प्रथम सोपान वायु निग्रह बनता है और उससे वह मनोनिग्रह म प्रवृत्त होते हैं। समग्र क्रियाओ और प्रयत्नो का सार यही मनोनिग्रह है। वायु-निग्रह को सरल बनाने के लिए आसन, मुद्रा और नादानुसधान की आवश्यकता बतलायी जाती है।

आसन का निरन्तर अभ्यास शरीर को हल्का, स्वस्थ और दृढ बनाता है। एक बार इन गुणो के उपलब्ध हो जाने पर स्वभावत उनकी प्रतिक्रिया मन पर होती है। मुद्रा का अभ्यास कुडलिनी शक्ति को जगाने के लिए अभिप्रेत है क्योंकि उसकी सजग प्रेरणा के बिना कोई भी चिदनुभूति असभव है और नादाभ्यास या नादानुसधान का सीधा सबध मन से है। इससे मन की चचलता नष्ट होकर वह स्थिर होता है।

जैसे ही मन निश्चल होता है तथा वायु ब्रह्मरन्ध्र में विलीन होती है कि उस शान्तावस्था का उदय होता है जिसे लय, मनोन्मनी या सहजावस्था कहते हैं। यह परमानन्द की अवस्था होती है। इस संबंध में यह ध्यान देने की बात है कि उक्त अभ्यास या प्रक्रियाएं एक-दूसरी से संबंधित हैं।

नादानुसंधान समुचित रूप से तभी हो सकता है जबकि चेतन हृदय से उठनेवाली अविरल आभ्यन्तरिक शब्द-धारा जब श्रवणीय बन जाय। यह शब्द वास्तव में तभी सुनायी पड़ सकता है जबकि वायु सुषुम्ना और उसकी अनेक प्रशाखाओं में प्रविष्ट हो जावे। इसके लिए नाड़ी-शोधन भी आवश्यक है। जब नाड़ियां परिशुद्ध हो जाती हैं तो अनाहतनाद सुनायी पड़ने लगता है इनकी शुद्धि के लिए आसनों और मुद्राओं की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत आसन-सिद्धि उस समय तक असंभव है जब तक कि शरीर के स्थायित्व के विरोधी सूक्ष्म कारण पूर्णतः दूर न हो जाये।

गोरखनाथ ने जिस हठयोग पद्धति का प्रचार किया वह प्राचीन परंपरा से विशेषतया भिन्न नहीं है। वस्तुतः हठयोग में बड़ी उत्कृष्ट प्राणविद्या निहित है। गीता, गोरक्षसंहिता एवं हठयोग प्रदीपिका में हठयोग के महत्त्व के प्रतिपादन के साथ उसे राज-योग की आधार-शिला कहा गया है। आसन, मुद्रा और प्राणायाम की सिद्धि के साथ ही साथ हठयोग समग्र सृष्टि में परिव्याप्त महाकुंडलिनी शक्ति को भी प्रधानता देता है। हठयोगियों का कहना है कि गर्भ में जीव इसी कुंडलिनी और प्राण-शक्ति के साथ प्रविष्ट होता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट ही रहती है। वह मेरुदण्ड में स्थित त्रिकोणचक्र के स्वयंभू लिंग का साढ़े तीन वलयों से परिवेष्ठन किये हुए हैं। कुण्डलिनी या सर्पिणी की भांति साढ़े तीन वलयों में स्थित होने से यह कुण्डलिनी कहलाती है।

अनेक मुद्राओं और क्रियाओं का लक्ष्य कुण्डलिनी जागरण है जिसका संबंध, आसनों की सफलता से है। वस्तुतः इन सब यांत्रिक क्रियाओं (Mechanical devices) का लक्ष्य केवल उस दिव्य शक्ति को मुक्ति और सक्रियता है, जो मनुष्य के भीतर भौतिक भार से दबी हुई सुषुप्त एवं निष्क्रिय पड़ी है। सुषुम्ना का यह मार्ग साधारणतया अवरुद्ध रहता है। योगी अपनी साधना से उसे साफ कर देता है।

नाथों के योग का विशेषता यह थी कि उसम सयम के कायिक पक्ष पर विशेष बल दिया गया था । इसका सबध शारीरिक नाडी विषयक तथा प्राणतत्री सबधी ज्ञान मे विशेष है । नाथो का सामान्य सिद्धात उन भौतिक तत्वो का ज्ञान है जिनको हम जाग्रत अवस्था मे स्थूलतम रूप म पाते हैं और सम्प्रज्ञात या तथाकथित सस्मिता-समाधि में सूक्ष्मतम रूप म अनुभव करते हैं। भौतिक तत्त्वो म आवृत जीवात्मा का ज्ञान जगत् में आवृत विश्वात्मा के ज्ञान से अभिन्न है केवल सीमाओ के सावधानी से निवारण करने की आवश्यकता है । हठयोगियो के मत से उनके निवारण का निश्चित एव सत्वर मार्ग वायु को क्रमश उस समय तक ऊर्ध्वगामी बनाना है जब कि सहस्रदल-कमल के उच्चतम तल पर चेतन तत्त्व में विशुद्ध-तत्त्व की प्राप्ति न हो जावे ।

आत्मा पर दुहरा आवरण पड जाता है—एक तो भूतस् का और दूसरा मनस् का। मन शब्द का प्रयोग यहा व्यापक अर्थ म किया गया है जिस के अन्तर्गत बुद्धि, अहकार आदि भी आ जाते हैं। इन्द्रिया मन का व्यापारिक रूप हैं। भूतस् शब्द सापेक्ष सन्तुलन की अवस्था मे पदार्थ का वाचक है । इस के अन्तर्गत पचतन्मात्राए—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गध आ जाते हैं । प्रत्यक तन्मात्रा का अपना केन्द्र होता है जहा विकास और सकोच की योग्यता रहती है । चेतना के भूतस् मे आवृत होते ही मन अपना विकास इन्द्रियो मे करता है। इन्द्रिया पदार्थ ज्ञान के सिवा और कुछ नही करा सकती । इन्द्रियो से विलग किया हुआ मन ही अतीन्द्रिय ज्ञान का उद्भव करा सकता है । मन इन्द्रियो से जितना विलग होगा ज्ञान उतना ही शुद्ध होगा । मन के विलगीकरण का अभिप्राय ही ध्यान और उसकी शुद्धता है। स्थूल भूत से आलिप्त मन स्थूल—इन्द्रियाबद्ध कहलाता है। इस दशा मे वायु की गति भी सरल एव अर्ध्व नही होती ।

शरीर में वायु को तिर्यक् गति तिर्यक् मार्ग की आवश्यकता पैदा कर देती है । इसी का पारिभाषिक नाम नाडीचक्र है जो अनेक नाडियो की ग्रन्थियो से बनता है । ये नाडिया शरीर मे विभिन्न दिशाओ मे जाती हैं। सुषुम्ना को छोड कर जो शुद्ध वायु की सरल गति का केन्द्रीय मार्ग है, अन्य नाडियो को सुषुम्ना के साथ उनकी स्थिति के सबध मे स्थूल रूप से दो वर्गों में बाट सकते हैं—दाया और बाया । साधारण मनुष्य के शरीर मे मन और

वायु इन्हीं चक्करदार मार्गों में से प्रवाहित होते हैं। यह गमन मनुष्य संसार है।

सुषुम्ना के मार्ग में छः चक्र स्थित हैं जिनको भेदन करके वायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है। पहला चक्र 'मूलाधार' है जो गुदा और जननेन्द्रिय के मध्य स्थित है। इसका आकार चतुर्दल कमल का सा है। इसमें एक सु निवास करता है। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है जो जननेन्द्रिय के मूल में है। य षट्दल कमल है। मणिपूर' या 'नाभिचक्र' तीसरा चक्र है। यह दशदल कमल है और नाभि प्रदेश में स्थित है। चौथा 'हृदय-चक्र' हृदय प्रदेश में है। य द्वादशदल कमल है। सोलह दलों का विशुद्ध चक्र कंठ स्थान में है और छठ चक्र 'आज्ञा-चक्र' है। इसे आकाश चक्र भी कहते हैं। यह केवल द्विदल कम है और भृकुटी मध्य में स्थित है। यही षट् चक्र हैं। इन सबके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र है वह सहस्र दल वाला कमल है जिसे सहस्रदल कमल कह हैं। यहीं शिव का स्थान है और शक्ति यहीं शिव से मिलती है।

नाथों का जोर तो इस बात पर भी रहता है कि यदि परमेश्वर क प्राप्त करना है तो केन्द्रीय मार्ग जो सागर में नदी की भांति उसमें मिलता है मालूम करना चाहिए। अन्य सब मार्ग भ्रामक होंगे क्योंकि वे स्थूल पदार्थ से बने हैं। भौतिक मन की अनेक धाराएं—इन्द्रिय वृत्तियां तथा भौतिक वा की विभिन्न धाराएं—प्राणतत्व जैसे ही एक बिन्दु पर तीव्रता से मिलते हैं त चेतना की गहन शक्तियों का व्यापक तीव्र प्रकाश होता है। शक्ति की यह अभिव्यक्ति ही कुण्डलिनी का प्रकाश एवं भूतस् से उसका आंशिक मोक्ष है शक्ति का यह आविर्भाव, आंशिक होते हुए भी अविरलता से बढ़ता है और परम तत्व की असीमता में विलीन हो जाता है। इस तिरोभाव का अर्थ विनाश नहीं है, केवल विलय या ऐक्य है।

शक्ति की अनन्तता ही उसकी परमता है, शक्ति, चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त, एकता है। नित्य व्यक्त शक्ति ही ब्रह्म है, और उसी का दूसरा नाम शिव है। वह कर्म और भूत से मुक्त है किन्तु यह सत्य है कि इस शक्ति के एक अन्श को भूतम निगरण कर लेता है और ऐसी प्रतीति होती है मानो उसके मन से उसने अपनी एकता खो दी हो। नाथों का यह दावा है कि एक मात्र सद्गुरु अपनी सक्रिय शक्ति के द्वारा जो वास्तव में शिवेतर नहीं है, अपने

य्य की सुषुप्त शक्ति को सचेत कर सकता है। शिव और शक्ति का अन्तर तुत भेदहीन अन्तर है। इस सबन्ध में कहा गया है—

"शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव[1]॥"

यह एक रहस्य है कि भौतिक तत्त्व शक्ति को कैसे आवृत कर लेता । मगर यह सत्य है कि एक बार शक्ति के अनावृत हो जाने पर वह उस नंत विश्व-कारण मे खिच आती है जो मुक्त है।

भौतिक तत्त्व ही शिव और शक्ति में भेद पैदा कर देता है। इस ारण इसके अतिक्रान्त हो जाने पर तथाकथित भेद विगलित हो जाता है। ास्तव मे भौतिक पदार्थ कुछ नही है, परम तत्त्व से जीव के विप्रकर्ष के कारण भ्रामक प्रतीति है। यह परम तत्त्व शिव और शक्तिस्वरूप है। जब शिव और शक्ति का ऐक्य हो जाता है तो यह भ्रम नष्ट हो जाता है। योग का लक्ष्य इसी ऐक्य की प्रतिष्ठा है। तान्त्रिक और नाथिक साहित्य मे जो शृ गारिक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं उनके भीतर भी इसी एकता का रहस्य निहित है।

जब तक जीव भूतस् से आवद्ध रहता है शिव को नही जान सकता, उसे आत्मानुभूति नही हो सकती। यह तभी सभव है जबकि उसकी शक्ति मुक्त हो जाये। शक्त्यावरण का अभिप्राय है (१) अपने कारणभूत शिव से विच्छेद (२) भूतस् के अन्ध गर्भ मे उसका (जीव का) निगरण तथा (३) अन्त मे अदृश्य प्रकाश के उस गहन लोक मे निमग्न हो जाना जो भूतस के कारण पैदा हो जाता है। पहली और दूसरी स्थिति 'प्रकृतिलीन' दशा है। यह सृष्टि से पूर्व की स्थिति है। तीसरी स्थिति प्राकृतिक बधन की दशा है। इसम भौतिक सापेक्षिक (Relative) शक्तियो का सन्तुलन बिगड जाता है। उदाहरण के लिए वायु ही ले सकते है जो इस शरीर मे विषमाचार करती है। इसी प्रकार अन्य भौतिक शक्तिया भी हैं।

इस विषमता के निवारण के लिए योगी के अनेक साधन होते हैं। स्वाभाविक ढग से भी यह विषमता कभी-कभी चाहे एक क्षण के लिए ही सही, दूर हो जाती है। इसको 'सधि-क्षण' कहते हैं जो पूर्वकालीन साहित्य के

---

1. सिद्ध सिद्धान्त, ४ ३७

निरोध क्षरण से मिलता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षण का बल बढाया जाए। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि—प्राणवायु के प्रवाह को दो वर्गों म विभक्त कर सकते हं—दक्षिण प्रवाह तथा वाम प्रवाह। य दोना धाराएँ पाजिटिव तथा निगटिव के रूप म विरोधी हं किन्तु एक दूसरी की पूरक हं। सिद्धो और नाथो के साहित्य मं इन धाराम्रो को सूर्या और चन्द्रा भी कहते हं। इन्ही को हठयोग म क्रमश पिंगला और इडा के नाम से अभिहित किया जाता है।

कुछ साधना के द्वारा इन सूर्य और चन्द्र शक्तियो का निरोध सहज या मध्यमाग के खुलने म सहायक होता है। इस माग को सुषुम्ना नाडी ब्रह्म नाडी या शून्य नाडी भी कहते ह। इस माग के खुलते ही (जो अब तक अवरुद्ध पड़ा था) बिन्दु वायु और मनस क्रियायोग से सूक्ष्म होकर इसम प्रवेश करके ऊर्ध्व गामी होते ह। कुण्डलिनी का जागरण मध्यमाग का खुलना वायु और मन की शुद्धि प्रज्ञा का उदय अहकार और अविद्याग्रन्थि का विनाश—य नाम एक ही क्रिया क भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो स रख गय हं। यह क्रिया एक दम सम्पन्न नही हो जाती क्योकि युगो की सचित वासना का विनाश धीरे धीरे ही होता है। इस प्रक्रिया म समय लगता है। तन्त्र शब्दावली म नाथ लोग इसे षटचक्रभेद कहते ह। यह प्रक्रिया नियत माग की क्रमिक ऊर्ध्वगति है जो पाश्चात्य रहस्य वादियो की विरेचन प्रक्रिया (Purgative process) तथा तान्त्रिको क उपासना काड की भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि से मिलती है।

ब्रह्म क गूढ माग (ब्रह्म नाडी) को वैदिक ऋषि भी जानते थे। छोटे उपनिषदो के अतिरिक्त इसके ज्ञान का प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद मे भी है जिसम एक केन्द्रीय नाडी का उल्लख आया है जो हृदय से मूर्धा तक जाती है। स्पष्टत यह नाडी सुषुम्ना है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि मनक ऊर्ध्वगमन के सबध म चार भिन्न मत हं। इनके अनुसार

[1] अमराग शासन of गोरक्षनाथ—यत्र च मूलभगमण्डलान्ते कुण्डलिनी शक्तिविनिगता तत्र वामभागोदभव सोमनाडिका दक्षिणभागोदभव सूयनाडिका, चन्द्रो वामाङ्गव्यापक सूर्यो दक्षिणाङ्गव्यापक चन्द्रा वामाङ्गे वामनासापुट सूर्यो दक्षिणाङ्गे दक्षिणनासापुट—इ यव सूयचन्द्रौ व्यवस्थितौ।

चार भिन्न स्थान ठहरते हैं जहाँ से मनका ऊर्ध्वगमन होता है—(१) मूलाधार चक्र, (२) नाभि, (३) हृदय तथा (४) भ्रूमध्यभाग।

वैदिक मतो के अनुसार मन का ऊर्ध्वगमन हृदय से होता है किन्तु नाथो ने मूलाधार और नाभि से माना है। प्रत्यक दशा में वह स्थान सूचित होता है जहाँ मन और वायु एकत्र होते हैं। बडे ध्यान के पश्चात यह मार्ग व्यक्त होता है। आलकारिक भाषा मे इस प्रकाश पथ का एक सिरा ईश्वर या गुरु का सूचक है और दूसरा सिरा प्रकाशित जीव या शिष्य का और स्वय मार्ग दोनो के सबध का। निरन्तर अभ्यास से दोनो सिरा का अन्तर कम होता चला जाता है और योग-शक्ति बढती चली जाती है। अन्त में मार्ग समाप्त हो जाता है और ईश्वर एव जीव अथवा शिव और शक्ति का मिलन हो जाता है। इस मिलन को दोनो की एकता' भी कह सकते हैं क्योंकि दोनो तत्वो का अन्तर मिट जाने से अभेद सिद्ध हो जाता है।

यही शिव शक्ति सामरस्य है जो आनन्द रूप म व्यक्त होता है। आनन्द ज्ञान से प्राप्त होता है और योग की सहज अभिव्यक्ति ही ज्ञान है। यह ज्ञान पुस्तक-ज्ञान से भिन्न होता है। पुस्तको से प्राप्त सैद्धान्तिक ज्ञान को नाथो ने हेय माना है क्योकि वह भारमात्र होता है जो केवल अधकार म डालकर भ्रान्त करता है प्रकाश नही देता।

वास्तविक ज्ञान योग के बिना प्राप्त नही होता। बौद्धिक ज्ञान से मुक्ति नही होती। इसीसे योगबीज (६४) म कहा गया है—योगन रहित ज्ञान मोक्षाय नो भवेत्' - वास्तव म इतिहास में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जो यह प्रकट करते हैं कि योग के बिना ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती हैं। असित, जनक, तुलाधार, धर्मव्याध, पैलवक, मैत्रेयी, सुलभा,शार्ङ्गी, शाण्डिली आदि के नाम इस सबध मे विशेष उल्लेखनीय हैं।

सिद्धो ने योग पर इतना बल इसलिए दिया है कि उसके बिना भौतिक शरीर पर विजय प्राप्त नही की जा सकता। कायिक परिमितियो से ऊपर योगी के सिवा कोई और नही उठ सकता। जब तक कायिक परिमितियाँ या बन्धन रहते हैं मानसिक स्थैर्य और आलोक सभव नही है क्योकि कायिक परिमितियो का सबध वासनाओ और भौतिक परतन्त्रताओ से है। यह काया-

जाल अनेक व्याधियों का कारण है। यह पचतत्त्व से प्रभावित होता है शीत और धूप में खिन्न होता है और क्षय एव मृत्यु का शिकार बनता है। योगियो का दावा है कि योग से इन सब दुर्बलताओं का निवारण हो सकता है।

नाथों के सिद्धान्तो के अध्ययन में कायिक शुद्धि को नही भुलाया जा सकता। योगी लोग उक्त दुर्बलताओं से युक्त शरीर को अपक्व कहते है। शारीरिक सबध से दुख की अनुभूति होती है और आत्मा की सहज शक्ति आच्छन्न होती है। साधारण मनुष्य बड़े तप से भी इन्द्रियो और वासनाओं का दमन नही कर सकता। प्रयत्न करने पर भी मनुष्य के मन को प्राकृतिक तत्त्वों का प्रभाव विक्षुब्ध कर ही देता है। ऐसा ही मनुष्य परिस्थितियों का दास कहलाता है। स्थूल भौतिक शरीर से सबधित दुर्बलताओं को तथाकथित ज्ञान दूर नही कर सकता। इसीलिए योगद्वारा शरीर की शुद्धि और परिपक्वता की आवश्यकता होती है।

शारीरिक शुद्धि का सबध शारीरिक अमरता से भी है। इस अमरता पर नाथ बहुत जोर देते है। उनका मत है कि यदि स्थूल कायिक दोषो का परिहार हो जाय तो शरीर रोग क्षय एव मृत्यु से मुक्त हो सकता है। वह हलका हो सकता है विचार की तीव्रता से वह आकाश में चल सकता है इच्छानुसार कोई या कितने भी रूप धारण कर सकता है। किसी भी दीवार में होकर निकल सकता है पत्थर में प्रविष्ट हो सकता है जल में अक्लिन्न (undrenched) रह सकता है अग्नि उसको जला नही सकती और वायु उसको सुखा नही सकती। वह सामने आकर भी अदृश्य हो सकता है। उसमें सकोच और विकास की योग्यता आ जाती है और भूतजय के फलस्वरूप उसमे सब शक्तियो का समावेश हो जाता है। इस प्रकार का शरीर देव दुर्लभ होता है। यह शरीर आकाश से भी अधिक शुद्ध होता है। सिद्धकाय दिव्यदेह योगदेह आदि अनेक नामो से ऐसे शरीर का अभिहित किया जाता है और इस परिवर्तन की प्रक्रिया (process) को देहवेध पिण्डस्थैर्य, पिण्डधारण आदि नामो से पुकारते है।

इस सबध में यह बतलाने की आवश्यकता नही कि प्रत्येक युग और देश के रहस्यवादी अमर काया की इच्छा करते रहे है। हठयोग रसायन और तत्र से सम्बन्धित साहित्य में इस प्रकार के शरीर के बहुत से उल्लेख

मिलते हैं। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार लोहवेध हो सकता है उसी प्रकार देहवेध भी हो सकता है अर्थात् जिस प्रकार लोहे का सोना बनाया जा सकता है उसी प्रकार कुछ साधना से प्राकृतिक शरीर को अमर बनाया जा सकता है। प्राचीन रासायनिकों के पास कायाकल्प के उनके अपने साधन थे। जिनमे पारा भुम्भुड गधक आदि का अग प्रमुख होता था। इस शरीर को वे रसमयी तनु और हरगौरीसृष्टिजा तनु कहते थे क्योंकि यह रस या पारा (हरधातु या हरसृष्टि) और भुम्भुड (गौरीधातु या गौरीसृष्टि) का परिणाम होता था[1]।

रासायनिकों को जो सिद्धि पारा धातु से अभिप्रेत थी वही हठयोगियो को वायु नियन्त्रण से अभिप्रेत थी। इसीलिए कहा गया है कि वह कर्मयोग जिससे शरीर की स्थिरता प्राप्त की जाती है रस और पवन नाम से दो प्रकार का माना जाता है[2]। प्रसिद्ध महायानी नागार्जुन यह कहा जाता है बडा भारी रासायनिक था जिसने अद्भुत शक्तिया सिद्ध कर रखी थी। वह तान्त्रिक और सिद्ध योगी भी था। उसके बहुत से अनुयायी भी उसी के समान यशस्वी थे। नाथ लोग स्पष्टत नागार्जुन और उसके सिद्धान्तो से प्रभावित हुए थे। कुछ ऐसे सकेत मिलते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि नाथ लोगो का हठप्रक्रियाओ और रसायनशास्त्र के ऊपर समान रूप से अधिकार था।

हठ और रसायन, दोनो की प्रक्रियाओ मे एक ही प्रकार की परिमितिया हैं। वे शरीर को शुद्ध अमर और मुक्त बना देती हैं किन्तु अपनी सीमाओ को पार किये बिना मन को स्थिर और शान्त नही बना सकती। वे जीवन मुक्ति का उदय करती हैं जिसमे मन और वायु (प्राण) सहस्रार की शुभ्र व्यापक ज्योति से प्रकाशित आज्ञाचक्र मे स्थिर हो जाते हैं। यह स्थिति दीर्घकाल तक रहती है और इस बीच मे उपासना या राजयोग की दशा, जो उसके पश्चात् स्वभावत प्राप्त हो जाती है मन को धीरे धीरे अनन्त मे विलीन कर देती है। इससे यह स्पष्ट है कि हठयोग और रसायन

---

[1] देखिये रसहृदय

[2] रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृत ।

की क्रियाओं के अन्त में ही राजयोग का वास्तविक क्षेत्र प्राप्त होता है[1]। राजयोग की समाप्ति पूर्णप्रज्ञा के अन्तिम प्रकाश म होती है। जिसकी प्राप्ति शुद्ध शरीर और मन (अथा सिद्ध शरीर की दशा) म ही होती है। प्राकृतिक एव दूषित काया प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए अयोग्य होती है, यहा तक कि उससे अटूट ध्यान भी नहीं हो सकता।

गोरखनाथ ने एक 'केवल' तत्त्व' की भावना की है जो परमात्मा से अभिन्न है। वह भाव और अभाव, दोनो से परे है। उसका नामकरण तक नहीं किया जा सकता—

> "बस्ती न शून्य न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
> गगन सिखर महि बालक बोलहि वाका नाँव धरहुगे कैसा ॥"
>
> —(गोरखबानी)

इस 'केवलावस्था' की प्राप्ति ही जीव का मोक्ष है। इसकी साधना की विवेचना सक्षेप म इस प्रकार की गयी है—

"शरीर के नवो द्वारों को बन्द करके यदि वायु के गमनागमन के मार्ग को भी अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार चौंसठ सिद्धियों में होने लगगा जिससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक ऐसी सूक्ष्मता सिद्ध कर लेगा कि उसकी छाया भी नहीं पड सकेगी—

> "अवधू नवघाटी रोकि लै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
> काया पलटै अविचल बिध, छाया बिवरजित निपजै सिध ॥"
>
> —(गोरखबानी)

गोरखनाथ ने 'वासना' को विनाश का मूल कारण माना है। उनको ता है कि यदि साधक को वासना ने छू भी लिया तो फिर वह पीछे लग ी है। वह सारी साधना को नष्ट कर देती है। कहते हैं—

---

[1] तस्मात् दिव्यदेह सम्पाद्य योगाभ्यासवशात् परतत्त्वे दृष्टे पुरुषार्थ-प्राप्तिर्भवति।

देखिय—सर्वदर्शन सग्रह, रसेश्वर भाग। यहा 'योग' का अर्थ स्पष्टत राजयोग है।

"नदी तीरे बिरिखा, नारी संगे पुरिखा,
अलप जीवन की आसा ।
मन थैं उपजी मेर खिसि पडई,
तार्थं कंद बिनासा ।
गोड भये डगमग, पेट भया ढीला,
सिर बगुला की पंखिया ।
अमी महारस बाघणि सोख्या ॥"

—(गोरखबानी)

इस वासना का विनाश वैराग्य भावना के बिना यदापि संभव नहीं है। वैराग्य को सुदृढ करने के लिए इन्द्रिय-विषयो से पराङ्मुख होना आवश्यक है। जब तक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से इन्द्रियां अपना सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् जब तक ऐन्द्रिय विषयो के प्रति आसक्ति रहती है तब तक वैराग्य-भावना कैसी ? इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह और वैराग्य-भावना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः वैराग्य-भावना से ही इन्द्रिय-निग्रह होता है। और तभी प्राण-साधना और मन साधना बन सकती है। यही हठयोग-साधना का मूल रहस्य है। गोरखनाथ का कहना है—"हठयोग साधना से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुच जाने पर अनाहतनाद सुन पड़ता है जो समस्त सार तत्त्वो का सार और गंभीर से भी गंभीर है। इसीसे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जो अपनी स्वसंवेद्यता के कारण अनिर्वचनीय है। उस स्थिति में ब्रह्मसाक्षात्कार के सिवा सब कुछ असत् और व्यर्थ प्रतीत होता है—

"सारम्सार गहर गंभीर गगनउछलिया नाद।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वादविवाद ॥"

—(गोरखबानी)

इस प्रकार गोरखनाथ प्राणप्रक्रिया प्रधान योग-साधना को वेदाध्ययन से अधिक महत्त्व देते हैं। सर्वसाधारण के लिए यह सरलतम साधना है। इससे परमात्मा आत्मा मे उसी प्रकार गोचर होने लगता है जिस प्रकार जल मे चन्द्रबिम्ब। इससे शरीर भी शुद्ध होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

गोरख-साधना के प्रथम सोपान पर मनोधारण और संतजीवन-यापन की प्रतिष्ठा है। पहले के सम्बन्ध मे उन्होंने अनेक रूपको का उपयोग किया

है जिसमे मन मृग के आखेट की चर्चा है। जो मनको मार लेता है वही सन्तो द्वारा मरजीवा कहलाता है।

गोरखनाथ के समय तक तप का मूल्य आका जाता था किन्तु उन्होंने अपनी साधना मे जिस जाप की प्रतिष्ठा की उसमे जीभ और माला की आवश्यकता नही रहने दी। गोरक्षपद्धति मे इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन।
हसहसत्यमु मत्र जीवो जपति सर्वदा॥'

—(गोरखबानी)

श्वास प्रश्वास के साथ चलने वाला यह आत्म-चिन्तन ही नाथ पथियो का अजपाजाप है। इसे उन्होने अजपा गायत्री कहा है—

'अजपा नाम गायत्री योगिना मोक्षदायिनी।
अस्या सकल्पमात्रेण सवपापै प्रमुच्यते॥"

साधना की अन्य क्रियाए इस जप मे कोई व्याघात उपस्थित नही कर सकती, हा, थोडे मे अभ्यास की आवश्यकता अवश्य होती है। फिर तो यह जाप गुप्त रूप से निरन्तर स्वत ही चला करता है। इसी की ओर सकेत करते हुए गोरखनाथ ने कहा है —

'ऐसा जाप जपो मन लाई।
सोऽह है अजपा गाई॥"

—(गोरखनाथ)

इस जाप से साधना को दो प्रकार से सहायता मिलती है—एक तो मन की गति पगु होती है और दूसरे ब्रह्म भावना के उत्कर्ष से आत्मनिरति सिद्ध होती है। इसी को घटावस्था की सिद्धि कहते है—

'घरही रहिबा मन न जाई दूर। अहर्निसि पीवै जोगी वारुनीसूर॥
स्वाद विस्वाद बाई मास छीन। तब जानिबा जोबी घट काल छीन'[1]॥"

आत्म चिन्तन गोरस-साधना का मूल मत्र है। आत्मा के सिवा गोरखनाथ को कोई भी अन्य वस्तु आकर्षक प्रतीत नही होती। 'आत्मा ही मछली है, वही

[1] गोरखबानी, पृष्ठ ४८, प १३७

जाल है, वही धीवर है, और वही काल भी। वही स्वय मारता और खाता है। माया रूप मे वह अनेक बधन डालता है और जीवन बनकर उसम पड भी जाता है। उसके बाहर स्नान करने योग्य न तो कोई तीर्थ है और न पूजन करने योग्य कोई देवता है। अलक्ष्य और अभेद होते हुए भी जो कुछ है, वह वही है।

इस प्रकार गोरखबाणी के विषय आत्म-साधना मे सबधित हैं। उन्होने अपने पूर्वजो से लाक्षणिक शैली लेकर भी उसका उपयोग अध्यात्म क्षेत्र म ही किया है। रहस्यात्मक शैली का बीज-वपन वज्रयानियो के हाथो से होकर भी वह अपने वास्तविक अर्थ म नाथ पथ म ही प्राकुरित हुआ। उलटबासियो का लिखित रूप यही से आरम्भ होता है। हिन्दी पहेली के जन्म का भी यही समय है। हिन्दी के विचित्र रूपक भी वस्तुत नाथो से ही प्रचलित हुए। उलटबासियों मे जहा एक शैली दृष्टिगोचर होती है वहा प्रवर्तकों की एक प्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है। तान्त्रिक और योगियो ने उलटी बातें कह कर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की और साथ ही अपनी शैली का प्रचार भी किया। 'हठयोग प्रदीपिका' के निम्नलिखित श्लोक मे इसका परिचय मिल सकता है —

> ' गोमास भक्षयेन्नित्य पिबेदमरवारुणीम् ।
> कुलीन तमह मन्ये इतरे कुलघातका ॥" ह० प्र०, ३-४७

किन्तु तत्काल ही वे स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"लोग कहते हैं कि गोमास महापाप है और वारुणी-सेवन अयुक्त है। उनका यह भ्रम है। वास्तव मे गोमास-भक्षण पापनाशक है और वारुणी अमरता प्रदान करन वाली है। 'गो' शब्द जिह्वा-वाचक है और तालु मे उसका प्रवेश ही गोमास भक्षण है। जिह्वा प्रवेश से उत्पन्न हुई वन्हि के कारण उपरिस्थित चन्द्र से जो सार स्रवित होता है वही अमर वारुणी है। ऐसी कूटोक्तियो का प्रचलन सिद्धो की वाणी मे पर्याप्त मिलता है और पीछे के भक्तकाव्य म इस पद्धति का उपयोग किया गया है, किन्तु यौगिक एव आध्यात्मिक क्षेत्र मे, जिसम आचरण पर आच नही आने पाती।

गोरखनाथ ने सिद्धो क हाथ मे हुई विकृत साधना को पुन: परिष्कृत करके उसमे नवीन प्राण फूके। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर गोरखनाथ की

साधना-पद्धति भारतीय मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल मिलती है। धर्म विकारी तत्त्वों पर गोरख भावना म कठोराघात किया गया है तथा संयम एवं सदाचार से जीवन का निकटतम संबंध स्थापित करने का अमोघ प्रेरणा किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सहजमार्ग की व्यवस्था का श्रेय वास्तव में गोरखनाथ को ही है।

गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार के लिए जन-समुदाय की भाषा को ही ग्रहण किया। इससे एक ही साथ दो काम हुए सर्वसाधारण में नाथ पंथ का प्रचार हुआ और जन भाषा को विकसित होने का अवसर मिला। गोरखनाथ संस्कृत भाषा के भी पंडित थे अतएव इनकी रचनाएं हिन्दी के साथ साथ संस्कृत में भी हैं। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने मराठी भाषा में भी अपने सिद्धान्तों का प्रणयन किया। अमरनाथ संवाद और 'गोरक्ष-गीता' इसी भाषा में हैं। मिश्रबन्धु ने ब्रज भाषा में भी उनके एक ग्रंथ का उल्लेख किया है जिसमें पूछिबा कहिबा आदि राजस्थानी शब्दों का भी प्रयोग है।

गोरखनाथ की रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ भी कहना सहज नहीं है। डा० बड़थ्वाल ने उनको सबदी को सबसे अधिक प्रामाणिक माना है किन्तु डा० मोहनसिंह की दृष्टि में गोरखबोध ही उनकी सबसे अधिक प्रामाणिक रचना है। चाहे गोरखनाथ इन रचनाओं की प्राचीनता पर सन्देह किया जाय किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती सन्तकाव्य नाथ-पंथ की साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक मान्यताओं से बहुत प्रभावित हुआ है। सन्त काव्य में ब्रह्मचर्य वाणी-संयम मन शुद्धि ज्ञाननिष्ठा बाह्याचारों का प्रतिकार आदि का जो चित्रण मिलता है उसका मूल स्रोत भी नाथ वाणियाँ ही हैं। यद्यपि कबीर आदि कुछ मर्मज्ञियों ने बहुत सी मौलिक उद्भावनाएं भी प्रस्तुत कीं किन्तु उनकी वाणी के अधिकांश विषय नाथों की भूमिका से ही चुन गए थे। यह माना जा सकता है कि गोरखवाणी रूखी तथा सिद्धों के विरोध में गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर प्रकट करने वाली थी किन्तु योग की दुस्तर साधनाओं को भी उन्होंने जीवनोपयोगी रूप में प्रस्तुत करके धार्मिक भावनाओं को प्रेरित किया। साथ ही गोरखनाथ ने अपनी कृतियों के द्वारा परवर्ती साहित्य को संवादशैली प्रदान की जिसका प्रणयन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा विश्वास एवं मत के प्रचार के निमित्त किया।

यह कहने की आवश्यकता नही कि अपनी साधना पद्धति मे गोरखनाथ ने बहुत सी बाते सिद्धों की भी समाविष्ट कर लीं, किन्तु अनेक बाते उन्होने नितान्त मौलिक रूप मे भी प्रस्तुत की। गृहस्थ जीवन के प्रति उनकी अरुचि मे उनकी मौलिकता को नही भुलाया जा सकता। योग को गोरखनाथ ने योग के रूप मे ही स्वीकार नही किया, वरन् उसे एक तत्त्वसिद्धि के साधन के रूप मे भी लिया। वज्रयानियो ने जिस योग को प्रमुखतया कायिक बना रखा था और जिसमें विकृताचरण भी समाविष्ट हो गया था उसी को गोरखनाथ ने न केवल मानसिक आधार प्रधान किया, वरन् आध्यात्मिक सीमा पर भी पहुचा दिया। उनकी कुछ वाणियो से ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन्होने आत्मवाद मे उपासना के छींटे भी दिये हुं। जैसे—

"तुझि पर वारी हो अणघड़ीया देवा।
× × ×
सब ससार घड़या है तेरा, तू किनहं नहिं घड़ीया।
× × ×
गोरख कहै गुरु के सबदा तूं ही घड़नैहारा[1]।"

अपने 'निरजन नाथ' की आरती गाकर भी अपनी योग साधना मे भाव पुट का सकेत किया है। जिसको वे नाथ कहते हैं, जो निरजन है वही हरि नाम धारी है। इन नामो के अभेद के द्वारा हम कबीर तक पहुच सकते हैं और उनकी वाणियो मे हम गोरखनाथ का लक्ष्य खोज सकते हैं। किन्तु जबकि गोरख का नाथ, निरञ्जन या हरि योगसाध्य है, कबीर का हरि, राम या निरजन प्रेमसाध्य है। कबीर योग को प्रेम का सहयोगीमात्र बना लेते हैं। यही दोनो की साधना का मौलिक अन्तर है[2]।

गोरखनाथ बाह्याचार के विरोधी थे। इसका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिये कि वे सदाचार के भी विरोधी थे। सदाचार का सम्बन्ध उन्होने मन और वाणी से भी मान रखा था। इसीलिए वे ऐसे आचरण को जो मन के विरोध मे होता था मिथ्याचार मानते थे। ऐसे ही आचरण के प्रति उनका कहना है—"लोग आचार आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है? भोजन मे जो घी देते हो वह भी तो चर्मपात्र अर्थात् पशुधन से ही आता है? चलते समय पैरो मे जो जूते पहने

[1]. गोरखवाणी, पृष्ठ १५४-१५८

[2]. गोरखवाणी, पृष्ठ १५७-१६१

जाते हैं वे भी धमडे के ही होते हैं। शयन मे स्त्री सग होना है उसकी तो बात ही जाने दीजिय × × ×। सूर्यादि ग्रहण के अवसरो पर मिट्टी के पात्र और जलादि को अशुचि समझ कर त्याग दिया जाता हैं किन्तु धान्य घृतादि को क्यो नही फेंक दिया जाता ? बात तो यह है कि जलाशय मे जल तो बहुत प्राप्त हो सकता है और कुम्हार के घर मिट्टी के पात्र भी थोड़े ही पैसा मे प्राप्त हो जाते हैं तो फिर क्यो न उन्हे अपवित्र समझ कर आचारवान् होने का दावा किया जाय ? इधर घृत और धान्य आदि के मोल लेने मे अधिक पैसे लगते है, इसलिए उन्हे अपवित्र नहीं माना जाता। कहा तक इस प्रकार की बातें लिखी जायें। वास्तविकता तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है और बुद्धिमान लोग इस पर तनिक भी विश्वास नही करते[1]।" उन्होंने केवल आचार का ही खडन नही किया अपितु द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि आदि मतो मे दोष दिखला कर शिव शक्ति मे अभेद स्थापित किया और नाम-त्याग पर जोर देते हुए उन्होंने शून्य मे ईश्वर की भावना की[2]। इसी शून्य मे कबीर आदि सतो ने निर्गुण ब्रह्म को देखा।

इसमे सन्देह नहीं कि सन्त मत को नाथ पथ से बड़ी प्रेरणा मिली। साध्य को मन के क्रियात्मक नियमन से सबधित करके नाथपथ ने जो साधना-पद्धति अपनायी, सन्तमत ने उसीको अधिकाशत मान्यता दी। नाथो ने भूत-शुद्धि और भूत सिद्धि पर विशेष जोर दिया, किन्तु कबीर आदि सन्तो ने मन की शुद्धि और सिद्धि पर विशेष बल दिया। नाथ पथियो ने मन का सबध इन्द्रियो के द्वारा शरीर से स्थापित किया है और शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि का सबध स्थापित किया है। यद्यपि नाथो की यौगिक क्रियाएँ एक प्रकार से यात्रिक हैं, किन्तु कुछ स्तुतियो मे उनकी वाणी की रागात्मकता भी स्पष्ट है। कबीर ने मन के सबध को दोनो ओर देखा है—शरीर की ओर और परमात्मा की ओर। एक ओर वे नाद द्वारा मन के शून्यीकरण तक पहुचते हैं जो दुख और सुख से ऊपर की लोकोत्तर अवस्था है दूसरी ओर वे परमात्मा प्रेम द्वारा मन को बाघ कर परमात्मा मे विलीन कर देते हैं। कबीर की साधना मे रागात्मिका वृत्ति की ही प्रधानता है। नाथ-साधना प्रत्यक्ष प्रमाणो

---

[1] देखिय, गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह पृष्ठ ६०-६१

[2] देखिय क्षितिमोहन सेन।

पर आश्रित है, किन्तु सन्तो ने चित्तवृत्तियो के निरोध तक ही नाथो का साथ दिया है। रागात्मिका वृत्ति के द्वारा तत्त्वानुभूति की ओर प्रगति उनकी साधना-पद्धति की मौलिकता है। कबीर ने नाथ-साधना की शुष्क सरिता मे प्रेम का प्रवाह देकर मन को न केवल विलय के लिए बाध्य किया, अपितु रजन का अवसर भी दिया। इस प्रकार कबीर ने सार-सग्रह के बल से जो मार्ग प्रस्तुत किया उसमें शकराचार्य, गोरखनाथ, रामानद के साथ-साथ सूफियो का भी सहयोग है।

भाषा और शैली की दृष्टि से तो कबीर ने गोरखनाथ का अनुकरण अधिकाश में किया है। वही जन साधारण की बोली, वही उलटबासियाँ और विचित्र रूपक। उपमानो के क्षेत्र म कबीर की मौलिकता सिद्ध है। वे लोक-जीवन से उतरे हैं। कबीर की अनुभूतियो ने उनकी वाणी को उपमान प्रदान किये हैं। जीवन के दैनिक व्यापारो से चुने उपमानो ने उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियो को बडी सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि लोक जीवन मे कबीर का निकट सबध रहा है, दूसरी यह कि उनकी अध्यात्म-विवेचना काल्पनिक नही, अनुभूतिक है। जगत् और ब्रह्म, स्थूल और सूक्ष्म, असत्य और सत्य के बीच उन्होने जो अनुभूतियाँ सकलित की हैं वस्तुत वही कबीर वाणी है। कबीर-वाणी मे जो कही-कही तीव्रता और तीक्ष्णता है वह गोरख वाणी म नही दीखती।

निष्कर्ष के रूप म यह कहा जा सकता है कि सिद्धो ने एक बडी भारी क्रान्ति को जन्म दिया, किन्तु आचरण के अध की दिशा म उन्होने जो कदम उठाया उसको भुलाया नहीं जा सकता। उनके सम्प्रदाय म मद्य, मत्र, हठयोग और स्त्री को प्रमुखता दी गयी थी और एक नवीन साधना की आड में आचरण को ताक म रख दिया गया था। जिस योग का आधार कभी ब्रह्मचर्य था वही मद्य और महामुद्रा से सबधित होकर क्या हो गया ? कहने की बात नही। सिद्धो के मत्र और हठयोग चमत्कार की वस्तु बन गये जिन्होने शताब्दियो तक भोली जनता को भ्रम म रखा। जो बौद्ध धर्म सदाचार को लेकर आगे बढा था, वह वज्रयान के हाथो म इतना पतित हो जायेगा, कौन जानता था!

फिर भी यह कहना असगत नही है कि सिद्धो ने धर्म, आचार और दर्शन के क्षेत्र मे क्रान्ति को जन्म तो दिया ही। वे सभी अच्छी-बुरी रुढियो को

उखाड फकना चाहते थे यद्यपि जहा तक मिथ्याविश्वास का स्वध था उसम वे कई गुनी वृद्धि करने वाले थे। इन्ही रूढिया के साथ भाषा का प्रश्न भी जुडा हुआ था। सिद्धा न लोक भाषा म कविता शुरू की क्योकि वे नही चाहत थ कि भारत के अय धमवालो की भाति वे भी किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने सिद्धान्तो का प्रचार कर क्याकि इससे धम का ज्ञान थोड से लोगो तक ही सीमित रहता था। सिद्धा ने वज्रयान की जनता पर विजय पान के लिए भाषा का कविता का सहारा लिया। आदि सिद्ध सरहपा से ही हम देखते ह कि सिद्ध बनने के लिए भाषा का कवि होना मानो एक आवश्यक बात था[1]। सिद्धा न भाषा म कविता करके यद्यपि अपन विचारो को जनता के समझन लायक बना दिया तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार विरोधी कम कलाप का खुल आम विराध कर कही जनता म घृणा का भाव न पदा कर द इसीलिए वे एक तो, विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियो को ही उसे सुनन का अवसर दते थ दूसरे भाषा भी ऐसी रखत थे जिसका अथ वामाचार और योगाचार दोनो म लग जाय। इस भाषा को पुरान लोगो न सध्या भाषा कहा है और आजकल उस निर्गुण रहस्यवाद या छायावाद कह सकते ह। गुप्त रखे जान के ही कारण हम प्राकृत पगल जसे ग्रथो म इन कायो का कोई उदरण नही मिलता।[2]

सिद्धा का समय राहुल साकृत्यायन के मत से १२वी शताब्दी का अन्त ठहरता है। यदि इस समय को चौदहवी शताब्दी क अन्त से अर्थात् कबीर के समय से जोडा जा सके तो सिद्धा और सन्तो की कविता के प्रवाह के एक होने म आपत्ति नही हा सकती। यह जोडने वाली शृखला नाथपथ की कविताएँ ह[3]।

यह कहने की आवश्यकता नही कि कबीर को नाथपथ से बडी प्ररणा मिली क्याकि विदेशिया और विधर्मिया के प्रहार तथा अपनी भीतरी निबलताओ के कारण बौद्ध धम तो भारत से विलीन हो चला था और नाथपथ उससे

---

[1] राहुल साक यायन—पुरातत्त्व निब धावली पृष्ठ १६०
[2] राहुल साकृत्यायन—पुरातत्त्व निब धावली पृष्ठ १६०
[3] राहुल साकृत्यायन—पुरातत्त्व निबधावली, पृष्ठ १६१

शिक्षा ग्रहण कर अपनी रक्षा के लिए अनीश्वरवादी से धीरे-धीरे ईश्वरवादी हो गया। कबीर के समय वही एक ऐसा पथ था जिसकी वाणियो का व्यापक प्रचार था और जिसके मन्तव्यो की सर्वसाधारण पर छाप थी। भारत मे दूर-दूर के प्रान्तो मे अबतक फैली हुई नाथपथ की गद्दिया उसके विशाल विस्तार की सूचना देती हैं।

सिद्धो और नाथो के निमित्त किसी सन्देह के लिए अवकाश नही है क्योकि गोरख-सिद्धान्त-सग्रह में दी हुई सिद्धो की नामावली मे मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ के नाम भी सम्मिलित हैं जो नाथ पथ के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। यह ठीक है कि सिद्ध अनीश्वरवादी थे और बौद्धधर्म से मिली हुई थाती मे उनके पास प्रमुखत 'अनीश्वरवादिता' रह गयी थी, किन्तु नाथपथ में ईश्वरवाद की ओर लौटने पर भी अभी निर्वाण, शून्यवाद के साथ-साथ वज्रयान की कुछ लहरे भी लहरा रही थी।

कबीर का सिद्धो से सीधा सम्बन्ध बनने का तो प्रश्न ही नही है। निर्वाण, शून्य और सहज को उनकी वाणी में देख कर उनका सिद्धो से सबध नही जोडा जा सकता। ये शब्द नाथपथ मे आते-आते बहुत कुछ अर्थ बदल चुके थे और बहुत कुछ अर्थ-परिवर्तन उन्होने कबीर के हाथो मे देखा। कबीर-कालीन वातावरण में नाथपथ की लहरे देख कर कबीरवाणी के साथ उनका सम्बन्ध खोजना न तो अनुचित है और न कठिन ही, किन्तु सैद्धान्तिक क्षेत्र मे कबीर की मौलिक देन को नही भुलाया जा सकता। कबीर सिद्धों के वातावरण मे नही रह रहे थे फिर भी वे उनको भूले नही थे। उनकी विकृतियो को कबीर-जैसा साधक कभी सहन नही कर सकता था। सिद्ध-साधना के सम्बन्ध मे उनकी धारणा अच्छी नही थी। उनकी यह साखी इस बात को व्यक्त करती है—

> "धरती अरु असमान बि, दोई तूँबड़ा अबध।
> षट दर्शन ससे पडया अरु चौरासी सिद्ध॥"[१]

यह विरोध देखकर भी कबीर को सिद्धो से सम्बन्धित करने मे कोई आपत्ति नही दिखायी पडती। जिस प्रकार सिद्धो और नाथो के सिद्धान्तों

---

१. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४

को देखकर उनकी परम्परा को किन्ही दो स्रोतो से नही देख सकते उसी प्रकार कबीर को उस परम्परा से विलग नही कर सकते। यह ठीक है कि सिद्ध अनीश्वरवादी और नाथ ईश्वरवादी हो गये, किन्तु इससे उनकी परम्परा खडित नही होती बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कबीर का रागात्मक ईश्वरवाद नाथो के शुष्क ईश्वरवाद की परम्परा से विच्छिन्न नही किया जा सकता। सिद्धो के प्रयत्नो म वर्गवाद और वर्णवाद का विरोध कोई नया कदम नही था, धार्मिक अनुगमन था। घूस अग्नि को ग्रहण करता है, यह एक तथ्य है। यदि वह ग्रहण नही करता तो इतना आर्द्र है कि वह अग्नि को नही पकडता, अन्यथा बडे आश्चर्य की बात है। यदि विषयो के प्रस्तुत होते हुए भी इन्द्रिया उनको ग्रहण नही करती तो स्पष्ट है कि मन पर इतना नियत्रण है कि इन्द्रिया अपने अपने विषय से निरपेक्ष हो गयी है। वज्रयान में महामुद्रा और मद्य के सेवन के सम्बन्ध मे इसी सिद्धान्त का व्याज हो सकता है। यह सिद्धान्त सिद्धान्तरूप म तो बहुत ऊँचा था, किन्तु इसके व्यावहारिक रूप मे जो भय था वही सिद्धो के दुराचार म व्यक्त हुआ। नाथो ने उनके योग को तो स्वीकार किया किन्तु उसे सदाचार पर आधारित करके साधना म परिवर्तन किया। सिद्धो की साधना का लक्ष्य वह आनन्द था जो क्रियात्मक ढग से मन के शून्यीकरण म उपलब्ध है। नाथो ने उस आनन्द को तो स्वीकार किया, कि तु ईश्वर साक्षात्कार के परिणाम रूप में उन्होने ईश्वर का साक्षात्कार मन की वृत्तियो क निरुद्ध होने पर ही सम्भव माना और उक्त निरोध क निमित्त उन्होने हठयोग का आश्रय लिया। कबीर ने इस ईश्वरवाद म भक्ति का पुट देकर रागात्मक ता भर दी जो स्पष्टत रामानन्द का प्रभाव था, किन्तु विरह-तीव्रता म सूफी-प्रेम भावना भी उतनी ही स्पष्ट है जिसको संतो ने ही नही कृष्ण भक्तो ने भी अपनाया।

इस प्रकार कबीर ने सिद्धो के ही योग, विचित्र ढग और शैली को अपना कर नाथ-पथ पर अधिकार प्राप्त किया। चाहे नाथ-पथ अब भी जीवित हो, किन्तु कनफटे जोगियो की वाणियो म कबीर का स्वर भी लहराता दीख पडता है। ऐसी बात नही है कि कबीर ने नाथपथ को ही अपनाया, अपितु प्रेम की धरा पर योग और ज्ञान के उपकरणो से वैष्णव भक्ति का एक नूतन किन्तु भव्य भवन निर्मित किया जिसम अनेक अच्छाइयो का ही सग्रह नही था, अपितु क्रिया, ज्ञान और उपासना का मधुर मिलन भी था।

: ७ :

आलोचना-पद्धति

कबीर अपने समय के आलोचक थे। उन्होंने समाज को बड़े ध्यानपूर्वक देखा, उसकी भलाई-बुराई दोनों का पर्यवेक्षण किया। समाज में जो 'सुरूप' था उसका उन्होंने आदर किया और उसके प्रति सन्तोष व्यक्त किया, और जो 'कुरूप' था उसकी निन्दा की। सुरूप और कुरूप दोनों सामाजिक पक्षों पर ध्यान रखते हुए भी उन्होंने कुरूप को बड़ी सूक्ष्मता से देखा। समाज की छोटी से छोटी बुराई भी उनकी दृष्टि से दूर न हो सकी। उसके निकाल फेंकने के लिए उन्होंने आलोचना एवं भर्त्सना का मार्ग अपनाया।

कबीर का लक्ष्य आलोचना करना नहीं था। वे आलोचना के लिए आलोचना नहीं करते थे, बुराइयों को नष्ट करने के लिए ही आलोचना करते थे। इसलिए इनकी आलोचना को निन्दा के क्षेत्र में नहीं रख सकते। निन्दक का लक्ष्य मिथ्यावाद करना है और आलोचक का लक्ष्य विद्यमान दूषणों को सामने रखना—सामने भी इसलिए कि वे दूर हो जायं। इससे कबीर का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है।

कुछ लोग कबीर को ईश्वर-भक्त कह कर उन्हें अन्य क्षेत्रों में खींच लेने का प्रयास करते हैं। यह ठीक है कि ईश्वर-भक्त सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता हुआ सबको समान समझता है। वह सबके प्रति प्रेम और दया भाव रखता है। जीवमात्र के प्रति प्रेम को ईश्वर-भक्त ईश्वर-प्रेम से भिन्न नहीं समझता, किन्तु कबीर की स्थिति दूसरी है। वे एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। सामाजिक रूढ़ियों और विषमताओं ने उनको विकल कर दिया था। वे उनको मिटा कर समाज में समता की प्रतिष्ठा कर देना चाहते थे। कबीर का 'भक्त' उसी ममता की भावना से प्रस्फुटित हुआ वह उनके व्यक्तित्व के विकास की ही एक स्थिति है। साधना के पथिक होने

के नाते उनका संबंध पहले समाज से हुआ है, फिर ईश्वर से। सामाजिक संवेदना ने उन्हें ईश्वरोन्मुख किया है क्योंकि समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए, उसमें भ्रातृत्व की भावना भरने के लिए पितृत्व की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है।

कबीर की आलोचना साम्य की भावना से प्रादुर्भूत हुई है, किन्तु कबीर का साम्यवाद निरीश्वरवादी नहीं है। उसमें यांत्रिक जड़ता नहीं है। उसका धरातल प्रेम और विश्वास है। उसका मूल सत्य और अहिंसा है। उसकी साधना सरल और सुबोध है। अहंकार, दम्भ पाखंड, स्वार्थपरता, छल, निंदा, भेद आदि उसके विरोधी भाव हैं। उनमें कबीर का साम्यवाद नहीं पनप सकता। वह किसी महेश या नरेश की नीति से संबंधित नहीं है। उसका क्षेत्र मानवता है। उसका सहज कोमल स्पर्श प्रत्येक व्यक्ति को मुग्ध कर लेता है। जो सब जीवों में परमात्मा की सत्ता का अनुभव नहीं करते, उनको कबीर भ्रान्त मानते हैं और वे शीघ्र ही कह डालते हैं—

"यह सब झूठी बंदिगी, बरिया पंच निवाज।
साचै मारे झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज'[1]।।"

कबीर के साम्यवाद ने संकीर्णता का, सम्प्रदायवाद का बहिष्कार कर दिया है किन्तु धर्म के व्यापक रूप (मानवता के आधारभूत रूप) के प्रति उसका आग्रह है। वे राम स्नेही को सच्चा मानव मानते हैं क्योंकि वही सत्य का वास्तविक रूप समझता है, वही अहिंसा का सम्मान करता है और वही एकता का पुजारी है। इसलिए कबीर शाक्त और ब्राह्मण से दूर रह कर ईश्वर भक्त के प्रति आत्मार्पण व्यक्त करते हैं—

"साषत बामण मति मिलै, बैसनों मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानौं मिलै गोपाल'[2]।।"

कबीर का साम्यवाद वह साम्यवाद है जिसमें धर्म है, किन्तु व्यापक और उदार, ईश्वर है, किन्तु सर्वव्यापी, वह मन्दिर, मस्जिद और गिरिजा की सीमाओं में सीमित नहीं है। उसकी साधना में सरलता और कोमलता और लक्ष्य में एकता है जिसकी सत्ता समाज को प्रेम निधि और व्यक्ति को विभोर कर

[1]. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२
[2]. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५१

सकता है। यह एक आदर्श है जिसकी ओर कबीर के प्रयत्न यथार्थ को प्रेरणा दे रहे हैं।

इसी साम्य की प्रतिष्ठा के लिए कबीर ने सामाजिक विकृतियों की निन्दा की है। वे विकृतियों का विनाश चाहते हैं, व्यक्तिमात्र की उनसे मुक्ति चाहते हैं। लौकिक विकृतियों से निकाल कर वे मानव को उस स्थिति में देखना चाहते हैं जिसे लोक-भाषा में साम्य कहते हैं और जिसे दार्शनिक परिभाषा में आत्म साक्षात्कार भी कहते हैं। विकृतियों के निवारण के निमित्त वे भर्त्सना तक का प्रयोग कर डालते हैं जिससे उनकी वाणी कटु और कर्कश प्रतीत होने लगती है।

अपने समय और समाज की कुत्साओं और आवश्यकताओं से कबीर इतने सुपरिचित थे कि उनका ध्यान उनसे हटता ही न था। उन्होंने गोपीचन्द, गोरखनाथ, नामदेव और जयदेव का स्मरण लोगों को इसलिए दिलाया कि वे उनके मार्ग का अनुसरण करें अन्यथा कल्पना के भीने आवरण से भूत के स्वर्ण लोक की ओर देखने की उन्हें कभी चिंता नहीं हुई। यदि उनका ध्यान कभी उस ओर गया भी तो भक्ति, प्रेम और ईश्वरीय न्याय को प्रमाणित करने वाली प्रथित घटनाओं अथवा अनुश्रुतियों से प्रेरणा लेकर उन्होंने अपने समय की कुत्साओं और रूढ़ियों पर और भी अधिक निर्मम आघात किये। एक महान् आत्मा को धारण करने के कारण वे विचक्षण भविष्य द्रष्टा थे। आदर्श की मधुमयी भूमिका पर वे एक ऐसे समाज की कल्पना करने थे जो सुख दुख के द्वन्द्वों से परे है, जहाँ व्यक्ति वर्ण और जाति के बन्धनों से मुक्त है और जहाँ अखंड प्रेम की ही अनुभूति शेष है —

"कबीर हम बासी उस देश के, जहँ जाति वरण कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होइ रहा, देह मिलावा नाहिं॥"

सामान्य दृष्टि में उक्त उद्धरण में आध्यात्मिक अनुभूति की विशुद्धता ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें गहराई में जाने को प्रेरित करता है। वस्तुतः वर्तमान जीवन के अभावों ने प्रक्षिप्त होकर कबीर के अन्तर में इस निराले भाव लोक की सृष्टि की जिसमें शब्द-ब्रह्म का आनन्दमय मिलन है और जहाँ वह अचेतन को कलई खोल दी गयी है।

इस लोक म वे सबको प्रतिष्ठित करना चाहते हैं क्योंकि उसी स्तर पर स्थिति एकता है। सत्य का न्यायमय पथ ही इसका सरल एव सीधा मार्ग है। उन्हे अपने समय म जो बुराइया दृष्टिगत हो रही हैं उनमे विषमता का विलास है, असत्य और अन्याय की क्रीडा है। फिर भी दभी और पाखण्डी लोग उसे वेष द्वारा छिपाने का प्रयत्न करते है। कबीर उनको चेतावनी देते है कि उनका यह मिथ्याचार उनको मुक्त नही होने देगा—

'का नागे का बाधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम-राम।
नागे फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई॥
मूड मूडायें जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड न पहुती कोई॥
व्यद राखि जे खलें है भाई, तौ खुसरै कौंण परम गति पाई।
पढ़े गुनें उपजै अहकारा, अधधर डूबे वार न पारा।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई'[1]॥"

कबीर जानते थ कि मदिर और मस्जिद समाज की एकता को खडित करने वाल थे, अतएव उनके सम्बन्ध म जो भ्रम था उसके विरुद्ध उन्होने एक बहुत ऊची आवाज उठायी। यदि परमात्मा मूर्ति म रहता है, मदिर म उसका निवास है और अल्लाह मस्जिद म रहता है तो दूसरे स्थानो म किसका वास है उनका स्वामी कौन है—

'अल्लह एकु मसीति बसतु है, अवर मुलकु किसु केरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा'[2]॥"

उन्होने समाज म भरे हुए कपट को देखा और साथ ही उन रूढियो को देखा जो आपस मे भेद भाव पैदा करती है। हृदय कपट से पूर्ण है फिर भी लोग दिखावे के लिए पुरी म जा जा कर स्नान करते है या मस्जिद मे जा जा कर सिज्दा करते है। य सब आचार व्यर्थ है। उन्होने हृदय की शुद्धता पर विशेष बल दिया और तीर्थ, नमाज आदि क मिथ्याचारो पर करारी चोट देते हुए वे कहते हैं—

---

[1]. कबीर ग्रन्थावली, पद १३२

[2]. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-२६८

'कहा उडीसे मज्जन किया, क्या मसीत सिर नायें ।
दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जायें[1] ।।"

बहुदेववाद मे विश्वास भी सम्प्रदायवाद का प्रेरक था और सम्प्रदाय समाज म एकता के स्थान पर अनेकता ही फैलाते थे, इसलिए कबीर ने एक परमात्मा की शरण म जाने का ही निर्देश किया—

"कहत कबीर सुनहु नर नरवै परहु एक की सरना[2] ।"

कबीर ने वास्तव मे रूढियो और आचरणो की आलोचना की है और आलोचना करते समय इन्होने कुछ को ही अपना लक्ष्य बनाया है । यो तो सामान्य आलोचना के क्षेत्र म प्रत्येक व्यक्ति आ जाता है, किन्तु मूर्ति-पूजा, तीयव्रत, रोजा, नमाज आदि के सकेतो से वे धर्म या सम्प्रदाय विशेष पर अपने बाणवाण छोडते हैं । धर्मों के क्षेत्र मे भी वे उनके ठेकेदारो तक जा पहुचते है । पडित, मुल्ला अवधू आदि धर्म प्रतिनिधि हैं । कबीर इन्ही को सबोधन करके इनके रूढाचारो की आलोचना करते हैं । इनके सबोधन व्यग्य प्रधान भी है जिनमे ये मधुर चुटकिया भर कर घायल कर देते हैं । प्राय कबीर की आलोचना बडी तीव्र होती है । वे मर्म पर चोट करते है । वे चोट केवल चोट करने के लिए नही करते, अपितु भ्रम एव मिथ्याचार को दूर करने के लिए करते हैं । वे धर्म और कर्म के उस खोखलेपन पर आघात करते हैं जिसमें कोई तथ्य नही है । मुल्ला को सम्बोधित करके कबीर ने ऐसे ही आघातो का परिचय दिया है—

"मुल्ला कहा पुकारै दूरि, राम रहीम रह्या भरिपूरि ।
यहु तो अलह गूगा नाहीं, देखै खलक दुनी दिल माहीं[3] ।।"

सबोधन के साथ कबीर अपना निर्णय भी सुना देते हैं । जहा वे प्रश्न करते हैं वहा उनका लक्ष्य सकेतित रहता है, किन्तु ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहा प्रश्नो के अन्त मे उनका निर्णय गुथा रहता है । उक्त पद मे प्रश्न भी है और उत्तर भी । अतिम पक्ति मे उन्होने जो निर्णय दिया है वह कटु और तीव्र है—

---

[1]. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-९

[2]. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-९

[3]. कबीर-ग्रन्थावली पद ६०, पृष्ठ १०७

"कहै कबीर यहु मुलना झूठा, राम रहीम सबनि में दीठा[1]।"

कबीर किसी अपराधी को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु मिथ्याचार को क्षमा नही कर सकते। वे उसके पीछे पड़ते हैं, उसे नष्ट करने का भरसक प्रयत्न करते हैं और इसी प्रयत्न में मुल्ला, पांडे और काजी को खरी-खरी बाते सुननी पड़ती हैं। पांडे वेद पढ़ता है किन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नही दीख पड़ता। यह देख कर कबीर क्षुब्ध हो उठते हैं—

पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चन्दन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाही, अति पड़ै मुखि छारा॥
वेद पढ्या का यहु फल पांडे, सब घटि देखें रामा।
× × ×
जीव बधत अरु धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई।
आपन तौ मुनि जन ह्वै बैठे का सनि कहौं कसाई[2]॥"

कबीर के समय में धार्मिक मामलों का फैसला काजी के हाथों में होता था। वह कुरान शरीफ के आधार पर फैसला देता था। उसके न्याय में हिन्दू मुसलमान का भेद-पक्ष रहता था जिससे वैमनस्य की ज्वाला को और भी अधिक भड़क उठने का अवसर मिलता था। यह देख कर कबीर कब मौन रहने वाले थे? किसी दंड का भय उन्हें मूक नही कर सकता था। शान्ति की प्रेरणा उनको आतुर कर देती थी। वे वाणी की चिन्ता नहीं करते थे, उसकी सजधज का खयाल उन्हें नही होता था, अतएव वाणी स्वयं उनके उद्गारो को सभालती फिरती थी। हिन्दू और तुर्क के भेद के विरोध में उनके उद्गारो को देखिये—

'काजी कौन कतेब बखानें।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहि जानें।
सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु नबदू रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपे करि किन आई।

---

[1] कबीर-ग्रन्थावली, पद ६०

[2]. कबीर-ग्रन्थावली, पद ३६, पृष्ठ १०३

हौं तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये ।
अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिन्दू रहिये ।
छाडि कतेब राम कहि काजी, खून करत हौ भारी ।
पकरी टेव कबीर भगति की, काजी रहे भष मारी'[1] ॥"

इस प्रकार अन्याय और पाखण्ड के कारण उत्पन्न हुई जीवन की विषमताओ की कबीर ने बडी कटु आलोचना की जिसमें कबीर के अन्तर की तीव्र व्याकुलता फूट पडी । अपने समय की जितनी कटु आलोचना और समकालीन बुराइयो पर जितने भीषण प्रहार कबीर ने किये उतने शायद और किसी ने नही किये । उनकी आलोचना में तीव्रता, कटुता, भर्त्सना, भय, मोहन और सवेग, सबका यथावसर उपयोग किया गया है ।

कबीर का लक्ष्य केवल आलोचना करना नही था, बुराइयो को मिटाना था । वे किसी दूषण को समाज मे नही देखना चाहते थे, विशेषत उस दूषण को जो समाज की एकता को भ्रष्ट करने मे प्रवृत्त था क्योंकि दूषित समाज मे वे घुटने लगे थे । उस घुटन को वे सहन नही कर सकते थे । कुछ आलोचको के विचार से कबीर की आलोचना-पद्धति मे समाज के निर्माण के लिए कोई उपकरण नही है । समाज के लिए उनकी वाणी का केवल निषेधात्मक मूल्य है । यह आरोप ठीक नही है । कबीर सहज स्वाभाविक प्रेममय जीवन के प्रचारक थे । उसी मे वे कल्याण को देखते थे । यह ठीक है कि वे समाज की बुराइयो को निकाल कर फेंक देना चाहते थे, किंतु यह भी ठीक है कि वे एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे । निर्दोष समाज मे ही कबीर के आदर्श समाज की कल्पना निहित थी । कबीर के आदर्श मे कोई अलौकिक कल्पना नही थी ।

वे कोई नया शिलालेख तैयार करने नही जा रहे थे, किंतु जो शिलालेख उनके सामने था, वह दूषित और भ्रामक था । उसे शुद्ध कर चमकाना उसके सही रूप का सामने लाना उनका प्रमुख लक्ष्य था । उन्होने देखा कि कुछ दम्भी-पाखण्डियो के मार्ग का अनुसरण करते हुए लोग भटक रहे थे । जीवन के सही रूप को न समझ कर कितने लोग गुमराह हो रहे थे । कुछ गर्व और अहकार का भार ढो रहे थे और कुछ अत्याचार और निराशा मे पिस रहे

[1]. कबीर ग्रन्थावली, पद ५६, पृष्ठ १०७

थे। कबीर की आलोचना पद्धति म उनक उद्धार का प्रयत्न था। समाज के उद्धार क लिए उ ह एक दिव्य प्ररणा मिला थी। उनके लिए परमात्मा का निदे श था—

हरिजी यहै विचारिया साखी कहौ कबीर।
भौ सागर म जीव ह जे कोई पकड तीर॥[1]

इस साखी स स्पष्ट है कि कबीर की वाणी के मूल म लाक मगल की कामना निहित है। उनकी मगल-साधना लाक प्रम को समानायक है। यो तो कबीर जीवमात्र के प्रति सहानुभूति रखते ह किन्तु मानव पर उनकी विशेष दष्टि है। इसीलिए उनकी दृष्टि उसकी दुबलताओ पर है। उनकी भक्ति और काव्य-सजना की आधार शिला मानवता के प्रति उनकी तीव्र सवेदना है। मनुष्य के प्रति वे सहानुभति रखते ह, इसीलिए वे उसके दूषणो की आलोचना भी करते ह। जो प्रश्न कबीर के सामने प्रमुख रूप मे आया है वह सामाजिक परिमाजन का प्रश्न है विषमताओ के निवारण और एक समतल सामाजिक भूमिका की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। दूषणो की आलोचना के साथ साथ कबीर की दष्टि म उनका निवारण भी है जो सदगुणो की प्रतिष्ठा क साथ ही हो सकता है। अतएव जब हम कबीर को आलोचक के रूप मे देखते ह तो उसके निषध पक्ष के पीछे विधेय भी छिपा रहता है—

काहि हलाल हराम निवार, भिस्त तिनहु कौं होई।
पच तत का मरम न जान, दोजगि पडिहै सोई॥[1]

× × ×

सायर उतरो पथ सवारो बुरा न किसी का करणा।
कहै कबीर सुनहु रे सतो ज्वाब खसम कू भरणा[1]॥

यहा बुराई से बचान क प्रयत्न के पीछे सायर उतरो पथ सवारो का प्रयत्न भी निहित है। पथ सवारो म 'सत्पथ' पर चलने का सकेत स्पष्ट है। यही सत्पथ भवसागर से पार उतरने का साधन है। सत्पथ गमन' की प्रेरणा कबीर की दृष्टि म मनुष्य वहन करता ही है और उसका यह दायित्व है स्वामी के प्रति। मनुष्य ने अपने दायित्व को निभाया या नही,

[1] कबीर ग्रथावली पृष्ठ १२१

इसका उसे परमात्मा को उत्तर देना पडता है। इस प्रकार कबीर की आलोचना-पद्धति निषेधात्मक ही नही, विधेयात्मक भी है।

कबीर का सत्पथ मिथ्याचार के लिए कोई अवकाश नही छोडता। उस पर चलने का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को ही नही, वरन् जो भी चाहे उस पर चल सकता है। वह इतना सरल है कि उस पर चलने वाले को कुछ जोर नही आता किन्तु वक्रगति मनुष्यो का उस पर चलना कठिन है। वक्रता का परित्याग ही उनकी गति की साधना है। इसीलिए वे वैष्णव तक को अपनी आलोचना के मैदान मे क्षमा नही करते। छापा-तिलक बना कर लोगो को वचित करने वाले आडम्बरी वैष्णव की कटुतम आलोचना करके ही कबीर कृतकृत्य नही हो जाते अपितु उस आडबर के कारण को भी सामने ला रखते हैं—

"बैस्नो भया तो का भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाइ कर, दग्ध्या लोक अनेक॥"

वेश-भूषा और आडम्बर के पीछे अज्ञान छिपा हुआ है। उसी अज्ञान ने छापा तिलक को गौरव देकर वैष्णव को भ्रम मे डाल दिया है। वैष्णवत्व वेश मे नही है, हृदय और आचारण मे है—प्रेम और सरल व्यवहार मे है। यहा सात्त्विक एव सदाचारपूर्ण जीवन के प्रति कबीर का आग्रह स्पष्ट है जिसको कुछ उद्धरण और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं, यथा—

"बष्णों की छपरी भली ना साकत का बड गांउ।"

क्यो ? इसीलिए न कि वैष्णव श्रेष्ठ आचरण का प्रतीक है और शाक्त दुराचार की प्रतिमूर्ति। इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिये कि कबीर मगल की साधना के क्षेत्र मे केवल निषेध-पक्ष को ही नही अपनाते। उनकी वाणी विधेय का स्वतत्र रूप से भी प्रचार करती है और निषेधगत सकेतो से भी। यह ठीक है कि वाच्यार्थ मे निषेध की ही प्रमुखता है किन्तु कबीर के अभिप्राय को, उनकी वाणी को लक्ष्यार्थ से वचित नही किया जा सकता। 'खू दन तो धरती सहै बाढ सहै बनराइ' जैसे वाक्यो मे विधेय स्पष्ट है किन्तु जिस प्रकार निषेध मे विधेय सकेतित रहता है उसी प्रकार 'खू दन × ×' आदि वाक्यो मे निषेध भी सकेतित है। मनुष्य विनयविमुख न हो, असहिष्णुता से काम न ले, बुराई का प्रतिकार बुराई से न करे आदि निषेधो मे कल्याण

की भावना स्पष्ट है। अतएव कबीर वाणी में दोनों पक्षों का समावेश है। निषेध पक्ष में विधेय और विधेय में निषेध के संकेत स्थल ही मिल जाते हैं।

पीछे यह कहा जा चुका है कि कबीर की आलोचना पद्धति में व्यंग्यों का भी समावेश है और व्यंग्यकार में कबीर का स्थान कुछ कम ऊंचा नहीं है किन्तु व्यंग्यों में कबीर ने समाज की खिल्ली उड़ायी है ऐसा न समझ लेना चाहिए। खिल्ली में हलकापन का भाव निहित है। यदि कबीर को समाज की खिल्ली उड़ाने वाला कह दिया जाय तो समाज के प्रति कबीर की संवेदना का हलकापन प्रकट होगा। कबीर का पाठक यह जानता है कि उनके व्यंग्य बाणों का सा असर करने वाले हैं उनमें मर्म भेदन की अमोघ शक्ति है। सीधा प्रभाव ही उनके व्यंग्यों का गुण है। उनके व्यंग्य पीड़ा पहुंचाने के हेतु नहीं हैं अपितु जागृति उत्पन्न करने वाले हैं। अस्तु कबीर की वाणी को समाज का मजाक या खिल्ली कह कर हल्की बनाना उचित नहीं है। क्योंकि खिल्ली या मजाक में विवशता का भाव भी नहीं लाया जा सकता। कबीर जो कुछ कहते हैं वह विवश होकर ही कहते हैं। प्रेम और महानभूति से सर्वथा क्षोभ या व्याघात से प्रेरित होकर कहते हैं। उनकी विवशता ही उनकी वाणी की चरम स्पष्टता है। जो लोग इस मर्म पर ध्यान नहीं देते वे कबीर की वाणी का यथार्थ भी नहीं डालते हैं।

कबीर की आलोचना पद्धति को गर्वोक्तियों से लांछित नहीं करना चाहिए। जिन लोगों को कबीर-वाणी में गर्वोक्तियां दीख पड़ती हैं वे कबीर के व्यक्तित्व का समुचित मूल्यांकन नहीं कर पाये हैं। ध्यान रखने की बात है कि कबीर आदि में उन्नत एक अस्मिता के विरोधी थे। दादू ने उनके लिए ठीक ही कहा है कि वे सिर देकर अर्थात अपने अहं का बलिदान करके ही वीर हुए थे। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक विगलित अहं महामानव की मूर्ति प्रस्तुत करता है। सहानुभूति और प्रेम के मार्ग से कबीर ने आत्म विस्तार कर लिया था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आत्म विस्तार महत्व का प्रतीक है। उसके बिना कोई भी व्यक्ति अपने युग का समर्थ आलोचक नहीं हो सकता। जिसकी अनुभूति समाज के सुख दुख से बनती है जिसके हृदय के स्पंदन में लोक संवेदन के स्वर मुखर होते हैं और जिसकी वाणी में युग के

सही रूप को व्यक्त करने की क्षमता होती है उसी व्यक्ति की आलोचना अपने समय और समाज का परिष्कार और उचित पथ निर्देशन कर सकती है।

कबीर में ये सब गुण विद्यमान थे इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति दिखायी देती है। सदेह नहीं कि अहकार मनुष्य का प्रबल शत्रु है। उसका त्याग अति दुस्साध्य है। यह महापरपा की दुर्बलता है— मान तज्या नहि जाइ —इस मान ने बड बड मुनिया के मन तक को चचल कर दिया था। कबीर उसके सबध मे बड सतर्क थे। जिसने कबीर के मेम बड़ी बलाय है का भलीभांति समझा है वह उन्हे अहकारी कहने का भ्रम नहीं कर सकता क्योंकि जो कबीर कथनी और करणी म समझौता चाहत थ उन्होन स्वय ही उनके बीच मे कोई खाई खोद ली हो ऐसी उनके व्यक्तित्व म आशा नहीं की जा सकती। वे साम्यमात्र धरातल की वह ऊचाई प्राप्त कर चुक थ जहाँ से उनके पतन के सबध म किसी प्रकार की सभावना नहीं मिलती —

जब मै था तब हरि नहीं अब हरि है मै नाहि।

इस पक्ति से स्पष्ट कबीर की निरहकारता झलकती है। यदि इसम भी किसी क व्यक्ति की झाकी मिल रही हो तो और कुछ कहना व्यर्थ है। जो एक ओर तो रोग ह्व रहु बाट का की बात करता हो और दूसरी ओर ब्रह्मपद को प्राप्त करने की घोषणा कर रहा हो उसकी दोनो स्थितियो का समझौता निरहकारता म ही हो सकता है अन्यथा कबीर के व्यक्तित्व मे दभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।

जो कबीर सामाजिक धार्मिक और आर्थिक धरातल पर साम्य की प्रतिष्ठा चाहते थ निश्चय ही क्रातिकारी पुरुष थे। क्राति को लाने के लिए जिस साहस और आत्मविश्वास तथा चुनौती देने के लिए जिस निर्भीकता और दृढता की आवश्यकता है कबीर के व्यक्तित्व म उसका प्राचुर्य था। इन गुणो की सामूहिक शक्ति जब कबीर के व्यक्तित्व के गौरव से समकालीन रूढियो और विषमताओ को ललकारती है तो नीति के स्थूल माप दण्ड से मापने वाले अथवा भाषा के केवल खुरदरे रूप से परखने वाले समीक्षक उसे गर्वोक्ति म लाछित देखते हैं परन्तु जो साहित्य को समाज की गतिविधि का नियता भी मानते हैं वे निर्गुण कबीर की सगुण वाणी से रोमाचित हो उठते हैं।

जो कबीर कीरी से कुंजर तक एक ही आत्मा को व्याप्त देखते हैं, जो बकरी और कसाई में तत्वत अभेद पाते है, उनके अन्तर से किसी गर्वोक्ति का उदय हुआ होगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। गर्वोक्ति के साथ अभेद का कोई समझौता नही हो सकता। अस्मिता का विगलन ही एकता का सीढ़ी है। अतएव यह कहना असगत है कि कबीर की आलोचना-पद्धति मे गर्व या अहकार का पुट है। कबीर स्वभाव और आचरण, दोनो क्षेत्रो मे साम्यवादी हैं। अतएव उनकी किसी सहजोक्ति को गर्वोक्ति कहना सर्वथा अनुचित है।

कबीर की वाणी म समाज के लिए एक प्रेरणा और एक पथ था। वे कोई ऐसे जन-नायक नही थे जिनकी मति और कृति मदविघूर्ण रहती है। उनमे मस्ती है, किन्तु प्रेमकी, समता के साक्षात्कार की। यह उनके अन्तर से प्रवाहित प्रेम-धारा है जो युग-दग्ध मानवता को समशीतोष्णता की भाव-भूमि पर लाने के लिए तत्पर है। कबीर मे आत्मरस या स्वरस की मादकता भरी हुई थी। उसी के प्रभाव से वे वर्ग और वर्ण के भेद से ऊपर रहते थे और उसी मे उनकी निर्द्वन्द्व स्थिति थी जिससे उनके उद्गारा को रोकने का कोई प्रयत्न नही दीख पड़ता। अनुभूतिजन्य कोई उद्गार उनके लिए अनभि-व्यजनीय नही था। वे जो कुछ कहना चाहते थे, अवश्य कह डालते थे, बिना यह ध्यान रखे हुए कि वे कैसे कह रहे थे। उन्होंने भाषा की खुशामद नही सीखी थी। वे उसे भाव-वाहिनी मानते थे और भाव-सेवा के लिए उनकी भाषा सदैव प्रस्तुत रहती थी। भाषा मे चमक-दमक और सजावट है या नही, यह शायद उन्होने कभी नही सोचा। यदि विदग्धता, कौशल और पांडित्य के अभाव के कारण कोई आलोचक उसे, 'असमार्जन', 'गर्वोक्ति' आदि से लांछित करे तो यह उसकी भूल है। देखना तो यह है कि उनकी भाषा मे कितनी ईमानदारी और तत्परता है, जो काम भाषा को सौंपा गया है उसे वह करती है या नहीं और करती है तो किस सीमा तक, कितनी सफलता से।

कबीर की आलोचना-पद्धति मे कभी-कभी रूखापन अवश्य प्रतीत होने लगता है किन्तु वह आलोच्य के प्रति उनकी सहानुभूति और ईमानदारी का प्रतीक है। मैं समझता हूँ कबीर का समय ऐसी वाणी की अपेक्षा रखता था। युग को अपनी गति बदलने के लिए मर्म-स्पर्श की आवश्यकता थी और कबीर

की वाणी मे मर्मस्पर्शिता पर्याप्त है। जहा मर्मस्पर्शिता है वही रुखापन है। रुखापन कबीर की वाणी की प्रवृत्ति नही, आवश्यकता की माग थी। सच तो यह है कि कबीर की आलोचना-पद्धति को उचित परिपार्श्व मे देखना ही उनकी वाणी का उचित मूल्याकन है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कबीर की आलोचना पद्धति मे प्रेम और सहानुभूति ही मूल प्रेरणा है। व्यग्य और तीव्रता उसका गुण है। सम्बोधनों में उसकी स्पष्टता और निर्भीकता और सकेतो मे उसका लक्ष्य निहित है। उनकी वाणी मे मार्जन की कमी दिखायी पडती है किन्तु आज के दृष्टिकोण से, शिक्षित आलोचक की दृष्टि से, कविता की कसौटी पर कबीर की वाणी को परखने वाले के लिए। जनसाधारण की भाषा में मार्जन गुण किस सीमा तक रह सकता है, इस परिपार्श्व से देखने वाले को कबीर वाणी आलोचना का बहुत माध्यम ही दीख पडेगी।

८

व्यक्तित्व

कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक स्पष्टवादी और विनयी थे। दंभ और *अक्खड़ उनको प्रिय न रहे थे। अहंकार और अनाचार उनको बुरे लगते थे। दीनों* और पीड़ितों के प्रति भक्ति का आकर्षण देकर उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन देते थे। वे लोक जीवन के अति निकट थे। सामान्य व्यक्ति के लिए उनका व्यक्तित्व अतिसामान्य प्रकट होता है। इसीमें उनकी सरलता निहित है जो उनके व्यक्तित्व की उच्चतम अवस्था है। इसके अतिरिक्त वे स्वतन्त्र चिंतक भी थे। उनका गंभीर चिंतन उनकी वाणी में कभी कभी इतना निगूढ़ हो गया है कि वह अद्भुत और विचित्र प्रतीत होता है—इतना निगूढ़ कि अच्छे अच्छे विचारक तक उसकी गहराई में गोते लगा कर उसके समझने में असफल रहते हैं। यदि यह कह दिया जाय कि कबीर अपने राम की भांति ही साधारण बुद्धि के परे की वस्तु हैं तो कुछ अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार कबीर ने अनेक शब्दों में अपने राम का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार उनके अनेक विद्यार्थियों ने उनके व्यक्तित्व की गवेषणा करने की चेष्टा की है किन्तु इत्थमिद कह कर कोई उसकी 'इति' पर पहुंचने का दावा नहीं कर सका। उनको भक्त ज्ञानी और योगी के व्यक्तित्व में देखकर आलोचक अपनी अपनी कह गये हैं। किसी ने उनके भक्त स्वरूप को और किसी ने ज्ञानी रूप को ही देख कर अपना एकांगी मत स्थिर कर लिया है। न भक्ति, न योग और ज्ञान ही कबीर के पूर्ण व्यक्तित्व को व्यक्त कर सके हैं। अक्खड़ फक्कड़ और मस्तमौला शब्दों में भी उनके व्यक्तित्व का पाक्षिक दर्शन ही हो पाता है। समाज-सुधारक का रूप भी कबीर के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता। हां संत शब्द अवश्य ऐसा है जो सम्पूर्ण कबीर को हमारे सामने रख देता है।

जिसने कबीर को ज्ञानी, भक्त आदि किसी एक रूप मे देखा है वह उनकी वाणियो म से ही इस सबध म उपयुक्त तर्क और उद्धरण दे सकता है किन्तु जो उनको 'सन्त महात्मा' कह कर चुप जाते हैं वे चाहे कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण न कर सके किन्तु उसके सबध म कोई भ्रान्ति नही फैला सकते।

कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ प्रतीत होता उतना ही सरल था और जितना सरल दीखता है उससे कही अधिक गूढ था। जिस प्रकार नारियल या बादाम को ऊपर से देख उनके भीतरी स्वरूप का विश्लेषण नही किया जा सकता उसी प्रकार कबीर क बाह्य रूप को देखकर उनकी भर्त्सनामयी कठोर वाणी को पढकर उनके कोमल दयालु अतर का अनुमान नही लगाया जा सकता। सच तो यह है कि व एक सन्त, ऊचे दर्जे के महात्मा थे इसलिए उनके व्यक्तित्व की सीमाओ म सरल और गूढ दोनो रेखाओ का अनूठा मिलन है। ठीक है कि वे पढे लिखे नही थ किन्तु अपढ और अशिक्षित शब्द उनके व्यक्तित्व का सही मूल्य नही आक सकते। कबीर का शब्दो म खोजना असभव है। उन्ह उनकी (शब्दो की) प्रवृत्ति उनकी अन्य दिशा म ही ढूढा जा सकता है। उनके शब्दो म कही कही बडी गभीर ध्वनि भरी मिलती है जिसम उनकी गहन अनुभूति का विलास दृष्टिगोचर हो जाता है। कही कही यह समझना बहुत सार्थक ही होता कि अमुक शब्द का क्या अर्थ है अपितु यह जानना बहुत आवश्यक हो जाता है कि अमुक शब्द की भूमिका क्या है। यह समझने के पश्चात कबीर का अतर अगोचर नही रहता। इसी परिचय म महात्मा कबीर का परिचय निहित है।

कबीर जागरूक चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक थ। ये गुण इतने मूल्यवान नही, जितनी उनकी निर्भीकता है। उनकी वाणी म जो रूकता एव रुखापन और भर्त्सना का भाव दिखायी देता है उसका कारण है उनका मानव प्रेम, दयालुता और ईमानदारी। बाह्याडम्बरो के प्रति उनकी वाणी ने जो प्रतिक्रियात्मक-रूप ग्रहण किया है उसम उनकी ईमानदारी की ही प्रेरणा है। *जिस वाणी म प्रति क्रिया है उसीम क्रान्ति छिपी हुई है। उनकी निर्भीक वाणी* अटूट शक्ति से देश, धर्म, समाज दर्शन और भावना म क्रान्ति की धारा प्रवाहित करने म तत्पर प्रतीत होती है।

मानव एकता के परिपोषक कबीर न सुधार म मिलते हैं और न मत-प्रवर्तन म। वे रूढियो के विरोधी किन्तु धर्मभीरु व्यक्ति हैं। अन्धविश्वासों के प्रति उन्ह घृणा है और सद्वृत्ति और सदाचार के प्रति उनकी आस्था है। वे निष्पक्षता के समर्थक और नि शकता के प्रेरक ह। वे श्रद्धावान् शिष्य गुरु है। उनका 'गुरु भाव' कही प्रखर नही हुआ। वे प्रेम के प्रचारक और नीति के सस्थापक हैं। वे धन के सग्रह और परिग्रह की निदा क्योकि धन का सचय एक करता है और वह काम दूसरे के आता है।

वद और कुरान के अधपाठ म कबीर का बिल्कुल विश्वास नही है। वे अधपाठ की निदा करते है किन्तु उनके भीतर जो सत्य निहित है, जिस अनुभव की व्यजना है उसकी निदा उन्होने कभी नही की। रोजा और व्रत म कबीर को दभ दीखता है। सच्चे रोजा और व्रत तो मन की पवित्रता है। तीर्थों के प्रति भी कबीर की आस्था नही है। इन सबम कबीर को धर्म-साक्षात्कार नही होता। इन सब के मूल म जो रहस्य है उसको पा लेना ही धर्म है। सत्सग, विवेक, मन की पवित्रता आदि म धर्म-दर्शन हो सकता है।

कबीर लोक को छोड भागने की बात कहते हैं, ऐसी बात नही है। कभी-कभी उनकी वाणिया की तह म न पहुँचने के कारण आलोचक लोग उनका मनमाना अर्थ कर डालते है और ऐसे ही किसी झोके मे वे कबीर को पलायनवादी भी कह देते है। वे न तो वल्कल वसन पहनने के समर्थक है और न बन-खड मे तप करने के ही पक्ष मे है[१]। फिर उनका 'पलायनवाद' (यदि कोई है भी तो) उन्हे कहाँ ले जा सकता है। वे इस जगत मे रहकर भी उसके प्रति आसक्त नही होते। यह अनासक्त भाव उनकी वैराग्योक्तिया का मूल स्वर है।

यदि वे 'पलायनवादी' (शब्द के प्रचलित अर्थ म) होते तो अपने व्यवसाय को छोड कर भी भाग जाते किन्तु ऐसी बात नही। वे श्रमजीवी थे। जो व्यवसाय उन्हे उत्तराधिकार के रूप म मिला था उसका उन्होने परित्याग नही किया। अपनी अर्जना को वे अपने परिवार के भरण पोषण और साधु-सेवा मे व्यय करते थे। पलायनवादी पराश्रय मे भागता है। कबीर भागने वाले

१ बाकुल बसतर किना पहरिबा।
का तप बन खडि बासा॥—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११६)

नहीं थे। वे जीवन की हर परिस्थिति का सामना कर सकते थे। आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता के कारण व्याकुलता उनको छू तक नहीं पाती थी। साधु-सेवा और त्याग उनके व्यक्तित्व के भूषण थे। माँ और पत्नी का विरोध भी उनको इस सबंध मे विचलित नहीं कर सकता था। एक ओर उनकी उदारता थी और दूसरी ओर सहिष्णुता, एक ओर रुचि थी और दूसरी ओर विरोध। विरोध उनको कभी झुका नहीं सकता था। दुनिया की बाते सुनकर भी वे करते मन की ही थे। उनकी इच्छाशक्ति ने उन्हे चट्टान बना दिया था जिसमे निश्चलता थी किन्तु साथ ही कोमलता भी। कबीर के व्यक्तित्व के ये दो विरोधी तत्व ही उसे गूढ बना देते हैं।

कबीर मस्त और मनमौजी थे। जो धुन आयी वही कह डाला। भावो का दबाना मानो उन्होने कभी सीखा ही नहीं था। सत्य का पुजारी निर्भीक तो होता ही है अदम्य भी होता है। कबीर भी सत्य के पुजारी थे। उनके सत्य न न तो कभी दबने का प्रयत्न किया और न उन्होने कभी उसे दबाने का ही। सत्य उनका गुरु था और सत्य ही ब्रह्म भी। वे अपने को भी सत्य से भिन्न नहीं समझते थे। उनकी आत्मा सत्यस्वरूप थी।

वे अनासक्त योगी और ईश्वरासक्त भक्त थे। उनके ईश्वर प्रेम मे 'खालिक' और 'खल्क' दोनो समाविष्ट थे। 'खल्क' के प्रति उनका प्रेम अहिंसा का पोषक था। सत्य के अन्वेषक के नाते वे पूर्वमान्यताओ को महत्त्व नहीं देते थे। बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर सही उतरने पर ही कोई मान्यता कबीर से प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती थी। किसी भी अप्रतिष्ठित मान्यता की वे धज्जियाँ उडाने मे समर्थ थे। उनके पास बुद्धि थी और वाक्शक्ति भी। उनके कण्ठ से जो आलोचना निकलती थी वह बडी स्पष्ट और तीव्र होती थी। उनकी बुद्धि अनुभव को स्वीकार करती थी। इसीलिए शास्त्र-ज्ञान से वह कभी परास्त नहीं हुई।

कबीर को अपने समय का नेता कह सकते हैं। हाँ, नेता, एक आदर्श नेता क्योंकि वे सत्य-प्रेमी, स्पष्टतावादी, निर्भीक, अहिंसक, वक्ता और त्यागी थे। वे अलोलुप और आत्मविश्वासी थे किन्तु निरभिमान भी थे। वे सरल, विनम्र और सदाचारप्रिय थे। कबीर उद्योगी और कर्मनिष्ठ थे। विषयो से दूर, निन्दको के पडौसी। कबीर सर मे कमल के समान इस जगत मे रहते थे। डा० त्रिगुणायत

के ये थोड़े से शब्द कबीर के व्यक्तित्व की बड़ी स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करते हैं— 'सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर क्रान्तिकारियों की क्रान्ति और कठोरता अनन्य भक्त की विनम्रता और प्रमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता सच्चे साधु की आचरण प्रियता आदर्श पुरुष का कर्तव्य परायणता योगियों की अक्खड़ता तथा फक्कड़ फकीर की साधना थी'।[1]

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में समाज की परिस्थितियाँ और आत्मप्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ था। वे कभी झिझके नहीं कभी झुके नहीं कभी अटके नहीं कभी भटके नहीं। वे अपनी साधना के धनी निश्वासों के राजा और अनुभूतियों के साहूकार थे। जो मार्ग उन्होंने दूसरों को दिखाया वे उसी पर चले थे और वही उनका मुक्ति मार्ग था। बंधन तोड़ने के लिए उन्होंने जो सरलता ढूँढ निकाली वही उनके मार्ग की विशेषता थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही तो कहा है कि हजार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।[2]



१ देखिये गोविन्द त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा
२ देखिये राजेन्द्रसिंह गौड़—संत कबीर दर्शन पृष्ठ १७

: ९ :

लोक-मंगल की साधना

लोक मगल की साधना एक ऐसी साधना है जिसम व्यक्ति को अपने अनेक स्वार्थों का विसर्जन करना पड़ता है। व्यक्तिगत साधना से वह इस रूप म भिन्न होती है कि उसमें लोक कल्याण प्रधान होता है जबकि व्यक्तिगत साधना म आत्मकल्याण प्रधान होता है। एक म साधक लोक को सामने रखता है दूसरी म अपने को। फिर भी दोनो मे कोई ऐसी विभाजन रेखा नही खीची जा सकती जिससे यह कहा जा सके कि अमुक स्थल पर दोना पृथक ह। व्यक्तिगत साधक लोक साधक भी हो सकता है।

सामाजिक प्राणी होने क नाते कोई मनुष्य समाज म रहता हुआ उससे अपना सबध नही तोड सकता। यह हो सकता है कि उसकी साधना के कुछ पहलू समाज से दूर हो जाय फिर भी वह जिस लक्ष्य को लेकर साधना म प्रवृत्त होता है वह उसके सदभावो को जगा कर उन्हे लोक कल्याण म भी लगा सकता है। ईश्वर का जो प्रेम भक्त को मोहादि से खीच लेता है वही उसकी लोक के प्रति सहानुभूति एव दया को भी उदबुद्ध कर देता है। व्यक्तिगत साधना मे स्वार्थ प्रमुख होते हुए भी वह क्रमश सकीर्णता का परित्याग करता चला जाता है। व्यक्तिगत साधना की सिद्धि या चरम परिणति वास्तव म स्वार्थ की उदारता या व्यापकता म होती है। उस स्थिति म व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमाए समाज को भी अन्तर्भूत कर लेती है।

लोक साधना के सबध म व्यक्तिगत साधना का अपमूल्यन नही किया जा सकता। लोक कल्याण की कितनी ही उत्कट भावना क्या न हो व्यक्ति अपनी उपेक्षा करके अपने लक्ष्य पर नही पहुच सकता। अपने को भुला कर लोक मगल की साधना कदापि सभव नही है। जब तक अपना विचार नही किया जाता तब तक दूसरो से अपना सबध नही जोडा जा सकता। दूसरा स

सबध जुडन का आशय है सामाजिक सदगुणो का उदय जिस का सबध व्यक्ति स होता है। इन गुणो की पुरस्कृति व्यक्ति साध्य है लोक साध्य नही। दया रक्षा अहिंसा सत्य आदि व्यक्तिगत गुण होत हुए भी सामाजिक मूल्य रखते हं। इनके बिना सामाजिक गति कभी सभव नही है। यदि हम दूसरे को प्रम करते ह तो अपन सबध स करते हे। पहले आत्म प्रम है। आत्म प्रम ही पर प्रम का कारण है। स्व अपनी उदार दशा म पर से भिन्न नही होता। स्व की साधना का एक पक्ष पर हित साधना भी है इसी म लोक मगल की साधना पल्लवित होती है।

लोक मगल की साधना स्वार्थो को सीमित एव परिष्कृत करने की प्ररणा देता है। जिस स्वाथ की साधना दूसरा के इष्ट में बाधक बनती है दूसरो के उत्कष को रोकता हे वह अधम है। लोक मगल के साथ उसकी सगति नही हो सकती। लोक मगल केवल ऐसे स्वार्थो को अवकाश दे सकता है जो परोत्कष को बाधित न करे। सच तो यह है कि परापकषक स्वाथ आत्मोत्कषक भी नही हो सकते। केवल भ्रामक हा सकते हं। सर्वे भवन्तु सुखिन की कामना सच्चे आत्मो कष की कामना होती है। सब मे हम और हम म सब समाहित हो जाते हं।

जो महापुरुष कहलाते है वे इन्ही गुणो से विभूषित होत ह। वे 'स्व का शक्ति सम्पन्न करके लोक कल्याण के हेतु उस का उपयोग करते हं। राम कृष्ण बुद्ध आदि के नाम इसी परपरा म उल्लखनीय हं। कबीर नानक आदि ने इसी को आग बढाया था। तुलसी और सूर इसी माग के पथिक थे। यदा यदा हि धमस्य आदि वाक्या का अथ भी यही है कि महापुरुष निसग से शक्ति का वरदान लकर भूतल पर आते हं। व एक ही साथ दो काम करते ह लोक-कल्याण की सस्थापना और अधम का विनाश।

अधम व्यक्ति को निष्करुण एव दुराग्रही बनाता है। वह समाज के कोमल एव मधुर व धन को ताडन का सतत उपक्रम करता है जिसस पीडा वेदना सकट अन्याय उपद्रव आदि न जाने कितने सक्रामक सामाजिक रोग भडक उठते ह जिन से पीडित समाज की रक्षा और मुक्ति महापुरुषा का धम होता है। पीडा एक दूसरे प्रकार की भी होती है और वह है दहिक या दैविक।

लोक-मगल का साधक इनमे सामाज की रक्षा करने मे अपना योग देता है। इस को भी धर्म कहना उचित ही है। 'सर्वभूतहिते रत' धार्मिक का लक्षण है।

कुछ आस्थावाल लोग धर्म को एक दैवी प्रेरणा मानते हैं किन्तु वे भी आचार से उसे विरहित नही कर देते। जो लोग सद्गुणो के प्रसार और उपयोग को ही धर्म मानते हैं वे तो उसे आचरण में ही देखते हैं। उत्साह आदि गुणो म धर्म-भावना निहित रहती है किन्तु उत्साह को क्रिया से अलग करके धर्म का साक्षात्कार सभव नही है। धर्म की रक्षा ही वास्तव मे धर्म-कर्म है। धर्म व्यक्तिपरक होता हुआ भी समाज-सापेक्ष होता है। वह कर्ता के हृदय से उद्भूत होकर सम्प्रदान तक त्वरितगति से जाता है। इसी लिए प्राचीनो ने 'धर्मस्य त्वरिता गति' का निदर्शन किया है। कर्ता और सम्प्रदान के बीच म ही धर्म-क्षेत्र है। इसमे व्यक्तिगत साधना सफल होकर समाजमुखी बनती है। धर्म दाता का भूषण और आदाता का वरदान है। धर्मरत मानव आत्म-तोष प्राप्त करता हुआ दूसरो को भी तोष प्रदान करता है।

इसमे कोई सदेह नही कि कबीर-वाणी मे साधना का स्वर ही प्रमुख एव प्रखर है किन्तु यह समझना उचित न होगा कि उनकी साधना आत्मप्रधान है, लोक से उसका कोई सम्बन्ध न था। यह दुहराने की आवश्यकता नही कि लोक ने ही कबीर को कबीर बनाया था। उनकी प्रेरणा लोक जन्य थी। उसका आधार लोक था और क्षेत्र व्यापक था। अतएव यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि कबीर साधक थे, किन्तु उनकी व्यक्तिगत साधना लोक-साधना मे ही टकी हुई थी। जहा व्यक्तिगत साधना वनखडो और गुफाओ मे सीमित हो जाती हैं केवल वहा वह लोक-मगल को भुला सकती है अन्यथा उसमे लोक-कल्याण अपने आप समाविष्ट रहता है। कबीर को साधना उनके व्यक्तित्व से प्रारम्भ हुई है किन्तु व्यक्ति मे आबद्ध रहने के लिये नही। वे बनखडो और गुफाओ का आदर साधना के सबध से बिलकुल नही करते। साधना मन और आचरण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है, वह वनो और गुफाओ मे उत्पन्न नही होती। इसलिए कबीर कहते हैं—

"कबीर खोजी राम का, गया जु सिघल दीप।
राम तो घटि भीतरि रमि रह्या, जौ आवै प्रतीत[1]॥"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८१

मो साई तन म बसे, भर्यो न जाण तास।
कस्तूरी के मृग ज्य, फिरि फिरि सूँघ घास'[1]॥

इसस स्पष्ट ह कि कबार की साधना दूर भागन को प्रोत्साहन नहीं नी। उसका न्ध्य समाज म रहकर ही अपन और दूसरा क मल का माजन करना है इसलिए व साधु सगति का उत्तम मानत हुए कहते ह —

"कबीर संगति साध की वेगि करीज जाइ।
दुरमति दूर गवाइसी देसी समति बताइ'[2]॥

साध सगति व मामन व द्वारका आर काशी का शाघ्र ही अवमूलन कर न्त ह —

मथुरा ज्यव द्वारिका भाग नाथ जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन कछू न आव हाथ॥

साधु सगति क न का आग्रह स्पष्टत कबीर की सामाजिकता को पुष्ट करता है और समाज म सम्ब ध से ही व साधना का सफल मानत ह।

समाज म कबार का दा तत्त्व दृष्टिगोचर हात ह एक अच्छा और दूसरा बुरा। अच्छे तत्त्व की प्रशसा करत हुए व बुरे स बचन का उपदश दत हैं किन्तु एसी बात नहा है कि व बुरे की बिल्कुल उपेक्षा कर दते ह। आज के प्रतिवादियो का भाति वे बुराइ का चित्र खाचन म भा आग रहते ह। व मनुष्य का न ता दव ही मानत ह और न दानव हा। वह मनुष्यत्व स उठन का चेष्टा करे यही मकत कबीर की वाणी म स्थान स्थान पर मिलता है। जिनको बुराइया दानवता का आर धकल रहा है उन्ह व सुधार की प्ररणा देते ह। यह प्ररणा किसा व्यक्ति क सुधार का दृष्टि स नहा है अपितु समाज को पतन से बचाने पतन का उत्थान म परिणत करन और अपन आदश के साच म ढालन का दृष्टि म है।

कबार का आदश किसा परपरा या सप्रदाय विशेष से लिया हुआ नहा है अपितु वह सग्रह है जिसक लिए उन्ह समाज का काफी म थन करना पड़ा

---

१ कबार ग्र थावली पृष्ठ ८१
२ कबीर ग्र थावली पृष्ठ ४९

है। वही कबीर का सार सग्रह है और वही उनका मत है। कबीर को सन्त-मत का प्रवर्तक कहा जाता है किंतु उसका प्रादुर्भाव प्रवर्तन की दृष्टि से नहीं हुआ। सामाजिक दूषणों के निवारण की दृष्टि से हुआ था। यदि कबीर के सार सग्रह का सम्बन्ध उनसे (कबीर से) जोडते हैं तो समाज से तो पहले से ही जुडा हुआ लगता है। सद्गुणों का सग्रह जिस प्रकार समाज ही मे हुआ है उसी प्रकार वह समाज के ही निमित्त हुआ है। कबीर की साधना उनके मत से पृथक नहीं है। उसमे जिस प्रकार व्यक्तिगत साधना दृष्टिगत होती है उसी प्रकार समाज सग्रह भी।

कबीर एक सत्पुरुष थे। उनका प्रमुख रूप साधक का था। कुछ स्थलों पर वे अवश्य सिद्ध होने का बात भी कह गये है जो उनकी शुद्ध व्यक्तिगत किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के तीव्रतम उद्गार है। कबीर की यह स्थिति उनके समग्र व्यक्तित्व की द्योतक नहीं है। उनका अधिकांश व्यक्तित्व उनकी साधना मे निहित है जो व्यक्तिगत होते हुए भी समाजगत है। एक ओर वे सयम नियम के सबध से आत्मसाक्षात्कार मे सलग्न दीख पडते है, दूसरी ओर आत्मगुणों के प्रक्षेप से वे उनका प्रसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक कर देना चाहते है। इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना जिसमे आत्मविस्तार या आत्मकल्याण की भावना निहित है लोक मगल की साधना का रूप धारण कर लेती है। कबीर की भक्ति साधना पीडित जन लोक के प्रति उनके प्रेम को पुरस्सर करती है। ईश्वर के प्रति उनका प्रेम है। वे उसमे निमग्न होकर उसका आस्वादन करते है और दूसरों को भी उसके आस्वादन की प्रेरणा देते है। एक ओर ईश्वर प्रेम दुनिया से उनका मोह तोडता है दूसरी ओर वही साथी जीवों के प्रति उनकी सहानुभूति और करुणा उत्पन्न करता है। अपने साथियों के प्रति सहानुभूति और करुणा की दशा मे कबीर के लिए आध्यात्मिक उल्लास का स्वार्थमय एकांतोपभोग दुष्कर हो जाता है।

कबीर के दयाभाव को कुछ आलोचक पवित्र किंतु शुष्क कह देते है। वस्तुत बात ऐसी नहीं है। उसमे ऐसी चेष्टाओं का सकेत मिलता है जो कष्ट व दुख को दूर करने के लिए आवश्यक प्रतीत होती है। कबीर की दया मे कल्याणकारी प्रयत्नों को न खोजना उनके व्यक्तित्व की उपेक्षा करना है। क्योंकि वे

'करनी के बिना कथनी'[1] को कोई मूल्य नहीं देते। इतने पर भी उनकी उक्तियों मे प्रयत्न-प्रेरणा न देखना सरासर अन्याय है। अत्याचारों को सहकर भी कबीर ने सत्य और अहिंसा का जो प्रचार किया उससे उनकी शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी शक्ति का उपयोग उन्होने लोक-हित के लिये भी किया। अतएव कबीर की दया वाणी-विलास का झोंका कहकर नहीं उड़ायी जा सकती।

कबीर की इस करुणा का कारण है सबकी एकता, सबका एक स्रोत। उसी को देख कर कबीर की करुणा की गठरी यत्र-तत्र सर्वत्र बिखर पड़ती है। उस समय उनकी व्यक्तिगत साधना का एकान्तफल, व्यक्तिगत आनन्द स्तम्भित-सा दीख पड़ता है। सांसारिक दलदल मे फँसे हुए निराशों को आशा और उल्लास प्रदान करने के लिए वे अपनी आध्यात्मिक ऊँचाई से नीचे उतरने मे न तो अपमान समझते हैं और न कहीं डगमगाते हैं। दिव्य साक्षात्कार से आविर्भूत उल्लास की तीव्रता के साथ वे एक आदेश भी प्राप्त करते हैं जो उन्हें दिव्य सदेश के प्रसार की प्रेरणा देता है।[2] जिसे लोग कबीर का अहकार समझते है उनमे वस्तुत साथियो के प्रति उनके प्रेम का आन्दोलन है अन्यथा उनके मार्ग मे अहकार, गर्व या प्रगल्भता का क्या काम था ?

अहकार न केवल व्यक्तिगत दूषण है वरन् एक सामाजिक दूषण भी है। अहकार से समाज विच्छृङ्खल होता है। इसलिए वे मदान्ध लोगों को समझाते हुए कहते हैं—

> "दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
> मुई खाल की सास सो, सार भसम ह्वै जाय'[3]॥"

---

१. कथणी कथी तो क्या भया, जे करणी ना ठहराइ॥
—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

२. हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर मे जीव है, जे कोई पकडै तीर॥
—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६)

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४८

इस प्रकार कबीर ने अहकृति को विचूर्ण करने और समता लाने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक शस्त्र का प्रयोग किया है वह लोक-मगल की साधना के मार्ग मे सुन्दर स्फटिक-सोपान का काम करता है।

कबीर इसी लोक के मानव हैं। उन्होने समाज के पतन को अपनी आखो से देखा है, आततायियो के बीभत्स अनाचारो का महोत्सव घृणा की खुली आंखो से देखा है और पीडितो की मर्माहो को भी उन्होने करुणा के कोमल श्रवणो मे सुना है। सामाजिक विषमताओ ने उन्हें प्रेरणा दी और यातनाओ ने सहिष्णुतामयी प्रतिक्रिया। कबीर के दर्शन मे मूलत समाज-दर्शन निहित है। उनका अद्वैतवाद उपनिषदो से और मायावाद शकर से सम्बन्धित होता हुआ भी मौलिक है। उसमे सामाजिक एकता के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। जिस माया का उन्होने निरूपण किया है उसे भी धन, नारी आदि मे देखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर की साधना को व्यक्तिगत साधना कह कर समाज से विच्छिन्न नही किया जा सकता।

लोक-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक सामाजिक का एक ही मार्ग है। विरक्त और गृहस्थ तक मे बहुत अन्तर नही है। कबीर चित्त की उदारता गृहस्थ का गुण मानते हैं और विरक्ति वैरागी का। उन्हे भय है कि यदि विरक्त सग्रह मे लग गया और गृहस्थ सग्रह करके अनुदार हो गया तो अपना अनिष्ट करते हुए वे समाज का भी अनिष्ट करेंगे। इसीलिए उन्होने कहा—

"बैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित्त उदार।
दुहूँ चूका रीता पडे, ताकू बार न पार[1]॥"

कबीर के लोक-कल्याण का मूलाधार प्रेम है जिस प्रेम पर लोक-कल्याण आधारित है उसी की चरम परिणति ईश्वर प्रेम या भक्ति है। लौकिक प्रेम ही परम रूप मे अलोकिक बन जाता है। इस प्रकार कबीर के प्रेम के दोनो पक्ष स्पष्ट हैं। दोनो एक दूसरे के विरोधी नही हैं। प्रेमी कबीर प्रेमी की तलाश मे निकलकर उसे कही पा नही रहे हैं। यदि उन्हें अपने-जैसे प्रेमी मिल जाये तो कहना ही क्या? अमृत हाथ आजायेगा, कटुता दूर हो जायेगी, सब एक से हो जायेगे[2]।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५७
२ देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७

यह प्रम देखने म जितना आध्यात्मिक प्रतात होता है उतना ही लौकिक भी है। चाहे हम उसका आध्यात्मिक स्वर ही सुनायी पड रहा हो कि तु यह तथ्य है कि कबीर के व्यक्तित्व का विकास प्रम और घृणा के बीच म हुआ है। अच्छाइयो के प्रति उनका आग्रह है क्योकि व उन्ह प्रिय ह और बराइयो क प्रति उनका त्याग भाव है क्योकि उनसे उन्ह घृणा है। सामाजिक परिस्थितियो के सबध म हम यह अनुमान भी कर सकते ह कि सामाजिक कुरूपताए कबीर क सामन शशव म ही आने लगी थी। धीरे धीरे समाज की कुत्सित विडम्बनाओ के गभ म ही दलितो और पीडितो के प्रति उनका प्रम प्रस्फुरित हुआ। जिन बराइयो के प्रति उनकी प्रतिक्रिया हुई जिन विद्रूपताओ क प्रति उनके विद्रोह की आग धधकी उन्ही से पीडितो क प्रति उनके हृदय म दया का स्रोत उमडा। उनका सम्बध परमात्मा स जोड कर उन्होने शीघ्र ही अपन से भी जोड लिया।

लोक मगल की दिशा म कबीर की केवल धार्मिक भावना ही अग्रसर नही हुई अपितु नतिक दृष्टि भी विकसित हुई। यह ठीक है कि लोक मगल की साधना मे कबीर की धार्मिक भावना तो अपरिहाय रूप से प्रस्तुत रही ही है पर व्यावहारिक दृष्टिकोण भी उसक पूरक क रूप म सलग्न रहा है। वस्तुत धम व्यवहार से परे की वस्तु नही है। जहाँ धम सहज मानव गुण के रूप म प्रतिष्ठित हुआ है वहाँ नीति देश काल के सम्बध स मनुष्य का माग प्रशस्त करती रही है।

नीति का समाज स अटट सम्बध है। नतिक पतन समाज की शक्ति को ध्वस्त कर देता है। व्यक्ति दूषणो का आकार बनकर समाज के मूल को उच्छिन्न करते ह। अनाचार के वातावरण म सद्व्यक्ति घुटने लगते ह। उनकी ओर से उस वातावरण को नष्ट करने के लिए जो सत्प्रयत्न होते ह उन्ही म लोक मगल की साधना निविष्ट रहती है।

स्थूल रूप म धम और नीति म कोई विशेष अन्तर नही दिखाई पडता। फिर भी नीति-व्यवहार क अधिक निकट आती है और धम श्रद्धा और विश्वास के। भाव पक्ष प्रधान होने पर भी धम के आचरण-पक्ष को

विस्मृत नही किया जा सकता। जो धारण करने की क्षमता रखता है वह धर्म भाव और आचार, दोनो से सपुष्ट होता है। धर्म का सम्बन्ध प्रमुखतया व्यक्ति से और नीति का समाज से होने पर भी धर्म को समाज से और नीति को व्यक्ति से विलग नही किया जा सकता। धर्म दृढ़ता की अपेक्षा रखता है, श्रवस्था और धारणा की पृष्ठभूमि चाहता है और नीति को कौशल की विशेष आवश्यकता है। अपने-अपने ढग से दोनो ही मार्ग लोक-कल्याण के साधक है।

कबीर समाज को नैतिक बल उपार्जित करने की प्रेरणा देते है क्यो कि जीवन मे सब प्रकार की सफलता का आधार नैतिक बल ही है। कबीर का कहना है कि "शक्ति के अन्तर्गत तीनो भुवनो के रत्न भरे पडे है"—

'सीलवन्त सबसे बडा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सपदा, रही सील मे आनि॥"

कबीर कर्म फल को सामने लाकर पाप से बचने और पुण्य करने का उपदेश देते है। वे कहते है कि कलिकाल मे परिणाम शीघ्र ही मिला करता है, इसलिए बुराई किसी को नही करनी चाहिये। यदि तुम बायें हाथ से अन्न बोओ और दाहिने हाथ से लोटा दो तो दोनो का फल उसी के अनुरूप होगा—

'कली काल ततकाल है, बुरा करो जनि कोय।
अनवावे लोहा दाहिणें, बवे सो लुणता होय'॥"

जो जैसा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। कर्म का न्याय परमात्मा करता है और तदनुरूप फल देता है। अत कुफल पाने से पहले ही चेत जाना अच्छा है और उसका सीधा मार्ग कुकर्म से बचना है। यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है। इसे प्राप्त करके बुरे कर्मो मे इसका दुरुपयोग नही करना चाहिये। इसकी सार्थकता और सफलता शुभ कर्म करने मे है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६

कबीर मैं और तू की क्षुद्रता से ऊपर उठने-उठाने का प्रयत्न करते हैं। वे सारे विश्व को एक आध्यात्मिक बन्धुत्व में बधा देखते हैं। जो लोग नही देख सकते हैं उनको दिखाने का प्रयत्न करते हैं। अनेक व्यवसाय मनुष्यता का एकता को खंडित नही कर सकते। वर्ण-भेद मिथ्या है। इससे समाज में भेद पैदा होता है, समाज की एकता बिगडती है। ब्राह्मण और शूद्र दोनो एक हैं दोनो मनुष्य हैं। उनका व्यवसाय उनकी बडाई-छुटाई का मापक नही है। इस लिये कबीर ने ब्राह्मण को फटकार कर कहा —

> "जो तू बाभन बभनी जाया, आन बाट ह्वै क्यो नहिं आया।
> जो पै करता वरण विचारै, तौ जनमत हो डाडि किन सारै'॥"

इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर वर्ण-गर्व गिरा और दूसरी ओर हीनता की भावना मिटी। उनसे शूद्रो ने अपनी जाति को गौरव देना सीखा और अपने आचरण सुधारे। उन्हें अपने प्रति आकर्षण हुआ और जीवन मे आशा चमकने लगी। उनके लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया और आत्म-सम्मान की दृष्टि खुल गयी।

कबीर के लोक-कल्याण की साधना मे हिंदू-मुस्लिम एकता का भी प्रमुख स्थान है। कबीर इस आन्दोलन के बडे भारी समर्थक थे। इसके लिए उन्हे अनेक यातनाए भी सहनी पडी। सिकन्दर लोदी ने उन्हे दड दिया, किन्तु वे अपने पथ पर अडिग रहे और आन्दोलन को दुहरी शक्ति मिली और बादशाह की क्रूरता को उनके सत्याग्रह के सामने झुकना पडा। भारतीय जीवन मे कबीर का यह प्रयत्न एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। जिस मार्ग को कानून ने आज अपनाया है, कबीर की वाणी ने उसको उस समय ही अपना लिया था। इस दिशा मे कबीर के दूरदर्शी प्रयत्न प्रशसनीय है।

देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के सबध मे कबीर की दृष्टि उदार नही थी, उन्होने उसे बडी सकीर्ण एव हेय दृष्टि से देखा है। कुछ आलो-

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०४

चको का कहना है कि "सभी युगो व देशो के निवृत्तिमार्गियो का यह एक नियम रहा है कि वे स्त्री तथा धन की निंदा करते आये हैं और इस प्रकार वैराग्य की उस भावना को जाग्रित करते रहे हैं जो कबीर को भी स्वीकार है। कबीर ने स्त्रियो को नरक का कुंड बतलाया है। उन्हे स्त्री का विश्वास नही है, यह बात खटकती है। यह दुख की बात है कि उन्हे स्त्री मे यौन भावना ही दिखाई दी है, उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से आखे मूँद ली है जिसे उन्होने उस शाश्वत प्रेमी को भार्याए बन कर स्वय अपनाने का विचार किया है[1]।" इसमे तो सन्देह नही है कि कबीर ने नारी को आध्यात्मिक साधना के मार्ग का काटा माना है और शायद वह यौन भावना के सम्बन्ध से। इस विषय मे कबीर को किसी परपरा या स्तर विशेष मे सम्बन्ध करना अनुचित है। मेरी समझ मे कबीर ने नारी की निंदा इसलिए नही की कि उसकी कोई परपरा चली आ रही थी अपितु साधना के क्षेत्र मे नारी के सम्बन्ध से सिद्धो ने जिन विकृतियो का प्रचलन कर दिया था। वे न केवल साधना का कलक थी अपितु समाज के ऊपर भी बुरा धब्बा थी। कबीर ने जो कुछ कहा है वह साधना के सम्बन्ध से कहा है और यौन भावना के सम्बन्ध से कहा है। नर-नारी के पति-पत्नी सम्बन्ध अथवा पुत्र-माता सबध की कही निंदा नही की है अन्यथा वे स्वय परमात्मा से 'बहुरिया और दूल्हा' अथवा 'बालक और जननी' का सबध स्थापित न करते। वास्तव मे कबीर को स्त्रियो के व्यक्तित्व से कोई घृणा नही थी क्योकि उनके अनुसार पुरुष की भाँति वे भी परमात्मा की सृष्टि हैं —

"जेती औरति मरदा कहिये सब में रूप तुम्हारा[2]।"

कबीर विश्व-प्रेमी हैं। वे दूर करने की दृष्टि से दूसरो की निर्बलता पर विशेष ध्यान रखते हैं। वे दोष का विरोध दोषी को हानि पहुचाने की दृष्टि से कदापि नही करते। वे बुराई के शत्रु हैं, बुरे के नही। बुरे के साथ बुराई करो, यह नीति उन्हे प्रिय नही है और न भलाई के बदले भलाई करने मे ही उन्हे कोई विशेषता दृष्टिगोचर होती है, विशेषता तो वे तब समझते हैं जब बुराई का बदला भलाई से दिया जाये इसीलिए वे कहते हैं—

---

१ देखिए, बडथ्वाल—निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री, पृष्ठ १८२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६

जो तोकूँ काँटा बुवै ताहि बोइ तू फूल।
तोकूँ फूल के फूल है वाकूँ है तिरशूल ॥

इसस कबीर की चेष्टाए स्पष्ट है। वे लोगो को बुराई करना नहीं सिखाना चाहते क्योकि बुराई का जवाब बुराई से देने से बुराई का नाश नहीं होता प्रत्युत वह अधिक बढ़ती है। यही विचार कर उन्होंने कहा—

गारी आवत एक है पलटत होय अनेक।[1]

बुराई करनेवाला औरों की शान्ति का भंग करता है—अपनी शान्ति का और जिसके साथ वह बुराई करता है उसकी शान्ति को। और तो और वे अभिमान की बात तक को बुराई कहते हैं और उपदेश देते हैं—

ऐसी बाणी बोलिये मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै औरन को सुख होइ ॥[2]

कबीर की अध्यात्म साधना मन से घनिष्ट संबंध रखती है और मन का मन के संयमन या नियंत्रण में बड़ा योग रहता है—

कबीर तन पंखी भया जहां मन तहां उडि जाइ।
जो जैसी संगति करै सो तैसो फल खाइ ॥[3]

कबीर के पास मन के कुछ माप दंड हैं जो केवल उनसे ही संबंध नहीं रखते अपितु संसार सतरण के लिए दूसरों का भी हितकर सिद्ध होते हैं। कभी कभी लोग शुभ्र वेष से बहक जाते हैं और उनमें शुभ्रता का विश्वास कर लेते हैं। कबीर ऐसे लोगों को पहिचानते हैं और वे चेतावनी देते हुए कहते हैं—

उज्जल देखि न धीजिये बग ज्यूं माडै ध्यान।
धोरै बैठि चपेटसी यूं ले बूडै ग्यान ॥[4]

---

१ संत-वाणी संग्रह पृष्ठ ४४
२ संत वाणी संग्रह पृष्ठ ४५
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ५७
४ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ४८
५ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ४६

सभी मीठा बोलने वाले साधु नहीं होते। बहुधा ऐसे लोग धोखेबाज होते हैं—

"जेता मीठा बोलवा, तेता साध न जाणि।
पहली थाह दिखाई करि, ऊ ढै दोसी आणि[1]॥"

ऐसा ही नहीं कि कबीर समाज को केवल दूसरों के बताये हुए मार्ग पर ही चलाना चाहते हैं, वरन् उनकी अपनी अनुभूतियां हैं और अपने परीक्षण और प्रयोग हैं। पत्थर-पूजा, तीर्थ-व्रत आदि के खोखलेपन को उन्होंने भली भांति देख लिया है। वे नहीं चाहते कि लोग धोखे में पड़े रहें, वे नहीं चाहते कि वे भ्रम-मार्ग को प्रशस्त करें इसलिए उन्हें कहना पड़ा—

"पाहन कूं का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुषी, यौंही खोवै आब[2]॥"

यहा कबीर ने केवल प्रस्तर-पूजा पर ही आघात नहीं किया है, वरन् करारी चोट दी है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर मूर्ति-पूजा के साथ में 'आशा' पर भी लगी हुई कामना (आशा) को हेय बताते हुए भी सिद्धान्त के पीछे निहित भाव को स्वीकार करते हैं। आशा भावना की शुद्धता का अपहरण करके पूजा के माहात्म्य को नष्ट कर देती है। लोग पत्थर को पत्थर न मान कर देव मान बैठते हैं और अपनी-अपनी इच्छा से अनेक देवों की कल्पना करके न केवल देव-एकता को नष्ट कर देते हैं अपितु बहुदेवोपासना के सम्बन्ध से सामाजिक एकता को भी खंडित करते हैं। इसी कारण कबीर ने कहा—

"जेती देषौं आत्मा तेता सालिगराम[3]।"

जिन लोगों का मानसिक स्तर इतना नीचा है कि उपासना के लिए वे आकार को अनिवार्य मानते हैं उनके लिए कबीर साकारोपासना की सलाह देते हुए कहते हैं—

"साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं काम।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४
३. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

इन साधुओं के पूजने का कोई अर्थ है, कोई फल है। ये आपकी शंका का समाधान कर सकते हैं क्योंकि बोलते हैं, समझते हैं और अनुभव रखते हैं। इनके सामने मूर्ति-पूजा व्यर्थ ही नहीं, भ्रामक सिद्ध हो जाती है।

कबीर का साधु किसी वन या गुफा में नहीं रहता, किसी विशेष प्रकार का वस्त्र धारण नहीं करता, कोई तिलक-छापा नहीं लगाये रहता, किसी मंदिर या मस्जिद में बैठा नहीं मिलता, उसकी कोई बाहरी पहचान नहीं है, वह तो केवल मन, वाणी और कर्म का संयम जानता है, शुद्ध और निर्मल हृदय वाला है और शांत-चित्त है। कामादि उस को छू तक नहीं पाते। उपकार और प्रेम उसका मार्ग है और मुक्ति उसका लक्ष्य है। वह मुक्ति भी किसी हाट में बिकने वाली वस्तु नहीं है अपितु आत्म-साधना का मधुर फल है जिसे वह एकान्तवासी होकर नहीं प्राप्त करता अपितु समाज में रहकर और निःसंगभाव से उसे प्रेरित करता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

लोक-कल्याण का पथिक विनम्रता की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह स्वयं विनम्र होता है और दूसरों को भी विनम्रता की शिक्षा देता है। विनम्रता के उत्कर्ष में कबीर राम का 'कुतिया'[1] तक बन जाते हैं। इनका यह विनय केवल राम के प्रति ही नहीं है, वरन् अपने लौकिक व्यवहार में भी वे बड़े विनयशील हैं। अतएव वे दूसरों को भी विनयी होने का निर्देश करते हैं—

"रोड़ा ह्वै रहो बाट का, तजि पाखंड अभिमान।"

कबीर की विनम्रता सहनशीलता और समता में सम्पुटित है। जिस प्रकार उत्तेजना दुख का कारण बनती है उसी प्रकार विषमता की भावना भी दुख देती है। इसी लिए कबीर विनम्र होने के साथ सहनशील होने का आदेश देते हैं—

'खुदन तौ धरती सहै, बाढ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ॥"

'हरिजन' कबीर का आदर्श मानव है। वह विनम्र और सहनशील होने के साथ-साथ समभाव से विभूषित होता है। उसको पक्षपात कलंकित नहीं

---

१. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवडी जित खैंचे तित जाउँ॥

करता । व्यक्ति न केवल स्वय आत्मशान्ति प्राप्त करता है अपितु समाज को भी उसकी प्रतिष्ठा की ओर प्रेरित करता है । इसी दृष्टि से कबीर कहते हैं—

"सीतलता तब जाणियें, समिता रहै समाइ ।
पष छांडे निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥"

कबीर की विनयोपेत आध्यात्मिक शक्ति उनके दैन्यसम्पृक्त गर्व के रहस्य का उद्घाटन बडी सरलता से कर देती है। कबीर अपने दुर्बल शरीर मे भी एक असीम शक्ति का साक्षात्कार करते हैं जो कर्म के मूल्य का किसी प्रकार ह्रास नही करती।

समाज के विगलन का कारण कबीर स्व की सकीर्णता मानते हैं। जिससे अनेक विषमताओ का प्रादुर्भाव होता है। सामाजिक एकता का खडन पारस्परिकता के बन्धन का शैथिल्य इसी सकीर्णता से उद्भूत होता है। अतएव वे मनुष्य को कूप-मडूकता से निकालकर उसकी वृत्तियो को उदात्त बनाने की प्रेरणा भी देते हैं। जिसने वेद और पुराण की पुस्तके पढ डाली हैं, वह कबीर की दृष्टि मे पडित नही हैं। इस ससार में ऐसे लोग न जाने कितने आते और जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से ही नही, वैयक्तिक कल्याण की दृष्टि से भी उनका कोई मूल्य नही है क्योकि पाडित्य का गर्व उनकी उन उदात्त भावनाओ को, जिनसे लोक-मगल का परिपोषण होता है, दबोच देता है और ऐसे व्यक्ति समाज की प्रगति मे न केवल दीवाल का काम करते हैं, प्रत्युत दूसरो को पगु बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे 'पडितमन्य' लोगो की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

"पोथी पढ-पढ जग मुआ, पडित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ सो पडित होय ॥"

कबीर यह जानते थे कि लोक-मगल की सिद्धि किसी एक व्यक्ति की साधना से नही हो सकती थी, व्यक्तिमात्र का आचरण सामाजिक मगल तक पहुचा सकता है। इसके लिये वे एक वातावरण की आवश्यकता समझते थे जिसका सृजन उनकी समकालीन परिस्थितियो मे अति दुर्भर था। उस समय प्रश्न केवल एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद का ही नही था, अपितु वेदवाद और अवेदवाद का भी था। इतना ही नही अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय अपनी अनेक भ्रातियो मे आविष्ट होकर सामाजिक कुण्ठाओ के रूप मे प्रस्तुत हो रहे थे।

इनम से किसी के भी पक्ष म कबीर की साधना की असफलता होती। इस कारण कबीर को साधना का एक नया मार्ग निर्मित करना पडा जिसके कण-कण मे सम्प्रदायवाद को चुनौती थी, जिसम पग-पग पर नव-जागरण का आह्वान था, समाज को कबीर एक चेतना का वरदान दे रहे थे—उस चेतना का जिसको कोई प्रगतिशील मतवाद आज तक समाज के सामने प्रस्तुत नही कर सका है। अनेक वादा के समर्थक अपने-अपने लक्ष्य की मोहनी लेकर यह कहने का दावा कर सकते है कि एक अभग्न समाज की प्रतिष्ठा म उनका मत एकमात्र साधन है, किन्तु उसके साधना म क्या-क्या मुठाट है, दूसरा को उनके व्यक्त करने की आवश्यकता नही, वे स्वय जान सकते है।

कबीर मतवादी नहीं थ। वे न तो किसी मत का विरोध करना चाहते थ और न किसी का समर्थन ही क्योकि य दोना ही बाते उनके लोक-मगल की साधना म बाधक सिद्ध हो सकती थी। अतएव वे पक्ष-विपक्ष से ऊपर उठकर उस लोक का विचार करने लग जिसम न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र, न राजा है न रक, न हिन्दू है न मुसलमान, न वेद है न कुरान, न मदिर है न मस्जिद, न काशी है न काबा, न पडित है न काजी और न पुजारी है न मुल्ला।

लोग यह कह सकते है कि यह कबीर का वह लोक है जिसमे इस भूतल के निवासी नहीं रहते। वह कबीर का हरि-लोक हो सकता है या उनका कोई मनोलोक जिसका 'तीन लोक स मथुरा न्यारी' के सिवा कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु यह कहना और समझना भ्रम होगा। इसकी पृष्ठभूमि को यदि मनोविज्ञान के उज्ज्वल लोचनो स देखा जाय तो उसम कबीर का वह मगल-लोक मिलेगा जिसकी कल्पना आज के कवि ही नहीं राजनीतिज्ञ भी करते रहते है। धर्म-निरपेक्ष राज्य कबीर की उसी साधना की एक भग्न कडी कहा जा सकता है क्योकि उसको एक सोपान कहना इसलिए उचित नही कि उस साधना की प्रतिष्ठा म कबीर ने अलौकिक तत्त्व को लौकिक बनाकर ग्रहण किया था। उन्होने अद्वैत म एक अखण्ड समाज की भावना की थी जिसम व्यक्तिगत भेद-दृष्टि के लिए आलोक की कोई किरण नही थी।

यह ठीक है कि भारत मे अनेक महात्मा हुए, अनेक कवि हुए और अनेक दार्शनिक हुए किन्तु किसी के प्रयत्नो मे ऐसी अदम्य एकता नही मिलती।

जिन लोगो को कबीर मे कोई रूखापन दीखता है या उन्हे किसी गर्वोक्ति का आभास मिलता है, वे उनके मूल मे कबीर की ईमानदारी और लगन देखे। उनकी निर्भीकता और स्पष्टता देखे और उनके विवेक की गहनता देखे। यह ठीक है कि तुलसीदास ने भारतीय मानस के अधकार को दूर करने के लिये अपने मानस का आलोक दिया और यह भी है कि सूरदास ने हरि-प्रेमियो को मुग्ध करने के लिए लोक-मानस के तारो को झकृत किया, किन्तु क्या ये किसी मतवाद से उतना ही ऊचा उठ सके जितना कि कबीर उठे थे? क्या उनके आदर्शो मे कबीर का सा ही एक पूर्ण समाज निहित था? शायद इस प्रश्न का कोई निष्पक्ष उत्तर न मिले। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह कह कर कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति वैसा ही प्रौढ व्यक्तित्व लेकर आया तो वह कबीर था, कबीर के महत्त्व को अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु यदि डॉ० साहब बुद्ध और कबीर की परिस्थियो की तुलना करके साधनो के सम्बन्ध मे निर्णय देते तो सभवत उन्हे अपना मत बदलकर यह कहना पडता कि भारतीय इतिहास मे कबीर एक अनुपम विभूति के रूप मे अवतीर्ण हुए। जिस समय विश्वराज्य का स्वप्न साकार होगा, शायद कबीर के लोक-मगल की साधना का महत्त्व लोग उस समय स्वीकार करेंगे।

जो लोग इस युग मे आकर्षण और मोहन के सिवा और कुछ नही देखते, उनसे तो कुछ कहने की बात ही नही उठती, किन्तु जिन्हाने इस युग के दम्भ पाखड, छल-छद्म, कपट, मिथ्यावाद, मिथ्याचार आदि को देखा है और इनके जाल मे फसकर युग को कोसते हैं वे कबीर की वाणिया तक पहुँचे। उनमे उनको अवश्य ही कुछ सहानुभूति होगी कुछ तोष मिलेगा, कुछ तृप्ति मिलेगी और शायद वे यह भी सोचने लगे कि यदि उनमे शक्ति होती तो वे भी ऐसा ही कहते मिथ्याचारो और मिथ्यावादो को कबीर न फटकारा है उनमे समाज के विनाशकारी तत्त्व स्पष्ट हैं। समता की जो भावना, मानव-एकता की जो प्रेरणा कबीर की वाणी मे साकार हुई है, उसमे लोक-मगल की साधना स्पष्ट है। महात्मा गाधी के इस युग मे—उस महात्मा के युग मे जिसने अहिंसा और सत्य की आधारशिला पर अपना जीवन निर्माण किया, सत्याग्रह को प्रतिष्ठित कर दुराग्रह का मूलोच्छेदन किया। अहिंसा की शक्ति से हिंसा को भगाया, वर्णभेद को उखाड कर समता को प्रतिष्ठित किया, भूखो को भोजन और नगो को वस्त्र दिलाने का जिन्होने पूर्ण प्रयत्न किया—कबीर की लोक-साधना का

महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जैसे कुछ दिन पहले तक राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने किसी पूर्वज का हथियार चुनता था उसी प्रकार महात्मा गांधी के मुख और हाथों में शक्ति देखते हैं, वह बिल्कुल कबीर की जैसी शक्ति है। परिस्थितियाँ इस युग में भी कुछ कम जटिल नहीं, दोनों ही लोक-मंगल के साधक रहे। अन्तर रहा तो केवल इतना कि महात्मा गांधी शिक्षित थे और कबीर ने 'मसि-कागद' ही नहीं छुआ था। किन्तु कबीर की वाणी में प्रखरता-मयी शक्ति थी और महात्मा गांधी की वाणी में मंजुल प्रभावोत्पादकता। एक मरहम लगाकर फोड़े को ठीक करता था, दूसरा चीर-फाड़ करने में सिद्धहस्त था। दोनों में कौन छोटा और बड़ा था—इसका उत्तर तो शायद काँयड़ ही दे सके, किन्तु यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि कबीर की वाणी में कभी कभी कविता की लहर भी उद्वेलित हो उठती थी, परन्तु अपनी साधना को यदि किसी महापुरुष ने फलवती देखा तो वह महात्मा गांधी थे।

: १० :

लोक-काव्य की कसौटी पर कबीर-वाणी

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त योग के प्रतीको और 'भगति नारदी' आदि वाक्यो को देख कर कबीर वाणी को लोक-काव्य की कसौटी पर चढान म हिचक होने लगती है क्योकि लोक काव्य का सम्बन्ध किसी दार्शनिक-धारा से नही होता। वह तो लोक-जीवन के सामान्यतम तथ्यो की अभिव्यजना स ही सन्तोष कर लेता है क्योकि वह किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है। प्रत्यक मानव उसे अपनी निधि के रूप मे अक्षुण्ण रखता है किन्तु देश-काल की छाप उन पर अवश्य लगी रहती है। जो बाते सामान्य जनता मे समाहृत होती हैं वही लोक काव्य की रीढ होती है क्योकि काव्य भी तो वास्तव म समाज का ही चित्र है। कबीर की वाणी म यह गुण होने स वह लोक काव्य के ही अधिक समीप है। उसे दर्शन के अन्तर्गत रखना उसमे आये हुए लोक जीवन की उपेक्षा करना है। कबीर की सूक्ष्म अनुभूतियो मे दर्शन का रग झलकता है। यह उनके सत्सग का फल भी कहा जा सकता है किन्तु इनके साथ उनकी वे अनुभूतियाँ भी तो हैं जो उनके अन्तर से नही, बाहर से सम्बन्ध रखती हैं और ऐसे बाहर से जिसे प्रत्येक मानव अपना समझता है। दभ-पाखड के जिस युग म रक रहता था उस मे राजा भी। उसमे दोनो का सम्बन्ध था। जिस पर कबीर का अधिकार था उस पर हर किसी का अधिकार था। इस दृष्टि मे कबीर की वह वाणी जो लोक से सीधा सम्बन्ध रखती है लोक-काव्य के अतर्गत समाहित हो जाती हैं किन्तु उनकी सूक्ष्म अनुभूतिया भी सामान्यतम प्रतीको का आधार पाकर लोक जीवन से दूर नही रह जाती—

'आइ न सकौं तुझ पै, सकू न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥"

यह एक आध्यात्मिक अनुभूति है जिसमें प्रेम का विरह पक्ष प्रबल है। इस साखी को लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों अर्थ दिये जा सकते हैं। इसके अर्थ में एक ओर जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को देखा जा सकता है तो दूसरी ओर विरहणी प्रियतमा का हृदय भी दीख जाता है। अतएव यह साखी जिस प्रकार एक ईश्वर प्रेमी की निधि है उसी प्रकार सामान्य प्रेमी की भी।

इसके अतिरिक्त जीवन को दर्शन से विरहित नहीं किया जा सकता और भारतीय जीवन तो दर्शन की धरा पर ही प्रवाहित हो रहा है। उसके सुख दुख और आशा निराशा के उतार-चढ़ावों से जो गति और अवरोध आते हैं उन्हीं की अभिव्यंजना का नाम तो दर्शन है या चिन्तनविषयक मान्यता है। मतवादों के सम्बन्ध से अनेक दार्शनिक प्रणालियाँ दीख पड़ती हैं किन्तु जीवन के सामान्यतम तथ्यों एवं तत्सबंधी विचारों को लेकर भी दर्शन साहित्य में अभिव्यक्त हो सकता है। उसी की प्रतिष्ठा अनेक मतों के ऊपर होती है और वही जीवन दर्शन है।

कबीर का जीवन-दर्शन निगूढ़तम होते हुए भी सामान्यतम है। उनकी जो उक्तियाँ अद्वैतदर्शन की पथ-परंपरा को ही जमी हुई शिलाएं प्रतीत होती हैं वे सामान्य मानव तक को रोचक लगती हैं। चाहे साम्प्रदायिक रीतियों से मोह हो जाने के कारण हम अपने राजमार्ग को भूल जायं किन्तु वह एक ऐसा मार्ग है जो सब वीथियों का काम साधता है, जो मनुष्य को संकीर्णता से निकाल कर उदार एवं सर्वगम्य मार्ग पर प्रतिष्ठित करता है। कबीर के सामने चाहे उपनिषदों का अद्वैतदर्शन रहा हो चाहे शंकर का मायावाद किन्तु वे उनकी भूल भुलैयों में भ्रान्त नहीं हुए। उनकी उक्तियों पर परंपरा का प्रभाव प्रतीत होता हुआ भी, उनमें 'अपनापन' है जिससे असहमत होने के लिए किसी को कारण मिलना दुष्कर है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित साखी को लीजिये—

> संपति माहो समाइया सो साहिब नहीं होइ।
> सकल माड में रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ॥"

यह साखी आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं सामाजिक दृष्टि से भी कोई मतभेद पैदा नहीं कर सकती। आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें अद्वैतवाद का समर्थन दीख पड़ता है और सामाजिक दृष्टि से इसमें ईश्वर की प्रतिष्ठा करके मानव

बन्धुत्व की प्रतिष्ठा की गयी है। जहा मानव के अहकारमूलक स्वामित्व पर आघात किया गया है वहा समता एव बन्धुत्व की भावना के लिये धरातल भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की 'वाणी' किसी एक व्यक्ति या वर्ग से सबध न रखकर अपनी सार्वजनीनता को घोषित करती है। फिर इसे लोक-काव्य के पद से च्युत करना अनुचित ही होगा। कबीर की आध्यात्मिक अनुभूतियो की अभिव्यजना म भी लोक-जीवन की बडी सरस झाकियाँ मिल जाती हैं। एक झाकी देखिये —

> "चरखा जिनि जरं।
> कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भैया की सौं'।"

इस पद मे कातने के जिस कर्म का निर्देश है वह कबीर कालीन लोक-जीवन का आश्रय था। अब भी गाँवो म गरीब औरते कताई करके अपना और अपने परिवार का उदर-पोषण करती है। आज चरखे की बात भले ही राजनीति से अपना सम्बन्ध रखती दीख पडती हो किन्तु पच्चीस-तीस वर्ष पहले तो गावो की अधिकाश स्त्रिया कताई करती थी। यदि उनम से कुछ अपने घर का सूत कातती थी तो कुछ मजदूरी पर कातती थी। कताई के भी अनेक भेद होते थे बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि सूत और रुई के अनेक भेद होते थे। आज तक एक जनश्रुति चली आ रही है कि दिल्ली में अकबर ने एक दरबार किया उस म किसी ने कताई-कला का प्रदर्शन करते हुए एक रत्ती सूत को दो सौ गज से लपेटा दिया था। इसमें चाहे कुछ अत्युक्ति रही हो किन्तु कताई का केवल व्यवसाय के रूप म ही नही बल्कि कला के रूप मे भी मूल्य था, यह तथ्य अवश्य उद्घाटित होता है। 'हजरी का सूत' कला की ओर सकेत करता हुआ कताई का नारी से सबध स्थापित कर देता है। 'नणद के भइया' में नारी के लिए कितनी मोहकता है, नारी के हृदय मे उसकी कितनी प्रतिष्ठा है, इस बात को नही भुलाया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि कबीर का यह पद किसी सम्प्रदाय या मतवाद के लिये नही बना था अपितु उसका सम्बन्ध सामान्य नारी से था। अतएव वह अवश्य ही नारी-कठ का भूषण रहा होगा। यह बात नही है कि

---

१ कबीर वाणी, पद १३

इस पद म केवल लाक-पक्ष ही प्रमुख है अध्यात्म पक्ष भी उतना हा ऊचा है —

× × ×

'सब जग ही मरि जाइयो एक बढइया जिनि मरै।
सब राँडिनि कौ साथ, चरखा को धरै' ॥

× × ×

यहा बढई परमात्मा है, 'चरखा शरीर है और 'हजरी का सूत' सूक्ष्म की अनुभूतिया हैं। कबीर की वाणी म य दोनो पक्ष अनेक स्थलो पर प्रबल है फिर भी लोक काव्य म उसका अपना स्थान है। इसी प्रकार—

मन मोहि ले चलि नणद के बीर अपने देसा।"

इस पद म भी नारी के लिए कम आकपरग नही है। नणद का वीर' अपने प्रतीक रूप म जिस प्रकार पडितो के मन को मोहता है उसी प्रकार नारी-समाज के मन को भी।

ऐसा सोच लना भी अनुचित नही है कि इस प्रकार के गीता की शैली लाक प्रचलन प्राप्त कर चुकी होगी। कहत हैं कि विद्यापति-पदावली का मिथिला और उसके आस पास बहुत प्रचलन हो गया था और उनम से बहुत से पद अब तक लोक मान्य बने हुए हैं। इसी प्रकार कबीर के पदा को भी लोकमान्यता प्राप्त है। सरगी, सितार या तानपूरे पर गाय जाते हुए कबीर के पद अब भी जनता का मोहन कर रहे है।

लोक-गीता के सबध म विद्वानो ने कुछ माप-दण्ड बना रखे है और वे हैं द्रुत प्रवाह, शब्द विन्यास की सरलता, विश्वव्यापक ममस्पर्शी सहज स्वाभाविक मनोराग व्यापार का उद्वेग आलम्बन या दृश्य सम्बन्धी स्थूल ग्रहन और साहित्यिक रूढिया का बहिष्कार।

कुछ विद्वानो का यह मत भी है कि लाक-गीत की पृष्ठभूमि म कोई कथानक अवश्य रहता है। मैं समझता हूँ कि कथानक उसक लिए अनिवार्य

---

१ कबीर-वाणी पद १३

नहीं है। अनिवार्य है भाव-तीव्रता, प्रवाह-द्रुति और अनुभूति की सार्वजनीनता, भाव-तीव्रता, अभिव्यंजना की कृत्रिमता और शिथिलता को नष्ट करके उसे स्वाभाविक और चुस्त बनाती है। कबीर के गीतो मे इन गुणो के अतिरिक्त आत्मपरकता का गुण विशेष हैं। यह ठीक है कि गीतो के लिए आत्मपरकता चाहिये, किंतु लोक-गीतो में आत्मपरकता के प्राधान्य की आवश्यकता नहीं है। विषयी की साधना मे विषय का भी महत्त्व है। विषय या वस्तु का सहारा लिए बिना विषयी आकाश का पक्षी बन कर ही सदैव नहीं उड सकता। उस को जो प्रश्रय, जो विश्राम चाहिये वह वस्तु मे मिलता हैं। कबीर के गीतो मे आत्मपरकता तो है, किन्तु अनेक स्थलो पर उनका वस्तु-सम्पर्क भी प्रशस्त है—

> "कबीरा प्रेम की कूल ढरैं, हमारैं रांम बिना न सरै।
> बांधि लै धोरा सींचि लैं क्यारी ज्यूं तूं पेड भरैं[1]।।"
>
> × × ×

इस पद मे उक्त दोनों गुणो का समावेश है। यह गुण कबीर के गीतों में ही नहीं है, साखियो मे भी है। हम उनकी साखियो को भी लोक-काव्य से दूर नहीं रख सकते। यदि लोक-काव्य की एक परख यह भी है कि उसे लोक-प्रेम या लोक-रुचि मिले तो कबीर की वाणी लोक-काव्य सिद्ध होती है। जिन चीजो को आज हम हठयोग से सम्बन्धित कह कर जनसाधारण से दूर की मानते हैं वे कबीर के समय मे बहुत पास की मानी जाती थी क्योंकि योग का सम्बन्ध सिद्धि और गुरु गोरखनाथ से जोडकर लोग उसको विस्मयात्मक आदर देते थे। बाबा गोरखनाथ के सम्बन्ध मे अनेक जनश्रुतियां और गीत बन गये थे जो बडे उल्लास के साथ जनता मे गाये जाते थे। उन जनश्रुतियो और गीतों का मूल्य कबीर की वाणी मे किसी प्रकार घटा नहीं, बल्कि बढा ही दीख पडता है।

जो काव्य-लोक के समीप बिना किसी प्रयास या प्रयत्न के ही पहुँचने की क्षमता रखता है और जो लोक-रुचि को तीव्रता से पकड लेता है, वह लोक-काव्य नहीं तो क्या हैं। जिस काव्य में जनता का हर व्यक्ति, समाज का प्रत्येक

---

[1] कबीर-वाणी, पद २१६

सदस्य, छोटा हो चाहे बड़ा, अपना प्रतिबिंब देख सकता है वही वस्तुत लोक-काव्य है क्योंकि उसी मे जनरुचि को शीघ्रता से पकड़ने की शक्ति होती है। जिस प्रकार लोक-नायक वही है जो लोक-प्रिय है, जिसका प्रभाव लोक पर पड़े बिना नही रहता उसी प्रकार जो लोक को खीच कर अपने भावों के साथ उठाने की सामर्थ्य रखता है वह लोक-काव्य है। इस कसौटी पर कबीर की वाणी अधूरी नही उतरती। व्यापार, व्यवसाय, व्यवहार, सस्कार, धर्म आदि ऐसा कोई भी तो सामाजिक पहलू नही है जिसको कबीर ने न छुआ हो।

वे खेत सीचने के तरीके जानते हैं। अनेक व्यापारो से परिचित हैं। तुरई की कीमत जानते हैं, हिडोले के खभा और डोरियो से उनका परिचय है, मधु-सचय का सारा रहस्य जानते हैं। वे बनिये की चतुराई और वस्तुओ का मूल्य जानते है। किसान और पटवारी से लेकर बन्दोबस्त के अहलकारो और हाकिमो के कारनामो को जानते हैं। वे विधवा की दशा से परिचित है, और सबसे अधिक जानते है वे अपने व्यवसाय को। कताई और बुनाई का जितना सूक्ष्म चित्रण कबीर ने अपनी रचनाओ मे किया है वह न केवल उनके सम्पर्क की गहनता प्रकट करता है अपितु उनकी अभिव्यक्ति की सफलता भी। कहने का तात्पर्य यह है कि वे रक से राजा तक, चीटी से कुजर तक, राई से पर्वत तक और घोर पापी से परम पुण्यात्मा तक, सबको जानते हैं। सबके चित्र उनकी आखो म हैं। वे अच्छे चित्रकार है, फिर भी विचित्र। वे केवल इन चित्रों को दिखाना नही चाहते। उनका मूल लक्ष्य समाज को ममता-मोह आदि से सबधित अनाचार एव अत्याचार के पक से निकालकर एक ही आध्यात्मिक स्रोत की ऊचाई पर ला बैठाना था। इसी से वे कह उठते हैं—

> 'तन खोजौ नर ना करौ बड़ाई,
> जुगति बिना भगति किनि पाई।
> एक महावत मुलां काजी,
> राम बिना सब फोकटबाजी।
> नवग्रिह बाँभण भणता रासी,
> तिनहू न काटी जम की पासी।
> कहै कबीर यहु तन काचा,
> सबद निरजन राम नाम साचा॥"

यद्यपि लोक-काव्य सामाजिक उल्लास को प्रोत्साहित करता है, सामाजिक जीवन को सरक्षित करता है किन्तु उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत उद्बोधन से भी रह सकता है—

> "राम न जपहु कहा भयो अन्धा,
> राम बिना जम मेलै फधा ।
> सुत दारा का किया पसारा, अन्त की बेर भये बटपारा ।
> माया ऊपरि काया माडी, साथ न चलै खोपरी हांडी ।
> जपौ राम ज्यू अन्ति उबारै, ठाढो बाँह कबीर पुकारै[1] ।"

कबीर की वैराग्योक्तियाँ विशेषत व्यक्तिगत उद्बोधन से ही सम्बन्धित है। फिर भी उनमे सामाजिक प्रेरणा की उपेक्षा नही की जा सकती। कहा तो यह भी जाता है कि वैराग्य-भावना मध्य-युग की एक बडी भारी प्रवृत्ति थी जो अधिकाशत सत्य भी है। सूर और तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी वैराग्य को भक्ति का साधन मानते रहे। कबीर की विरक्ति-भावना मे लोकासक्ति के निवारण करने का लक्ष्य तो निहित है ही, साथ ही उसमे सामाजिक समता और एकता की भावना भी निहित है। जहाँ कही कबीर को विषमता का आग्रह दीख पडता है वही वे वैराग्य का दुधारा लेकर टूट पडते हैं। उनका प्रहार एक ओर सामाजिक वैषम्य पर होता है और दूसरी ओर ईश्वरीय एकता के बाधक तत्वो पर—

> "तार्थ सविये नाराइणा,
> प्रभू मेरो दीन दयाल दाय करणा ।
> जौ तुम्ह पडित आगम जाणौं, बिद्या व्याकरणा ।
> तन्त मन्त सब ओषदि जाणौं, अति तऊ मरणा ।
> राज पाट स्यघासण आसण, बहु सुन्दरि रमणा ।
> चन्दन चीर कपूर बिराजत, अति तऊ मरणा ।
> जोगी जती तपी सन्यासी, बहु तीरथ भरमणा ।
> लु चित मु डित मौनि जटाधर, अति तऊ मरणा ।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १२८

सोचि विचारि सबै जग देख्या, कहू न ऊबरणा ।
कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामन मरणा[1] ॥"

हाँ, एक बात अवश्य है जो कबीर की वाणी को लोक-काव्य के पद पर आसीन होने से रोकती है और वह है समाज की कटुतम आलोचना, ऐसी आलोचना जो वर्गो और सम्प्रदायो पर सीधा प्रहार करती है। उनके सम्बोधन आलोचना की कटुता को और भी प्रखर कर देते हैं। इस प्रकार लोक-रुचि और काव्य के बीच मे आलोचना के आ जाने से कबीर-वाणी का लोक-काव्यत्व निर्बल पड जाता है।

कबीर के समय मे ही उनकी वाणी की मान्यता गीतो के समान थी। इसका प्रमाण उनके अपने शब्द हैं—

"लोग जानै इहु गीत है, इहु तौ ब्रह्म विचार ।
ज्यो कासी उपदेस होई, मानस मरती बार[2] ॥"

कबीर यह जानते हैं कि ब्रह्मनिरूपण के सम्बन्ध से गीत की प्रतिष्ठा नही हो सकती, उसमे जीवन-तत्त्व भी होना चाहिये, सरसता का पुट भी चाहिये। फिर भी उनकी वाणी को लोग गीत समझते थे, उसका गीतवत् आदर होता था। इससे स्पष्ट है कि उसम सामान्य जीवन-तत्त्व निहित है। उसमे कोई ऐसी बात अवश्य है जो उसे गीत-कोटि मे रख देती है। चाहे कबीर विनयवश अपनी वाणी को गीत भले ही न कहते हो किन्तु उसकी मान्यता गीतो मे थी, इस बात का उन्हे ज्ञान था। कबीर की उक्त साखी कबीर की वाणी को लोक-काव्य की कोटि म रखने का प्रयत्न करती है।

जो हो, भाषा की सरलता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता, जीवन सम्पर्क, प्रवाह-द्रुति, प्रभाव-तीव्रता आदि के आधार पर कबीर-वाणी को लोक-काव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं। उसका सम्बन्ध जिस प्रकार मनुष्य के अन्तर्लोक से है उसी प्रकार बहिर्लोक से भी है। दोनो दिशाओ मे जीवन से उसका सीधा सम्बन्ध

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पद २४८
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७३

है। जिस प्रकार चिन्तन की ऊंचाई और अनुभूति की गहराई से कबीर-वाणी का सम्पर्क है उसी प्रकार जीवन के विविध पक्षों से भी कबीर का परिचय है। इन दोनों में जो पैंवद दिये हैं वे कबीर के कौशल के प्रमाण हैं। एक ही साथ दो दिशाओं में घुमाना और दो मार्गों से एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देना कबीर की अमोघ प्रतिभा का फल है। जिस मार्ग का अनुसरण अच्छे अच्छे कवि नहीं कर पाते, जिन साधनों का सफल उपयोग विरले ही भारती नन्दन कर पाते हैं उनका उपयोग ही नहीं वरन् जन जीवन से सहज सम्पर्क भी कबीर के हाथों में इतना प्रौढ़ और प्रभावोत्पादक बन गया है कि न मानने वाले भी उनको कवियों की सरणि में रखते हैं। लोक-काव्य की कसौटी पर कबीर की वाणी को उतारने के लिए यह गुण पर्याप्त है।

: ११ :

हिन्दी कविता की प्रतीक-परम्परा में कबीर का योग

छायावाद के कुछ समीक्षको ने इस भ्रम को प्रश्रय दिया है कि प्रतीक-शैली पाश्चात्य-प्रेरणा मात्र है। उनके मत म इतना तो सत्य है कि साहित्य ने भारतीय भाषाओ के साहित्यिक रूप-विधानो पर पर्याप्त प्रभाव डाला है किन्तु हमारे आधुनिक साहित्य को प्राचीन भारतीय परपरा से विच्छिन्न करके देखना सदैव समीचीन नही है। न केवल भारतीय धर्म और काव्य की प्रतीक-पद्धति की प्राचीनता ही असदिग्ध है अपितु किसी भी देश के साहित्य और धर्म का ज्ञान वहा की अभिव्यक्ति परपरा मे न्यूनाधिक मात्रा म प्रतीको के प्रयोग का परिचय अवश्य देता है।

कहने की आवश्यकता नही कि मानव जाति के अस्तित्व के लिए प्रतीको की आवश्यकता पडती है। मानव जीवन का सारा मत्र ही अपनी गति के लिए उस पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्म-काड-सबधी म श भी विशुद्ध प्रतीक-विधिया के सिवा और कुछ नही है।

जब से मानव-भावो को अभिव्यजना शक्ति प्राप्त हुई तभी से प्रतीको के प्रचलन का इतिहास प्रारभ हो गया। मानव के सामने जो-जो वस्तुए आयी उनसे अपना सबध रखने के लिए उसने नाम प्रदान किए, जो वास्तव म उनके सकेतमात्र थ। क्रमश उनको एक जन-समुदाय की स्वीकृति प्राप्त होती गयी। उनके साथ ही क्रियाओ की सृष्टि भी होती गई। सभवत पहले नामो से ही क्रिया का भी काम ले लिया गया हो किन्तु उनके साथ भी क्रिया मनुष्य के शारीरिक सकेतो के द्वारा व्यक्त होती रही होगी। धीरे धीरे भाषाओ का विकास होता गया। सभ्यता और सस्कृति का इतिहास यह बताने की भी चेष्टा कर सकता

है कि पहले मनुष्य थोडे शब्दो से अपना काम चलाना होगा। जैसे-जैसे उसके सबधो और आवश्यकताओ का विकास होता गया उसकी भाषा की शब्दावली बढती गयी। इस विकास के गर्भ मे भिन्न-भिन्न जन-समूहो ने इस धरा पर भिन्न-भिन्न प्रतीको की योजना प्रस्तुत की। भाषाओ के पारिवारिक वर्गीकरण का अध्ययन आधुनिक अनेकता के मूल मे निहित एकता का परिचय देकर भिन्न-भिन्न वर्गो के प्रतीको का परिचय भी देता है।

प्रतीक वस्तुत सकेतो का काम करते है। मानव के अस्तित्व के लिए प्रतीको की आवश्यकता पडती है, यह बात उक्त विवेचन से प्रकट हो सकती है। डा० बडथ्वाल ने ठीक ही कहा है, "मानव जीवन का सारा मत्र ही अपनी गति के लिए प्रतीको पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्मकाड सबधी अश भी प्रतीक विधियो के सिवा और कुछ नही है। भाषा भी वस्तुत एक प्रतीकात्मक उपाय मात्र है[1]।" प्रतीक तत्त्व जीवन की पुनर्रभिव्यजना को नियम एव सयत बनाकर उसे भावप्रवणता प्रदान करते है। प्रतीकात्मक प्रयोग सबधित अर्थो का प्रतीको के आशिक अथवा पूर्ण गुणो से विभूषित कर देते है जिसमे नियत प्रभावात्मकता की तीव्रता के क्षेत्र म श्रेष्ठ ज्ञान, भाव और अभिप्राय की सीमा तक पहुँचा जा सकता है किन्तु प्रतीको की सबसे अधिक आवश्यकता आध्यात्मिक अभिव्यजना के क्षेत्र मे प्रतीत होती है जहा कि बहुत सूक्ष्म सत्यो को भी सरल एव भावपूर्ण ढग से व्यक्त करना होता है अन्यथा वे हर किसी को बोधगम्य नही होते। "जीवन के अन्तस्तल तक प्रवेश पाए हुए तथा सूक्ष्म दृष्टि वाले आ-मद्रष्टाओ की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव जाति के उपयोग मे तभी आते है जब उन्हे गहरे रगो से रजित एव पूर्ण सौन्दर्ययुक्त प्रतीको के बने रूपको का आश्रय मिल जाता है, परन्तु इस साकेतिक भाषा को समझने के पहले कुछ न कुछ सीखने की आवश्यकता पडती है[2]।" अन्यथा प्रतीको का वास्तविक मर्म समझने मे भूल हो जाया करती है। प्रतीकवाद यथार्थवाद म परिणत होकर सदोष बन जाता है। कुछ वैष्णव सम्प्रदाय तक इस दोष से कलकित हो गये हैं।

---

१ बडथ्वाल—हिन्दी काव्य मे निर्गुणधारा (अनुवाद-परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ३७७
२ बडथ्वाल—हिन्दी काव्य मे निर्गुणधारा (अनुवाद-परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ३७७

प्रतीका का इतिहास मानव अनुभूति और अभिव्यक्ति का इतिहास है। अनुभूति के अभिव्यजना पथ पर आते ही प्रतीको का प्रचलन हो गया होगा, किन्तु कला के इतिहास म प्रतीक पद्धति का विकास सौन्दय भावना से सबधित है। मोहन-जो-दडो के भग्नावशेष सौन्दय भावना के विकास और प्रतीक-प्रयोग के प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण हैं।

काव्य भावा की सहज अभिव्यक्ति है। अनुभूति से प्रेरित कल्पनाए प्रतीको को जन्म देती हैं। अनुभूतियो के अभिव्यक्ति-पथ मे उद्गारो के सकोच वक्रता अथवा असमर्थता की समुपस्थिति होने पर उसे प्रतीका का उस समय आश्रय लेना पडता है जबकि उद्गार अदमनीय हा उठते हैं।

जिस प्रकार जीवन की विभिन्न क्रियाआ के लिए अनेक सकेतो का उपयोग होता है उसी प्रकार काव्य म भावा और विचारा की सम्यक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक शब्दा का प्रयोग होता है। काव्य म प्रतीक अपना नियत स्थान रखते हैं। 'कवि समय' उनस अधिक सम्बन्धित है। प्रतीक सामान्य भाषा म बहुत कम प्रयुक्त होत है अथवा होते ही नही। जब य सामान्य भाषा का अनिवार्य अग हो जाते हैं तो वे प्रचलन म आ जान से प्रतीकात्मक गौरव का खा बैठत हैं। नाथो और सन्तो की भाषा म 'अवधूत' शब्द योगी के लिए आता था किन्तु आज वही शब्द 'औघूत' होकर 'ऊटपटग' या 'मूख' का वाचक होकर प्रचलित हो गया है और उसने अपना अथ खो दिया है।

भावनावश मानव की अनादिता स्वीकार कर लेने पर तो प्रतीको का इतिहास भी अनादि बन जाता है और यदि विकासवाद की कसौटी पर मानव की परीक्षा करें तो प्रतीक भी मानव सभ्यता के सहचर सिद्ध होत हैं।

हा, साहित्यिक प्रतीका का उपलब्ध प्राचीनतम रूप वेदो म मिलता है। वैदिक देव ध्वनियाँ प्रतीकत्व से सपुष्ट हैं। इनके आकार-प्रकार मे धार्मिक भावना और कल्पना का मधुर मिलन है। जहा ब्राह्मण ग्रन्था ने आचार-क्षेत्र म प्रतीक-पद्धति को अपनाया है वहा उपनिषदो ने अध्यात्म-क्षेत्र मे प्रतीका से काम लिया है। वहाँ अक्षर या शब्द तक न प्रतीकता धारण की है। ॐ ऐसा ही एक प्रसिद्ध अक्षर है जिसकी प्रतीकता उपनिषदा मे इस प्रकार स्वीकार की गयी है—

८६
या

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम ।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्[1] ॥

ॐ ब्रह्म या परमात्मा का प्रतीक है । उसको अक्षर ब्रह्म भी कह सकते है। यह निराकार एव निगु ण के ज्ञान म आलम्बन का काम करता है । इसीलिए इसके सम्बन्ध मे कहा गया है —

एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बन परम ।
एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते[2] ॥

बौद्ध-साहित्य और कला के अध्ययन से प्रतीको क विकास पर रोचक प्रकाश पडता है । आरम्भ मे भगवान् बुद्ध के उपदेशो को अकित करने के लिए भारतीय शिल्प विद्या मे जो प्रतीक अपनाय गये उनमें दो प्रमुख थे–गुम्बद के रूप म उलटा कमल पुष्प और स्तूप । एक म भौतिक उपदेश सुरक्षित ह और दूसरा मारगभ उपदेशो का प्रतीक है । इन्ही से शु ग काल के पश्चात् बुद्ध प्रतिमा निर्माण की प्ररणा मिली और प्रतीकोपासना का प्रचलन हुआ । बौद्ध साहित्य मे भी प्रतीको की समृद्ध परिपाटी का विकास हुआ । जातक कथाओ की प्रतीकात्मकता प्रथित और स्पष्ट है ।

पुराणो मे प्रतीको के आश्रय से अनेक कथाओ का गुम्फन किया गया है । षडानन काली गजानन, दशानन, त्रिशिरा आदि अनक नामो मे प्रतीकोद्गम है । इन नामो के साथ जो कथाए गुम्फित हुई ह उनम धार्मिकता श्रद्धा, कल्पना आदि अनक उच्च भावो को मर्यादित किया गया है ।

सिद्धो और नाथो की रहस्यमयी कायिक साधनाओ ने अनक प्रतीको को जन्म दिया है । सिद्धो की सध्या भाषा हिन्दी-कूटो की जननी कही जा सकती है । उसने प्रतीको न अर्थ की निगूढ अभिव्यजना म कितना योग दिया है यह बात सिद्ध-साहित्य के आलोचको से छिपी नही है । नाथो न प्रतीको की परपरा के योग के क्षत्र म केवल पिष्टपेषण करते हुए कला के क्षत्र मे अवश्य विकास

---

१ कठोपनिषद १ २ १६
२ कठोपनिषद १ २ १७

किया। उनके कूट पदो और उलटबासियो मे परवर्ती शैली का प्रारूप तैयार हुआ।

योग साधनाओ म नाडियो ने नाम प्राप्त किए। इडा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्व विकसित हुआ। उन्होने प्राण-वाहिनी होने के कारण जीवन-वाहिनी गगा, यमुना एव सरस्वती का प्रतीकत्व धारण किया और अनेक श्लोक ऐसे प्रतीको की शक्ति लेकर बन गये —

'गगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
तासान्तु सगमे स्नात्वा धन्यो याति परागतिम्'[1]॥"

गोरखवाणी म भी इस प्रकार के प्रतीको का प्राचुर्य है। गगा-यमुना के सगम को गोरखनाथ ने एक पद म देखिए जहा पर स्नान करने की बात परपरा-मुक्त है —

गगा जमुना कूले पैसि करिलै असनान।
चांपीला मूले अवधू धरीला धियान[2]॥

अर्थात् योगी को गगा यमुना के कूल पर (इडा-पिंगला के मिलन में, सुषुम्ना का मार्ग खुलने की स्थिति म) स्नान स शुद्ध हो जाना चाहिए। मूला-धार को दबाकर (सबोधन कर) ध्यान धरो।

काव्य म जिसको ध्वनि नाम से समझा जाता है उसका भी थोडा बहुत सम्बन्ध प्रतीको स रहता है। काव्य शास्त्र के ध्वनि-सम्प्रदाय वाले तो ध्वनि को ही काव्य का प्राण मानते है। कभी कभी तो ध्वनि का समग्र भार प्रतीको पर रहता है। ध्वनि म व्यग्य रहता है और वह शब्द विशेष म अन्य शब्दो की सगति से आता है। वह वाच्यार्थ से भिन्न होता है। अभिप्राय वाच्यार्थ से पृथक् रहता हुआ भी स्पष्टत व्यक्त हो जाता है किन्तु शाब्दिक सकेत से। रस के सम्बन्ध म भी यही बात है कि वह व्यजित हुआ करता है। इसी प्रकार अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभव को भी गूगे के गुड स तुलना दी गयी है।

---

१ शिव-सहिता
२ गोरख-वाणी

गूंगा मनुष्य संकेतमात्र कर सकता है। इसी प्रकार कवि अपने अनुभूति-रस को केवल संकेतों से व्यक्त कर सकता है। उनमें से कुछ संकेत तो अलंकार आदि के सम्बन्ध से भाषा का ही अंग बन जाते हैं किन्तु कुछ संकेत सामान्य शब्दों-जैसे होते हुए भी भिप्रार्थ देकर अभिव्यक्ति को एक नियत लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं।

यह ठीक है कि प्रतीक भाषा में अपना अभिप्राय लेकर आते हैं। और इसी अभिप्राय की सफल अभिव्यंजना में उनकी प्रतिष्ठा है किन्तु उनके क्षेत्रीय प्रयोग उन्हें सरसता और नीरसता प्रदान करते हैं। इसी कारण योग-क्षेत्र के प्रतीक शुष्क और नीरस एवं शक्ति और प्रेम क्षेत्र के बड़े सरस और मोहक होते हैं। भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतीकों के मान के साथ उनकी सरसता भी अपना मूल्य रखती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन से उद्भूत आनन्द की तुलना दार्शनिकों ने स्त्री पुरुष के मिलन-जन्य आनंद से करके भक्तों के लिए प्रतीक-मार्ग को खोल दिया। कृष्ण और गोपियों की मिलन लीला में भक्तों ने आत्मा परमात्मा के मिलन को देखा। अनेक लीलाओं को प्रस्तुत करने में भक्तों ने जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया उसमें प्रतीकों का मूल्य अविस्मरणीय है। क्या राधा के विकास का इतिहास प्रतीक की सरसता के विकास का इतिहास नहीं है? जयदेव की पीयूष-वाणी इस विकास का प्रमाण है। ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि रचनाएं भी इसी साधना का साक्ष्य देती हैं। मिथला और व्रज से हिन्दी-धरा पर जो रस धारा प्रवाहित हुई उसमें प्रतीकों की सरसता स्पष्ट है। इस सरस प्रतीकता से अलग भक्त वाणी का कोई मूल्य नहीं रह जाता। कला का वैभव, कल्पना का गौरव और धर्म का आग्रह सरस प्रतीकों के माध्यम से ही निर्वाहित हुआ है

कबीर के हाथों से प्रतीक परंपरा का सुन्दर शृंगार हुआ। यह ठीक है कि कबीर का उद्देश्य कविता करना नहीं था, परन्तु वे स्वभाव से कवि तो थे ही। वाणी उनकी दासी थी किन्तु उसको कबीर के निर्लिप्त और निर्भीक व्यक्तित्व का बल प्राप्त था। अतः उनकी कृतियों में वह करामात मिलती है जिसे देख कर बड़े बड़े आलोचकों को भी दंग रह जाना पड़ता है।

प्रतीकों के प्रयोग में कबीर की श्रेष्ठता उनकी अभिव्यंजना से स्पष्ट है। न केवल यौगिक प्रतीकों में ही कबीर का अभिव्यक्ति कौशल दीख पड़ता

है अपितु उनके सामाजिक और पारिवारिक प्रतीक तो और भी समर्थ और मनोहर हैं। उनके 'कूट' जहा भागवत, विद्यापति-पदावली और गोरखबानी का स्मरण दिलाते हैं वहा उनकी उलटबासिया पहेलियो की मौखिक परपरा अथवा किसी अज्ञात लिखित परपरा की कडी के रूप म आविर्भूत होती हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीक परम्परा-युक्त हैं। वे सिद्धो और नाथो की टकसाल क प्रचलित सिक्के हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रतीक अतिप्रचलित होकर काल-क्रम से अपना प्रतीकत्व खो देते हैं, फिर भी किसी सम्प्रदाय के स्वर मे वे अपनी मौलिक शक्ति सुरक्षित रखते हैं। सिद्धो के यौगिक प्रतीक कबीर के समय तक भी साम्प्रदायिक ही बने रहे। सामान्य भाषा मे वे प्रचलित रूप म स्वीकार न किये गये इसलिए सामान्य अर्थ के स्थान पर वे विशेष का द्योतन करते हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीका का वर्गीकरण साकेतिक और पारिभाषिक प्रतीको के रूप म किया जा सकता है। गगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, असीघाट, प्रयाग आदि शब्द साकेतिक प्रतीक हैं किन्तु सहज, अजपा, शून्य, हरि, निरजन, नाद, बिंदु आदि पारिभाषिक प्रतीक है। सुरति-निरति पारिभाषिक प्रतीको के अच्छे उदाहरण हैं। कबीर ने दोनो प्रकार से प्रतीको का सफलता से प्रयोग किया है। साकेतिक प्रतीका का एक उदाहरण देख कर उनके प्रयोग का अनुमान किया जा सकता है —

> "सूर समाणा चन्द मे दुहू किया घर एक।
> मन का च्यता तब भया कछू पुरबला लेख'॥"

यहा सूर' और 'चन्द' क्रमश पिंगला और इडा के लिए प्रयुक्त हुए हैं और दोनो का एक घर सुषुम्ना म होता है। यह योग की अवस्था विशेष है। जिसको आलोचकों ने कबीर का योगात्मक रहस्यवाद कहा है। वह ऐसे ही साकेतिक प्रतीका से बना है। साकेतिक प्रतीकों का तो कबीर-वाणी मे प्राचुर्य है। योग के सम्बन्ध से ही ऐसे प्रतीका का प्रयोग नही हुआ अपितु अन्य सम्बन्धा से भी हुआ है, जैसे —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७७

"कबीर घूलि सकेलि करि, पुडी ज बाधी एह।
दिवस चारि का पेषणा, अति षेह की षेह ॥"

यहा पुडी' शब्द साकेतिक प्रतीक है जो शरीर की ओर सकेत कर रहा है। एक दूसरा उदाहरण देखिये.—

"कबीर देवल ढहि पड्या, ईंट भई संवार।
करि चिजारा सौं प्रीतिडी, ज्यू ढहै न दूजी बार ॥"

इस साखी मे प्रतीको का बाहुल्य द्रष्टव्य है। 'देवल' शरीर का, 'ईंट' हड्डियो का, 'चिजारा' परमात्मा का और 'ढहना' मरने का प्रतीक है। इन सामान्य शब्दो मे ईश्वर-प्रेम का कितना गहरा रहस्य निहित है, इनके भावार्थ से स्पष्ट है। साकेतिक प्रतीको मे मौलिक और परपरायुक्त, दोनों प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। उसी प्रकार पारिभाषिक-प्रतीकों मे भी ये दोनो प्रकार प्राप्य है। पारिभाषिक प्रतीकों का एक उदाहरण देखिये —

"अजपा जपत सुनि अभि अतरि, यह तत जानैं सोई।"

अथवा

"सुरति समाणी निरति मे निरति रही निरधार।
सुरति निरति जब परचा भया, तब खूटे स्यभ दुवार ॥"

प्रसगवश यहा यह कह देना अप्रसगत न होगा कि जहा नाथो के लिए यौगिक क्रियाएँ ही साध्य हो गयी हैं वहा कबीर के लिए वे साधन-मात्र है। कबीर का साध्य तो अनन्य प्रेम है जिससे भिन्न परमात्मा भी नही है। कबीर ने उस प्रेम के लिए 'रस', 'रसायण', 'हरिरस', 'रामरस' आदि प्रतीको का व्यवहार किया है —

"हरिरस पीया जाणियै, कबहुं न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत फिरै, तन की नाहीं सार ॥"

ऐसे स्थलों पर कबीर की मस्ती निसर्ग-काव्य का मधुर रस प्रवाहित कर पाठक की समग्र चेतना को अभिषिक्त कर देती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०४

सिद्धो और नाथो की परपरा से आये हुए सख्यामूलक प्रतीक भी कबीर मे मिल जाते है—

> चौंसठि दीवा जोइ कर, चौदह चदा माँहि।
> तिहि घरि किसका चानिणा, जिहि घरि गोविंद नाँहि॥"

यहा 'चौसठ' और 'चौदह' सख्यावाचक प्रतीक है जो क्रमश कलाओ और विद्याओ के लिए व्यवहृत हुए है।

कबीर-वाणी म प्रतीको का सौन्दर्य यदि कही देखना हो तो उनके रूपको म देखना चाहिय जिनम काव्य माधुर्य और प्रतीकोत्कर्ष, दोनो एक साथ अभिव्यक्त हुए है यथा—

> "दुलहनीं गावहु मगलचार,
> हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
> × ×
> कहै कबीर म ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी॥"

आध्यात्मिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिन प्रतीको को चुना है उनम सरल व्यावहारिक अभिव्यजना के साथ कवि की मौलिकता भी निहित है। दैनिक जीवन से उपचित होने के कारण उन प्रतीको मे जो आकर्षण और मोहन है वह सिद्धो और नाथो की बानियो मे अप्राप्य है।

जब आध्यात्मिक अनुभवो के दिव्य आल्हाद की अभिव्यक्ति म भाषा की सामान्य शक्तिया जवाब दे देती हैं तो कबीर कदाचित् विवश होकर उन लौकिक व्यवहारो के माध्यम को अपनाते हैं जहा से उनकी अनुभूति का निकट तम दर्शन हो सके। उनम प्रेषणीयता अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होती है। जो प्रेम दाम्पत्य सबधो की तीव्रता म लौकिक रूप धारण करता है वही उस अलौकिक शाश्वत आकाक्षा म परिवर्तित हो जाता है जो उसका परस्पर शक्ति से शान्त एव निश्चल सम्बन्ध स्थापित करती है। इस प्रेम म दुलहिन और दूल्हा ही विलक्षण नही अपितु उनका सम्बन्ध सहज होते हुए भी विलक्षण है। उनके विवाह को देखने के लिए तेंतीस करोड देवता और अठासी हजार मुनि उपस्थित हुए हैं—

"सुर तेतीसू कौतिग आये, मुनिवर सहस अठासी ।
कहै कबीर हम ब्याहि चले है, पुरिष एक अबिनासी ॥"

लेकिन केवल दाम्पत्य प्रतीक आत्मा परमात्मा के सम्बन्धों को प्रकट करने में असमर्थ हैं, अतः कबीर कभी स्वामी सेवक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग करते हैं—

"मोहि बेचि गुसाईं
तन मन धन मेरा रामजी के ताईं ॥"

और कभी उसे जननी के रूप में भी देखने लगते हैं—

"हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न औगुण बकसहु मेरा ।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कैं चित रहैं न तेते ।
कर गहि केस करै जो धाता, तऊ न हेत उतारै माता ॥
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥"

कबीर के बहुत से आध्यात्मिक प्रतीक लोक जीवन का बड़ा निकट और सरस परिचय देते हैं। आत्मज्ञानी या ईश्वर-प्रेमी के विभोर होने के लिए एक क्षेत्र है और लोक रत व्यक्ति के लिए दूसरा क्षेत्र। यहां कभी-कभी दोनों की तुष्टि हो जाती है। यद्यपि इस प्रकार का अवसर कबीर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों द्वारा विशेषतः रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु वस्तुतः सारा खेल होता प्रतीकों का है। 'झीनी झीनी बीनी चुनरिया' जैसे पदों की प्रतीक-योजना में काव्य का सरस प्रवाह दर्शनीय है। भक्त रूपी प्रिया के लिए परमात्मा रूपी प्रेमी ने जो चूनरी सँवार कर दी है वह कितनी रंगीली और सजीली है, देखिये तो सही—

'चुनरिया हमारी पिया ने सँवारी,
कोई पहिरै पिय की प्यारी ।
आठ हाथ की बनी चुनरिया,
पंच रंग पटिया पारी ।
चाँद सुरुज जामें आंचल लागे,
जगमग जोति उजारी ।

बिनु ताने यह बनी चुनरिया,
दास कबीर बलिहारी[1] ॥"

यह चुनरिया हमारे कितने निकट की है किन्तु प्रतीकों के ज्ञान के
इसका आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रत्यक्ष नही हो सकता । यहा प्रतीक कितने सरल
व्यवहारिक है उनसे पाठक या श्रोता का सम्बन्ध सहज ही हो जाता है ।
'चुनरी' से प्रत्येक मानव का सम्बन्ध है किन्तु प्रतीक रूप म इसने कैसे दो
दे डाले है, यही इसकी साकेतिकता है ।

या तो कबीर के बहुत से उपमान प्रतीक शक्ति से युक्त हैं और
आलोचक उपमानो म भी प्रतीकता देखने की चेष्टा करते है किन्तु वास्त
उनको प्रतीक नही कहा जा सकता । यह ठीक है कि उपमान उपमेय के
साधर्म्य आदि गुणो के कारण किसी सीमा तक प्रतीक शक्ति धारण करत
किन्तु रूपकातिशयोक्ति जैसे कुछ अलकारो मे ही, क्योकि वहाँ उपमेय का नि
हो जाने से, उपमान और प्रतीक का अन्तर मिट जाने से, उपमान ही प्र
पद पर आसीन हो जाता है । कबीर के कूटो म ही नही, उलटबासियो त
ऐसे प्रतीको का प्राचुर्य है —

"तरवर एक पेड बिन ठाढा, बिन फूला फल लागा ।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा[2] ॥"

अथवा

'भेरै चढे सु अधधर डूबे निराधार भये पा ।
ऊघट चले सु नगरि पहूते बाट चले ते लूटे ॥
एक जेवडी सब लपटाने, के बाधे के छूटे ॥"

कहने की आवश्यकता नही कि कबीर की प्रतीक योजना म बहुत
तो परपरागत मार्ग हैं किन्तु कुछ प्रतीक उन्होने अपने दिये हैं जो 'कवि स
की प्रेरणा न होकर मौलिक उद्भावना का परिणाम है । यह कहा जा स
है कि कबीर के यौगिक प्रतीको के लिए एक बना हुआ मार्ग था । उन

---

१ कबीर ग्रन्थावली
२. कबीर ग्रन्थावली

देखने की, और भोगने की लालसा लेकर जाते हैं। उसी प्रकार जग-जीव माया को भोगते हैं, किन्तु इस भोग से किसी की तृप्ति नहीं होती। प्रत्येक भोगी अतृप्त ही जाता हुआ दीखता है—

"कबीर माया पापणीं, लालै लाया लोग ।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥"

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या माया-जन्य भ्रम (अज्ञान) का अत्यन्ताभाव है? अन्धकार में प्रकाश का अत्यन्ताभाव होने पर क्या प्रकाश की सत्ता मानी जा सकती है? क्या भस्मावृत अग्निवशिका में अग्नि का अत्यन्ताभाव मानना उचित है? फिर यह भी एक प्रश्न है कि ज्ञान और अज्ञान म सत्य कौन है? यदि अज्ञान सत्य है तो ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' कहने का कोई अभिप्राय नहीं दीख पड़ता। यदि अज्ञान 'असत्' है तो उससे ज्ञान का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। इसमें कपिल मुनि का यह वचन, कि असद्वस्तु से सद्वस्तु का उद्भव नहीं माना जा सकता, प्रमाण है। अन्धकार से प्रकाश का प्रादुर्भाव कभी नहीं हो सकता। यह ठीक है कि किसी स्थल के प्रकाश से ओझल हो जाने से वहाँ अँधेरा हो जाता है, किन्तु अन्धकार के आवरण से प्रकाश नहीं हो सकता। यह तो प्राय देखने में आता है कि दुर्दिन मे दृष्टि-पथ पर मेघावरण के कारण किसी-किसी स्थान पर दिन में भी अन्धकार हो जाता है, परन्तु किसी अँधेरी निशा में मेघों के छा जाने से प्रकाश नहीं हो जाता। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि सत् का विनाश नहीं हो सकता और असत् का भाव नहीं हो सकता। इस विषय में गीता का वाक्य प्रमाण है:—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।"

शास्त्र प्रमाण है कि ज्ञान सत् है और अज्ञान असत्, अतएव ज्ञान का कभी विनाश नहीं हो सकता और अज्ञान की कभी सत्ता नहीं हो सकती।

ज्ञान के ऊपर माया का आवरण आ जाने से ही अज्ञान का चमत्कार दिखाई पड़ता है। माया सूक्ष्म शरीर तक के साथ लगी रहती है और इसी के विकारों के कारण पुनर्जन्म लेना पड़ता है। माया के कारण ही मन चंचल और विकृत होता है। जब तक मन में विकार रहते हैं, तब तक संसार से पीछा नहीं छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है, तब उसका निर्मल आत्मा में विलय होजाता

है। माया के प्रभाव से स्वरूप विस्मरण की दशा ही बन्धन की दशा है। जब ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का अंधेरा दूर हो जाता है तो माया का बन्धन भी टूट जाता है। यही मुक्ति की दशा है।

कबीर की माया तत्वत शङ्कर की माया से अभिन्न है। उसे कबीर ने ब्रह्म-माया भी कहा है और अपनी भी। काम, क्रोध, मोह आदि माया के अनेक अङ्ग है। सत्व रज और तम माया के तीन गुण हैं और पंचतत्व माया के ही अवयव हैं। रूप, वश, छद्म, पाप, पुण्य आदि म माया की ही परम्परा है। बड़े-बड़े तपस्वियों मुनियों और ऋषियों मे भी इसका सचार है। इस माया ने नारद जैसे मुनि तक को निगल लिया था। यह ब्रह्मा के घर म ब्रह्माणी और शिव के घर म पारवती होकर बैठी है। जो माया से लगाव रखते हैं उनको यह तग करती है और जो इसको लातो से कूट-पीट कर रखते है, उनकी यह दासी बनी रहती है।

कबीर की उक्तियो से यह प्रकट हो जाता है कि जो माया अज्ञान की दशा म जीव का पीछा नही छोड़ती, वही ज्ञान के प्रकाश मे प्रभावहीन हो जाती है। माया के दो काम दीख पड़ते हैं —एक तो यह कि वह अपने प्रभाव से, अपने पर्दे से आत्मा के स्वरूप को छिपाती है और दूसरे अपने नाना रूपो के प्रसार से भ्रान्त जीव को मोहित करके घुमाती है। अनेकता भ्रम से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान एवं विवेक के लोचनो म अनेकता जैसी कोई वस्तु ही नहीं है—

'कथता बकता सुरता सोई।
आप बिचारै सो ग्यांनी होई॥"

कबीर एकरूप सत्य को निर्विकार मानते है। मेघ के कारण रवि का दृष्टि से ओझल हो जाना रवि की विकृति नहीं है। जिस दृष्टि से यह जगत् दिखाई पड़ता है वह भी माया है और यह जगत् भी। सच तो यह है कि माया ही माया म उलझी है। इसीलिए कबीर कहते हैं —

"झूठें झूठ रह्यौ उरझाई।"

इस मिथ्या की प्रतीति को कबीर मन का भ्रम मानते है जो मन के निर्मल होने पर दूर हो जाता है। उसी निर्मल मन म आत्मा की अनुभति होती

है। मैं तै और तैं मैं का भेद दूर होकर शुद्ध ज्ञान दृष्टि से ही आत्मा का रूप सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

इस प्रतीयमान द्वैत से अद्वैत सत्य किसी प्रकार बाधित नहीं होता। अनेक वर्ण की अनेक गायों में रहने पर भी दूध एक ही रहता है। उसी प्रकार इस दृश्यमान नानात्व में एक ही सत्य एक ही आत्मा का प्रकाश है। जिस प्रकार अनेक वेश एक नट को अनेक रूपों में प्रस्तुत कर देते हैं उसी प्रकार एक ही आत्मा को अनेक पंचतत्त्व के पुतले अनेकशः प्रकट करते हैं —

मेष अनेक एकधू कैसा नाना रूप धरै नट जैसा।

सब शरीरों में समाया हुआ आत्म तत्त्व केवल कहने-सुनने के लिये अनेक-जैसा प्रकट होता है वास्तव में ऐसा है नहीं। जैसे अनेक घड़ों में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब की अनेकता घड़ों के फूटने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार शरीरों के निपात के पश्चात् आत्मा का आरोपित विच्छेद नष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि सीमाएँ शरीर की हैं आत्मा की नहीं। शरीर के नष्ट होने पर वे सीमाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इसी को लोग मरना कहते हैं। इस जीने-मरने से आत्मा की एकता बिल्कुल भी प्रभावित नहीं होती।

कबीर जीवन मरण को भ्रम जन्य मानते हैं। माया ने पंचतत्त्वों को उत्पन्न करके उनके संयोग से भ्रम का पुतला तैयार कर दिया है। जब तक उन तत्त्वों का संयोग रहता है तब तक वह पुतला दिखाई देता है किन्तु जब वे तत्त्व वियुक्त हो जाते हैं तो अपने अपने रूप में मिल कर पुतले के रूप को समाप्त कर देते हैं। यह रूप समाप्त हो जाता है किन्तु उसमें व्याप्त सत्य कभी समाप्त नहीं होता —

माटी माटी रही समाइ पवन पवन लिया संगि लाइ।
कहै कबीर सुनि पंडित गुनी रूप मुवा सब देखैं दुनी॥

इस जीवन मरण की प्रतीति उसी समय तक होती है जब तक मन रहता है। मन ही शरीर की प्रतीति का कारण है और यह मन जब सहजरूप हो जाता है तो उसी में ब्रह्म की प्रतीति होती है —

तन नाहीं कब जब मन नाहिं।
मन परतीति ब्रह्म मन माहिं॥

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस रूपात्मक जगत् का कर्ता कौन है ? क्या इसको ब्रह्म ने बनाया है या माया ने ? कबीर दोनों को इसका कर्ता मानते हैं। जब वे भावावेश में होते हैं और भक्ति के स्वर में बोलते हैं तो इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म की रचना मानते हैं —

> "जिनि ब्रह्माण्ड रच्यो बहु रचना, बाव बरन ससि सूरा।
> पाइक पच पुहमि जाके प्रगटें, सो क्यो कहिये दूरा॥"
>
> × × ×

कभी-कभी वे इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का वेश कहते हैं। उस समय भी वह ब्रह्म की ही रचना ठहरता है —

> ' माटी एक भेष धरि नाना , सब में एक ही ब्रह्म समाना।"

कुछ और स्पष्ट रूप से कबीर कहते हैं कि सर्वत्र ब्रह्म ही की सत्ता है। अनेक रूपों को वही धारण करता है। माया-मोहित लोग विषयों में भूलकर अहङ्कार करने लगते हैं —

> ' सब घटि अन्तरि तूहीं व्यापक, धरै सरूपै सोई।
> माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कू गरबाना॥"

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य है—एक तो यह है कि सब रूपों को ब्रह्म धारण करता है और दूसरी बात यह कि उसकी माया मोहित करती है। धारण करने का तात्पर्य यह है कि रूप ब्रह्म से भिन्न होता हुआ भी ब्रह्म ही में प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि भ्रम-सर्प रज्जु से भिन्न होता हुआ भी रज्जु में ही प्रतीत होता है। सर्पत्व का आरोप रज्जु में है, उसी प्रकार जगत् का आरोप ब्रह्म में है। इस रूपात्मक जगत् की प्रतीति माया-मोहित जीव को ही होती है, माया मुक्त को नहीं। इससे स्पष्ट है कि जगत् के जिस कर्तृत्व का आरोप ब्रह्म में किया जाता है वह वास्तव में माया का है। माया का सम्बन्ध भी कबीर ब्रह्म से ही मानते हैं। जो माया में लिप्त हैं उनको माया के ही रूप दिखाई पड़ते है, ब्रह्म नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु जो माया से मुक्त हैं उन्हें आत्मस्वरूप या ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, माया नहीं दिखाई पड़ती। माया अपने निकटवर्ती को मोहित करके उसकी दृष्टि से सत्य को छिपाती है। सत्य के छिपने

से ही नानारूपात्मक जगत् की प्रतीति होती है। माया की करामात से कबीर परिचित हैं। इसी से वे चेतावनी देते हैं —

"कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियाँ दे बाह।
नारद से मुनिवर मिले, किसौ भरोसो त्याह ॥"

ज्ञान-दिवाकर के प्रकाश से जब भ्रम-निशा का निवारण हो जाता है और माया से मुक्ति मिल जाती है तब ब्रह्म की परमज्योति का दर्शन होता है और जीवन-मरण से मुक्ति मिल जाती है —

"भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा।
मृतक उठ्या धनक कर लीयें, काल अहेड़ी भागा ॥"

इस स्वप्निल संसार को सत्यवत् प्रदर्शित कर देना माया का ही काम है। अनेक रूपों को माया ही बनाती है और माया ही बिगाड़ती है, अतएव जगत्-कर्तृत्व माया में निहित है, ब्रह्म में नहीं—

"माया मोहि मोहि हित कीन्हा, ताथैं मेरो ग्यान ध्यान हरि लीन्हा।
संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीवन सुपिन समान।
साच करि नरि गाठि बाँध्यो, छाडि परम निधान।
× × ×
भानै घड़ै सवारै सोई, यह गोब्यन्द की माया ॥"

इस प्रकार कबीर अनेकता को मिथ्या सिद्ध करके एकता का प्रतिपादन करते हैं। यह है उनकी आध्यात्मिक एकता, जिसमें कभी-कभी लोगों को भ्रम भी हो जाता है। इसका अध्ययन करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर का लक्ष्य हृदयलोक से निकल कर ज्ञानलोक में ले जाना है। वे भावना को आधार बनाकर ज्ञान शिखर पर आरोहण करते हैं। इसकी पुष्टि कबीर के इस वाक्य से हो जाती है—

"तारण तरण जबै लग कहिये,
तब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में,
कहै कबीर मन माना ॥"

भावना-लोक म कभी कभी 'द्वैत' की झलक दिखाई पडती है किन्तु वास्तव मे ऐसी बात है नही। शब्दो के कारण जो 'द्वैत' भावना मे प्रविष्ट-सा लगता है वह लौकिक अभिव्यक्ति का दोष है। सच तो यह है कि कबीर का भाव एकता का प्रतिपादक है। भाव के बिना अन्तर्वर्ती भी दूर है। भाव-साधना ही 'दूर' को निकट लाती है और वही एकता प्रतिष्ठित करती है। इसी भावना म होकर कबीर उस अनुभव-पद पर पहुँचते हैं जहां से वे कह उठते हैं —

"हमहीं आप कबीर कहावा , हमही अपना आप लखावा।"

जब कबीर इष्ट या आत्मा (परमात्मा) को अन्तर म देखने की बात करते हैं तब उससे ध्वनित होता है कि वे वृत्तियो को अन्तर्मुखी करने का सन्देश देते हैं। उनकी उलटी गङ्गा बहाने का यही तात्पर्य है। अन्तवृत्ति की दशा म ही ध्यान-योग सम्भव होता है। ध्यान की गम्भीर दशा म ही ध्याता, ध्यान और ध्येय एक हो जाते है। यह ध्यान-योग ब्रह्म को अन्तर में ही लाकर छिपा देता हो, ऐसी बात भी नही है। जिस परमात्मा का वे अन्तंदर्शन कर सकते हैं उसका बाह्य दर्शन भी कर सकते हैं। लाल की जिस लाली से सब कुछ लाल हो रहा है, उससे भला उनका अन्तर क्यो न लाल हो ? यह है कबीर का आत्म-दर्शन (ऐक्य-दर्शन), भीतर और बाहर की एकता, जिसका प्रमाण उनकी यह साखी है —

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन हौं गई, मैं भी ह्व गई लाल॥"

हाँ, तो कबीर द्वारा प्रतिपादित एकता का दूसरा साधन योग है। यह एकता शरीर के अन्तर की एकता है, मन की एकता है। मन कोई एक चीज नही है। अनेक बिखरी हुई वृत्तियों का रूप ही मन है। वृत्तियो के एकीकरण से ही मन की एकाग्रता सिद्ध होती है और एकाग्र मन ही एकाकार होता है। यही निर्वृत्तिक कहलाता है। मन की एकाग्रता आनन्ददायिनी होती है और उसकी चचलता दुखदायिनी होती है —

'जे मन लागै एक सू तौ निरबाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुखि वाजणा, न्याइ तमाचे खाइ॥"

शरीर रूपी मन्दिर की मनरूपी ध्वजा है जो विषय पवन के झोकों से फहराती है। इस ध्वजा की विचित्रता यह है कि इसके चलायमान होने से देवालय भी चल उठता है। इस प्रकार मन देह के ध्वंस का कारण बनता है —

> "काया देवल मन धजा, विषै लहरि फहराइ।
> मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्वस जाइ॥"

यह चंचल मन मदगल गज से भी अधिक प्रबल है। इसको वश में करना सरल नहीं है। 'दिले दीवाना बड़ी मुश्किल से काबू में आता है'। सुख दुख, एक अनेक आदि के मूल में यही मन रहता है। जो चंचल होकर बन्धन का कारण बनता है वही मन निश्चल होकर मुक्ति का कारण बनता है। इसी दृष्टि से गीताकार ने—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो' कहा है और इसी भाव को लेकर कबीर कहते हैं —

> "मन गोरख मन गोविंदौ, मन ही औघड़ होइ।
> जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ॥"

यदि विचार की आँखों से देखा जाय तो यह समस्त प्रपञ्च ही मन का है। जहाँ मन नहीं है वहाँ अहङ्कार कहाँ रह सकता है और जहाँ अहङ्कार नहीं है वहाँ भेद दृष्टि कहाँ रह सकती है? सच तो यह है कि माया का आवास ही यह मन है। कामादि भी मन के ही अंकुर हैं।

कबीर ने इस ध्वंसक मन को शिव बनाने का मार्ग योग और भक्ति में देखा है। यद्यपि कबीर जप, तप, योग आदि के बाह्याचारों को अङ्गीकार नहीं करते, परन्तु उसके कुछ अङ्गों को वे तत्त्वतः स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्राणायाम पर विशेष बल न देते हुए भी सुषुम्ना के मार्ग की बड़ी प्रशंसा की है जिससे प्राणायाम का महत्त्व प्रतिपादित हो जाता है। 'मन पवन जब परचा भया, ज्यूं नाले राखी रस मइया' आदि शब्दों में कबीर मन के निग्रह के लिये 'पवन' की बात करते हैं। यही प्राणायाम की बात है। 'चन्द सूर दोइ भाठी कीन्ही, सुषमनि चिगवा लागी रे' कहकर कबीर प्राणायाम के साथ सुषुम्ना के मार्ग को खोलने आदि की ओर सङ्केत करते हैं। सुषुम्ना के पथ से ही मन दरीबे में बैठ कर स्थिर होता है और उसी पथ में सहजावस्था प्राप्त होती है। *सारा भ्रम भाग जाता* है और आनन्द-रस का उदय होता है —

"सुषुमन नारी सहज समानी ।"

अथवा

"मनवा जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा ।
कहै कबीर जिय ससा नाहीं, सबद अनाहद बागा ॥"

अनेक प्रतीकों द्वारा कबीर ने सुषुम्ना के मार्ग की प्रशसा की है। इसी मार्ग की बदौलत शिव-शक्ति का सयोग होता है। इसी मार्ग से पहुँचा हुआ मन कैलाश पर विराजमान शिव के दर्शन करता है। अमृत के देश, 'औधा कूँआ' का यही पथ है। इसी पथ से पनिहारिन अपना घडा भरने जाती है। उल्टी गङ्गा के प्रवाह मे भी सुषुम्ना का मार्ग सहायक होता है। इस मार्ग के खुलने के साथ ही सर्पिणी जगती है और इसी से व्योम मे चढकर वह शक्ति रूप से शिव से मिलती है —

"नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ।
× × ×
सहजि सुषमना कूल भराबै, दह दिसि बाड़ी पावै ॥
× × ×
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी ।
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई ।
उलटी गङ्गा नीर बहि आया, अमृत धार चुआई ॥
× × ×
प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिन जागी ।"

कबीर सबसे अधिक बल ध्यान और समाधि पर देते है। ध्यान मन की एकाग्रता चाहता है। ध्यान के पथ से ही समाधि-दशा प्राप्त होती है। इसी को वे 'सहज' या 'शून्य' दशा भी कहते हैं। इस दशा मे जो आनन्द प्राप्त होता है उसे कबीर 'सहज नीर' कहते हैं। इसको वे मन के मटके मे भरते हैं.—

"ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया ।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया ॥"

ध्यान और समाधि की दशा को कबीर ने क्रमश 'सुरति' और 'निरति' नाम दिया है। आत्म-ध्यान ही का दूसरा नाम 'सुरति' है। 'सुरति' मन की

सूक्ष्म दशा है। यह आत्म-दर्शन का मार्ग है। काल का निवारण 'आत्म दर्शन' से ही सम्भव है। इसीलिए कबीर का कहना है —

"कबीर सुषिम सुरति का, जीव न जाणै जाल ,
कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्टि काल।"

सुरति की चरम परिणति निरति में होती है। इसी को योग की शास्त्रीय भाषा में समाधि मे ध्यान की परिणति कह सकते हैं। कबीर की 'निरति' समाधि की निराधार अवस्था है। यही परम योग की दशा है और यही 'शून्य' दशा है। परम शून्य मे विराजमान परम शिव का यही आवास है —

"सुरति समाणीं निरति मैं, निरति रही निर धार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यभ दुवार॥"

'शून्य' की दशा व्यापक 'ऐक्य' की दशा है, निरञ्जनत्व की दशा है। शून्य और निरजन के एकीभाव को कबीर ने इस प्रश्न के द्वारा स्पष्ट कर दिया है —

"कहै कबीर जहाँ बसहु निरजन, तहाँ कछु आहि कि सुन्यं ?"

यहाँ 'सुरति'—'निरति' शब्दो का थोडा विवेचन कर लेना इसलिए आवश्यक समझा जा रहा है कि विद्वानो ने अनेक व्याख्याऐं देकर इनको घपले म डाल दिया है। विवेक की दृष्टि मे सब अर्थ सीधे या फेर से एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं। प्राय विद्वानो ने 'सुरति' का अर्थ 'स्मृति' किया है। उनका मत है कि 'सुरति' स्मृति का अपभ्रंश है, अतएव वे स्वरूप स्मरण को ही 'सुरति' कहते हैं। डा० बड्थ्वाल ने 'सुरति' का एक अर्थ 'आशा' भी बतलाया है जो उचित नही दीख पडता। कुछ लोग 'सुरति' की व्युत्पत्ति स्वरति से मानकर उसका अर्थ 'आत्मरति,' 'आत्मप्रेम' या 'आत्मासक्ति' करते है। इस लेख के लेखक को 'स्मृति' और 'आत्मरति' दोनो अर्थ मान्य हैं जो थोडे-से हेर-फेर से एक ही भाव के द्योतक हैं। इन दोनो अर्थो मे से 'सुरति' का एक सामान्य अर्थ निकलता है और वह है 'स्वरूप-ध्यान'। आत्मरति या स्वरूप ध्यान के आगे की अवस्था 'निरति' है। 'निरति' में कोई आसक्ति या ध्यान नही रहता। सुरति मन के बँधे रहने की दशा है और निरति मन के विलय की।

कुछ लोग 'सुरति' की व्युत्पत्ति 'श्रुति' (Hearing) से करते हैं। इस सम्बन्ध म कबीर के एक पद की ये दो पक्तिया ध्यान देने योग्य हैं—

"(क) कथता बकता सुरता सोई, आप विचारै सो ग्यानी होई।
× × ×
(ख) मुई सुरति बाद अहङ्कार, वह न मुवा जो बोलणहार ॥"

(क) पक्ति मे 'सुरता' का अर्थ स्पष्टत 'श्रोता' (सुननेवाला) है। (ख) पक्ति में 'सुरति' शब्द आया है जिसका अर्थ 'श्रवण' (Hearing) है। 'सुरता' और 'सुरति' शब्दो के रूप और अर्थ से 'सुरति' शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रुति' से मान लेने म कोई अडचन नही दीख पडती। योग म 'श्रुति' (Hearing) का विशेष स्थान है। मन का शब्द से गहन सम्बन्ध है। शब्द मन को खीचकर स्थिर करता है। मन-कुरग के लिए शब्द वीणा का काम करता है। शब्द के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हं। शब्द की स्थिति शरीर के भीतर भी है और बाहर भी। योगी लोग शरीर के भीतर होने वाले शब्द' को सुनने का अभ्यास करते हैं। बढते हुए अभ्यास के साथ वे सूक्ष्मतर शब्द मे मन को लगाते चले जाते हे। शब्द की सूक्ष्मता के साथ-साथ मन भी सूक्ष्म होता जाता है। शब्द अपनी सूक्ष्मतम अवस्था म मन के साथ विलय को प्राप्त हो जाता है। यह दशा 'निरति' अवस्था है। जहा तक 'श्रुति' और 'मन' रहते है, कबीर के शब्दो मे उस दशा को 'सुरति' कह सकते हे। इस अन्तर्वर्ती नाद को योग की भाषा मे 'अनाहत' नाद कहते हैं जिसे कबीर 'अनहद नाद' या 'अनहद बाजे' कहते हैं। 'अनहद नाद' अपने सूक्ष्मतम रूप म तल्लीन मन को भी ले डूबता है। यह सहजावस्था है। इसमे मन और नाद का, 'श्रोता' और शब्द' का अन्तर मिट कर 'ऐक्य' की प्रतिष्ठा होती है।

मन को बाधने का एक और मार्ग भक्ति है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भक्ति भी एकता की प्रतिष्ठा करती है। 'जाति-पाति मानै नहि कोई, हरि कौ भजै सो हरि का होई' आदि वाक्य किसी न किसी रूप मे एकता के प्रतिपादक ही सिद्ध होते हैं। कहा जाता है कि भक्ति म द्वैत की भावना रहती है, किन्तु अपने गहनतम रूप म वह साधक (भक्त) का साध्य (परमात्मा) म मिलाती है। भक्त के लिये उसका अपना कोई अस्तित्व नही रहता और भाव-

विभोर भक्त के मुख से ही 'जित देखौं तित कृष्णमयी री' आदि शब्द फूट पड़ते हैं। इसलिए कबीर ने ठीक ही कहा है —

'आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न को पत्याइ॥"

कपट और अभिमान द्वैत की ऊँची ध्वजा है और इनका परित्याग भक्ति की पहली शर्त है। सबको समान दृष्टि से देखने और अपने पराये के भेद को मिटा देने पर ही भगवान् से भेंट होती है —

"आपा पर सम चीन्हिये, दीसैं सरव समान।
इहि पद नरहरि भेटिये, तू छाडि कपट अभिमान रे॥'

भक्ति अनेकता को मिटाती है। जहा एकता नही है वहा अवश्य ही अन्तर होगा, 'तेरा-मेरा' होगा। यह 'तेरा-मेरा' अपने और जगत् के बीच मे तथा अपने और परमेश्वर के बीच में होगा। 'मैं सबनि मे औरनि मैं हूँ सब' कहकर कबीर ने न केवल अपने और जगत् के बीच के भेद को ही मिटा दिया, वरन् अपनी और ईश्वर की एकता भी सिद्ध कर ली। कबीर की मान्यता है कि किसी आशा को लेकर भक्त भगवान् से नही मिल सकता। 'मिलने' से कबीर का तात्पर्य एक होना है। आशा इस एकता को बाधित करती है —

"जब लग है बैकुण्ठ की आसा।
तब लग नहिं हरि चरन निवासा॥"

इच्छा को कबीर द्वैतमूलक मानते हैं और आत्मा के सिवा कोई दूसरी वस्तु उन्हे स्थिर नही दिखाई देती, अतएव जगत् की किसी भी वस्तु की इच्छा व्यर्थ है —

"का मागूं कछु थिर न रहाई, देखत नैन चल्या जग जाई।"

जब तुलसीदास जैसे सगुणोपासक ने—

"सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।"

अथवा

"जगमहि देखहि निज प्रभुहि, कासन करहि विरोध।"

आदि वाक्यो से विरोध का उन्मूलन करके एकता के भाव की प्रतिष्ठा की है तो कबीर जैसे निर्गुणोपासक के लिए यह कार्य क्या कठिन था? तथ्य

ता यह है कि कबीर ने आत्मोपासना द्वारा भक्ति को सचमुच भक्ति योग बना दिया ह । उनकी भक्ति म साधक और साध्य उपासक और उपास्य का अ तर नहीं है। दाना निर तर और अभिन ह एक ह । कबीर परमात्मा के उपासक ह इसलिए अपने भी ह क्योकि उनक आ मा और परमात्मा म अभेद है एकता है। कबीर की एकता के इस प्रतिपादन न उनकी भक्ति धारा को भी अद्वैत वाहिनी बना दिया है।

धार्मिक और सामाजिक क्षत्रा म भा कबीर के एकत्ववाद ने अपना झण्डा फहराया था। धम के भेद से राम और रहीम म भी अन्तर माना जाता था अतएव धम हिन्दू और मुसलमान दोनो के बीच भेद का कारण बन गया था। कबीर ने कहा कि हिन्दू और मुसलमान दाना एक ही पिता की स तान ह एक ही कर्ता न उनका सजन किया है। राम रहीम केशव करीम आदि नाम एक ही स य क ह —

हिन्दू तुरक का करता एक ता गति लखी न जाई।
× × ×
हमार राम रहीम करीम केसो अलह राम सति सोई॥

हरि कीतन और अजा म दिर और मसजिद तथा पूव और पश्चिम का भेद एक शक्ति एक स य को दो म नही बाट सकता। इसी प्रकार अनेक नाम या धर्माचार उस सवव्यापक स य को मन्दिर या मसजिद मे सीमित नही कर सकते। जो य कहत ह कि खुदा मसजिद म है या राम म दिर म है उनका भ्रम कबीर एक प्रश्न स ध्वस्त कर दत है —

तुरक मसीति देहु हिन्दू दहु ठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाही तहा काको ठकुराई॥

वेप भषा मौलिक एकता को कसे नष्ट कर सकती ह ? धम के जो चिह्न हम लोगो ने मान लिय ह वे कृत्रिम ह हमारे बनाय हुए ह। जनेऊ और सुन्नत मनु य की मौलिक एकता को विभक्त नही कर सकत। इसीलिय कबीर चेतावनी देत ह —

कृतम सुनितय और जनऊ हिन्दू तुरक न जान भऊ।

कबीर को कोई वेश मान्य नही है, क्योंकि उसे वे भ्रमजात् मानते हैं। अलक्ष्य आत्मा इस वेशाचार से भिन्न है —

"कबीर यहु तो एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही माहि अलेख॥"

एकता को नष्ट करने वाली चीज मिथ्याचरण, छल या कपट है। वे कहते हैं कि स्वामी के प्रति सत्याचरण का ही निर्वाह हो सकता है, क्योंकि उसके साथ मिथ्याचरण टिक नही सकता है। दुनिया वालो के साथ आपका आचरण सरल एव निष्कपट होने से ही आप स्वामी के प्रति भी निष्कपट रह सकते हैं। केशो के कारण मनुष्य की सरलता और सत्यता म बाधा नही आनी चाहिए क्योंकि केशो के बढाने या मुडाने से सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है —

"साई सेती साच चलि, औरा सू सुध भाइ।
भावै लम्बे केस करि, भावै घुरडि मुडाइ॥"

पचवक्ता नमाज और देवालय मे मूर्ति पूजा, दोनो का कबीर की दृष्टि म कोई महत्व नही है। हरि की पूजा हृदय मे होनी चाहिए मन्दिर मे नही। भला ब्रह्मदेव का मन्दिर हृदय से अच्छा कौनसा हो सकता है ? जो इस रहस्य को नही समझता है वह भूला हुआ है। आशोन्मुख अविवेकी मनुष्य ही पत्थर पूजता है और झूठे मनुष्य का ही पचवक्ता नमाज पढने की आवश्यकता होती है। जो आदमी एक ओर नमाज पढता है और दूसरी ओर जीव-हिंसा करता है, वह भ्रान्त नही तो क्या है ? नमाज के वक्त खुदा की जिस रोशनी की बात कही जाती है, जो सब मे समाई हुई बताई जाती है, वह जीव-हत्या के समय कहा चली जाती है ? तब वह एक दो म कैसे विभक्त हो जाता है ? दो विरोधी बातें कहने वाला आदमी कबीर की दृष्टि मे झूठा है, अतएव वे कहते हैं —

"कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढि मसीति एकै कहै, दरि क्यू साचा होइ॥"

जिस प्रकार समाज मे हिन्दू-मुसलमान, राम रहीम और मन्दिर-मस्जिद का भेद फैला हुआ था, वैसे ही ऊँच-नीच और पण्डित-जोगी का भेद भी फैला हुआ था। पण्डित अपने को 'जोगी' से ऊँचा समझता था और जोगी पण्डित से अपने को भिन्न। कबीर के समय मे जोगियों का एक वर्ग था, एक सम्प्रदाय था

जिसमे अवर्ण लोग ही प्राय. सम्मिलित होते थे और ब्राह्मण लोग उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस भेद को देखकर कबीर को वेदना होती थी। वे कहते थे कि लोग कितने नासमझ है जो पण्डित और जोगी मे व्यापक एक ही ब्रह्म या आत्मा को नही देखते और भ्रम से भेद देखते है। क्या कही एक ही तत्व मे भी भेद हो सकता है ? इसीलिए उन्हे कहना पडा —

"व्यापक ब्रह्म सबनि मे एकै को पण्डित को जोगी ?"

उन्होने देखा कि जिस प्रकार वेश-भूषा और सम्प्रदाय मानवीय मौलिक एकता को नही बिगाड सकते उसी प्रकार 'राम और रहीम' या 'माला' और 'तसबीह' के नाम का अन्तर भी मानवता के ऐक्य को विकृत नही कर सकता। वेद और कुरान मे यह सामर्थ्य नही है जो मानवीय उत्पत्ति की एकता को ध्वस्त कर दे। नारी भी अपने मौलिक रूप मे पुरुष से भिन्न नही है। ब्राह्मण और शूद्र मे किस बात का भेद है ? क्या इनमे तात्त्विक एकता नही है ? क्या इनके चर्म और मास मे कोई अन्तर है ? यदि अन्तर नही है तो भेद क्यो ? इसी कारण उन्होने क्षोभ से कहा —

"ऐसा भेद बिगूचन भारी।
बेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौन पुरिख कौन नारी ।।
एक बूद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थे सब उतपना, कौन ब्राह्मन कौन सूदा ।।"

इसके अतिरिक्त हिन्दू-समाज मे प्रतिष्ठित अवतारवाद की भावना और मूर्तिपूजा भी धार्मिक क्षेत्र मे गहरी खाई खोदती जा रही थी। इस्लाम मे 'बुतपरस्ती' के लिए कोई गुजाइश नही है और न वह 'अनेकदेववाद' को ही स्वीकार करता है। कबीर इन दोनो चीजो को सामाजिक एकता का ध्वसक मानते थे। उन्होने कहा कि सत्य व्यापक और स्वतन्त्र है। उसको परिमितियो से आबद्ध नही किया जा सकता। वह कैसा है ? यह कौन कह सकता है ? वह जैसा है वैसा है। वह अज और अविगत, अनादि और अनन्त है। वह लोक और वेद से ही भिन्न नही, ससार से भी भिन्न है। वह शीत और ताप के परिणाम से मुक्त एव देश और काल की सीमाओ से परे है। कोई रूप और भेद उसमे नही ठहरता। अवतार मानकर लोग उसे नन्द-नन्दन कह देते हैं। वे अपने को

और दूसरों को धोखा मात्र देते हैं। जिसका नन्द-नन्दन था वह नन्द कौन और किसका था ? जब धरणी और आकाश दोनों नहीं थे तब यह नन्द कहा था ?

"लोका तुम्ह ज कहत हो नद कौ नदन, नद कहौ धू काको रे ?
धरनि अकास दोऊ नही होते, तव यहु नद कहा थो रे ?'

इससे स्पष्ट है कि कबीर 'अवतारवाद' का मण्डन करके सामाजिक एकता की रक्षा करने मे दत्त-चित्त थे।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर ने 'एकता' के सम्बन्ध मे समाज, भावना और चिन्ता के क्षेत्र मे एक अभूतपूर्व क्रान्ति को जन्म दिया। उन्हे आश्चर्य हुआ कि 'राम' और 'रहीम' का नाम-भेद हिन्दू और मुसलमान का भेद पैदा करके दोनों मे विरोध का विकास करता है। अतएव उन्होने दोनों को बडे आश्चर्य और क्षोभ से ललकार कर सचेत किया कि राम-रहीम, ईश्वर-अल्लाह एक ही परमात्मा के नाम है। अनेक नामो के अन्तर्गत एक ही तत्त्व के उपासक विरोधी नही हो सकते। दोनों म समाया हुआ भिन्नता का भाव केवल मात्र उनकी मूर्खता है। अनेक धर्मों को विरोध का कारण नही बनाना चाहिए। धार्मिक वेश-भूषा कृत्रिम है, व्यर्थ है, अतएव हिन्दू-मुसलमान आदि का वेश-भूषा सम्बन्धी भेद भी वास्तविक नही है। अनेक धर्मों के मानने वाले अनेक मार्गों से जाने वाले एक ही गन्तव्य स्थल के पथिक हैं। वे एक ही बाप के बेटे हैं अतएव उनमे विरोध का प्रश्न ही कहा उठता है ? मन्दिर और मस्जिद उस व्यापक और स्वतन्त्र सत्य का आवास नही बन सकते। जो इनको उसका आवास मानते हैं वे भूल करते है। परमात्मा न वेद मे है, न कुरान म, न मन्दिर मे है न मस्जिद म, न दाढी में है न चोटी मे और न माला में है न तसबीह मे। वह प्रत्येक जीव के पास है। जो विवेक के लोचनो से उसे देखता है उसी को वह मिलता है। उसका कोई स्थान नही है और न कोई मूल्य ही है। जो सिर देकर उसे खरीदता है, जो मरकर जीता है, उसी को वह मिलता है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे इन्होने चिन्ता धारा को एक पथ पर लाने का प्रयत्न किया जिससे 'एकेश्वरवाद' और अनेकेश्वरवाद मे समझौता हो सके। जिस प्रकार चिल्ला-चिल्ला कर कीर्तन करने को उन्होने मिथ्या और व्यर्थ बतलाया, उसी प्रकार मस्जिद पर चढकर दी गई 'अजान' को भी व्यर्थ बतलाया। अवतारवाद

का खण्डन करके उन्होंने राम और कृष्ण को ब्रह्मदेव का आसन दिया। इसी हेतु उन्हें कहना पड़ा —

ना जसरथ घरि औतारि आवा ना जसव ले गोद खिलावा।
आवत होइ नहीं बलि छलिया धरनी वेद न लेन उधरिया॥

अवतारवाद के खण्डन में उन्होंने मूर्तिपूजा को भी समाप्त कर दिया। उन्होंने भोले या मूर्ख लोगों को सहजरूप में समझाते हुए कहा —

लाडू लावण लापसी पूजा चढ़ अपार।
पूजि पुजारा ले गया दे मूरति मुहि छार॥

उन्होंने कहा कि मूर्ख लोग पत्थर पूजते हैं जिसका कोई लाभ नहीं। क्या अच्छा होता कि वे अपनी घर की चक्की को पूजते जिससे पिसा हुआ खाते हैं।

ये सब प्रयास कबीर ने सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा के लिए ही किये थे। कौन नहीं जानता कि कबीर सुधारक थे ? सुधारक भी साधारण कोटि के नहीं बड़ी ऊँची कोटि के। विश्व ने ऐसे बहुत कम सुधारक पैदा किये हैं। ऐसा कौन-सा क्षेत्र था जिसमें कबीर के सुधार का पदार्पण न हुआ हो ? महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का जितना प्रचार किया था उनके अनुयायियों द्वारा उतनी ही अधिक उसकी प्रतिक्रिया हुई। कबीर ने बुद्ध की आवाज को एक बार फिर से बुलन्द किया। सब जीवों में एक ही आत्मा का प्रसार देखने वाले कबीर की एकता की भावना हिंसा के आघातों से व्यग्र हो उठी थी। उन्होंने मांस भक्षियों को फटकारा और इतने जोर से कि केवल सेवड़े ही नहीं थर्रा गये वरन मस्जिद के काजी और मुल्ला भी काँप गये। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर सामाजिक एकता चाहते थे किन्तु समाज को वे निष्कलङ्क भी बनाना चाहते थे। उनकी सामाजिक एकता की भावना में पशु पक्षियों का प्रेम भी सम्मिलित है।

जाति-पाँति के ढकोसलों और ऊँच नीच की दरारों को कबीर ने एक ही साथ मिटाने का प्रयत्न किया। सब से आदि और अन्त आगम निगम, सृजन तत्व आदि को सामने रख कर उन्होंने भेदों की खाई को मिटाने की पूरी चेष्टा

की। ब्राह्मण के गर्व को सर्व करते हुए कबीर ने कहा कि 'ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को पहिचानता है'। इस प्रकार सब क्षेत्रों में कबीर ने सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा करने के लिए अटूट प्रयत्न किये। धर्म, जाति, समाज, भक्ति, ज्ञान, योग—कोई भी तो ऐसा क्षेत्र न रहा जिसमें उनकी शिथिलता दीख पड़ती हो। इस 'एकता' के परम पुजारी ने उसकी रक्षा के लिये यदि मध्य मार्ग से उलटी गङ्गा बहाकर अद्वैत के आवास में प्रश्रय लिया तो उचित ही था। कबीर मानो कह रहे हैं—

> "कबीर इस संसार को, समझाऊँ कै बार।
> पूछ जु पकड़े भेद की, उतरया चाहे पार॥"

: १६ :

मानववाद एवं साम्यवाद

महात्मा कबीर का नाम प्राचीन भारत की उन इनी-गिनी विभूतियों में प्रगणित किया जा सकता है जिन्होंने मानव-बन्धुत्व और ईश्वर पितृत्व की पुकार से एकता के आदर्श की प्रतिष्ठा की। अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए महात्मा कबीर ने ऐहिक और पारमार्थिक दूरी को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक अन्तर का दूर करने का सतत् प्रयत्न किया। जिनके कण्ठ की मधुरता और कर्कशता म, जिनके परिग्रह और परित्याग मे, जिनके अनुराग और विराग से केवल एकता का मूल मंत्र सुन पड़ता हो ऐसे साधु को कोरे दार्शनिक दृष्टिकोण से देखना उचित न होगा। जिनको कबीर का महामंत्र सीखना है, जिनको जाति की चरम व्यवस्था करनी है जो ऊँच-नीच के भूत को भारत से भगाना चाहते हैं और जो समाज को धर्म और नीति के व्यावहारिक पथ पर चलाना चाहते हैं, उन्हें कबीर के सामाजिक दृष्टिकोण का अनुशीलन बड़ी गम्भीरता से करना चाहिये।

कबीर उन साधुओं मे से नही थे जिनके मन की आँखो में आत्मश्लाघा ही घूमती है और न वे उन संत-महन्तो मे से ही थे जो दम्भ के बल से प्रभुता प्राप्त करना चाहते हैं। वे तो उन महापुरुषो मे से थे जिनके हृदय की प्रत्येक कोर में 'भेद' खटकता है। इस भेद को वे सिद्धांत और व्यवहार—जीवन के किसी पक्ष म देखना नही चाहते थे। उनको विश्वास था कि 'मानव' की सर्वो-एकता उस समय तक सिद्ध नही हो सकती जब तक वह अभेद दृष्टि से 'समता' पर आसीन 'एकता' की परम देवी को सिद्ध न करले। इस देवी के मन्दिर की ओर कबीर एक सामान्य व्यक्ति की भांति नही आये थे, उन्हें उनके संस्कारो ने प्रेरित किया था। समाज की कटुताओं ने उन्हें इस ओर आने को विवश किया था। कितनी बार उन्होंने मानव-भ्रष्ट स्वरूप पर अनुपात नहीं किया था, कितनी

बार उन्होंने उसके अंध विश्वासों पर उसकी भर्त्सना नहीं की थी और कितनी बार उन्होंने मानव के कोमल हृदय की विनाशकारिणी कर्कशता पर सारचर्य दुःख व्यक्त नहीं किया था।

कबीर की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सैद्धांतिक पक्ष का पूर्ण प्रयोग व्यावहारिक पक्ष में भी किया। शंकर का जो 'अद्वैतवाद' उनके 'मायावाद' का प्रश्रय पाकर भी उनकी द्वैतमयी माया का अपहरण न कर सका उसी को अपना 'अमोघास्त्र' बना कर महात्मा कबीर ने युग-युग में बढ़े आते हुए 'भेद' के मूल का उच्छेदन करने के लिए यह निक्षेप किया। उनकी प्रगति की सफलता उनके 'मत और पथ' दोनों से सिद्ध होती है।



क्या अच्छा होता कि महात्मा गांधी के युग में महात्मा कबीर भी होते और क्या ही अच्छा होता कि उनकी गिरादेवी सफलता और सार्थकता के भव्य युग मन्दिर में प्रतिष्ठित होती। तो क्या अछूत 'भेद' को इसी प्रकार देखते रहते! क्या फिर भी मुल्ला और पुजारियों के दंभ का ऐसा ही बोलबाला होता! नहीं, शायद कभी नहीं। यदि उनके आदर्श जन-मन में प्रतिष्ठित होते तो टाकियों की धारों से आत्मदेव की अखंडता खंडित न होती, चोटी और दाढ़ी से मानव-बन्धुत्व भ्रष्ट न होता, सेवा नौकरी न होती और अहिंसा के 'बिल' धारासभाओं में न रक्खे जाते।

अद्वैतवाद के प्रतिपादक महात्मा कबीर पहले सामाजिक थे, पीछे कुछ और। वे समाज की एकता के पुजारी और अखंडता के सच्चे प्रहरी थे। वर्ण और जाति-पाँति का जो घुन सामाजिक व्यवस्था के सुचक्र में लग रहा था, उसको निकाल फेंकने का उन्होंने अदम्य प्रयत्न किया। वे व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न इकाइयों के रूप में देखना स्वीकार न कर सके। व्यक्ति को सामाजिक इकाई का अभिन्न अंग मान कर ही उन्होंने तत्कालीन भ्रांत जगत का पथ प्रदर्शन किया। वे अपनी रचना में जीवन के जिस किसी पक्ष का निदर्शन करते हैं, उसी से सामाजिक एकता की प्रतिध्वनि निकल पड़ती है। हिन्दू मुसलमानों की जातीय संकीर्णता पर प्रहार करते समय उनकी वाणी की अधिधारा से वही मौलिक एकता झंकृत हो उठती है। अहिंसा के मर्म वाक्यों में भी उसी अभिन्न एवं अखंड विश्व की पुकार है।

इसम सन्देह नही कि समाजिक उपद्रवो के कारण मूल रूप में सिद्धान्त बनते हैं। भिन्न भिन्न सिद्धान्त समाज में जब आदर्श रूप प्रतिष्ठित हो जाते हैं तो उससे एकता की कमर टूटे बिना नही रह सकती। वही सिद्धान्त जब कुछ और उग्र हो जाते हैं तो समाज क्षय ग्रस्त हो जाता है। कबीर ने सबसे पहले इसी रोग का निदान किया और रोगियो का उपचार करते हुए पुकारने लगे—

हम सब माँहि सकल हम माँही, हम थे और दूसरा नाहीं।"

इस प्रकार कबीर ने एकता मूलक समता का प्रचार किया। यदि उन्हें हिन्दुओ के अनेकेश्वरवाद से सन्तोष न हो सका तो मुसलमानो के एकेश्वरवाद से भी तृप्ति न मिल सकी, क्योंकि अनेकेश्वरवाद से जिस प्रकार समाजिक एकता सिद्ध नही होती, उसी प्रकार एकेश्वरवाद से भी नहीं होती। ईश्वरीय एकता वैयक्तिक अनेकता को अप्रमाणित एव असिद्ध नही कर सकती। इसीसे उन्होंने एकेश्वरवादियो को सुनाकर कहा—

"मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घटि-घटि रह्यौ समाई।"

कबीर ने अपने खुदा की घट-घट में प्रतिष्ठा करके सब घटो को एकता-सूत्र में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। उस घट-घट वासी को कबीर ने अभिजातीय ही प्रमाणित किया। पीछे 'हम थे और दूसरा नाहीं' में यही प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। व्यावहारिक भेद उस घट-घट वासी की एकता को खडित नही कर सकते। व्रत, उपवास, नमाज आदि के हिन्दु, मुसलमान आदि रूपो में समाज का खन्डन नही हो सकता क्योंकि व्रतादि समाज के मूल तत्त्व नही हैं। इसलिए कबीर ने कहा है—

'राखू व्रत न महुर्रम जाना, तिसही सुमिरू जो रहै निदाना।

× ×

ना हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक पिछाण्या तो क्या दूजा।"

झगड़ा तो उसी समय तक है जब तक एक और अनेक का भ्रम है। नही तो—

"एक निरजन सूं मन लागा, कहै कबीर भरम सब भागा।"

हो सकता है कि कुछ लोग इसे कबीर का सिद्धांत ही मानते रहें, किन्तु तथ्य तो यह दीख पड़ता है कि 'निरजन' की व्यापकता कबीर के व्यावहारिक प्रेम की व्यापकता से भिन्न नहीं है। यही अभिन्नता वसुधैव कुटुम्बकम् के मानने वालों का लक्ष्य रहती है। इसीके सम्बन्ध में रहीम का मत है—

"प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एकहि ह्वै द्वै में लसे, ज्यों सूरज अरु धूप॥"

कबीर की भक्ति में, चिन्तन म, व्यवहार में, और उनकी वाणी मे सर्वत्र प्रेममयी समता और अखड एकता निहित है। वही कबीर का जीवन है, वही आदर्श वही व्यवहार है और वही लक्ष्य।

आज के राजनीति शास्त्र म साम्यवाद का एक नियत अर्थ लगाया जाता है, तथा यह आधुनिक मान्यता है कि साम्यवाद म धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है, वर्गभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्यवादियों का यह विश्वास है कि संसार म प्राचीनकाल से दो वर्ग चले आ रहे हैं—एक शोषक वर्ग है और दूसरा शोषित। एक अत्याचार, अनाचार एवं अन्याय के मार्ग से अपने लिए सुख और वैभव की अर्जना करता रहा है और दूसरा श्रम करता हुआ भी पर-मुखापेक्षी होकर भोजन, वस्त्र और आवास के लिए कष्ट सहता रहा है। एक के पास पूंजी रही है, जिससे दूसरे के श्रम को खरीदता ही नहीं रहा, अपितु छीनता रहा है। उसने उसका उचित मूल्य नहीं चुकाया। श्रमिक या मजदूर इच्छा न होते हुए भी धनिकों की इच्छा का खिलौना रहा है। मानव की इस प्रकार की दुखावस्था चिरकाल से चली आ रही है। साम्यवाद ने इस विषमता के मिटाने का निश्चय किया है। रूस ने साम्यवाद की प्रतिष्ठा और विश्व म उसके प्रचार और प्रसार का प्रयत्न भी किया है। राजनीतिज्ञों तक का कहना है कि साम्यवाद का लक्ष्य बुरा नहीं है किन्तु जिन साधनों या साम्यवादी प्रयोग करते हैं वे प्रायः क्रूर एवं नृशस हैं। यह ठीक है कि साम्यवाद समाज को एक स्तर पर लाना चाहता है किन्तु वह शान्तिमय साधनों का प्रयोग नहीं करता। सिद्धि के निमित्त साम्यवाद की आतुरता ही क्रूरता और नृशसता का कारण बनती है। साम्यवादी अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए रक्तपात करने मे भी नहीं हिचकता। यह ठीक है कि साम्यवाद के सिद्धान्तों मे रक्तपात का समावेश कदापि नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता है।

रूस की बात छोडिए, चीन और तिब्बत म जो कुछ हुआ है उसमे कितना रक्तपात हुआ है यह कहने की आवश्यकता नही है। प्राचीन काल मे भी साम्य की दिशा म प्रयास हुए थे। सर्वेभवन्तु सुखिना सर्वसन्तु निरामया आदि वाक्यो मे साम्यवाद नही तो साम्य की प्रवृत्ति अवश्य झलकती है। महात्मा बुद्ध क प्रयत्न अधिकाशत साम्यमूलक थ। सिद्ध और नाथों की वाणियो मे भी साम्य के प्रचार की स्पष्ट प्रवृत्ति है किन्तु कबीर ने साम्य की जो भूमिका प्रतिष्ठित की वह अधिक दृढ थी। उसमे धर्म का बहिष्कार नही है किन्तु धर्म का गलित एव ह्रासकारी रूढ रूप भी नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर धर्म को व्यक्तिगत साधना मानते हैं, वह किसी जाति या वर्ग की साधना नही है। व्यक्तिगत होते हुए भी कबीर का धर्म मानवधर्म-मात्र है उसमे मनुष्य मनुष्य की समता स्वीकार की गई है और परमात्मा का पितृत्व राम-रहीम के अभेद मे स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कबीर का साम्य-वाद अभिव्यक्त सत्ता को पूर्ण प्रभुता प्रदान करता हुआ मानव-एकता सिद्ध करता है और यह एकता या समता, ब्रह्म और जीव के अभेद तक आ पहुँचती है। ईश्वर के पितृत्व और राम-रहीम की एकता मानवबन्धुता और एकता सिद्ध करती हुई जाति-धर्म भेद के लिए कोई स्थान नही छोडती। उसमे रक्तपात तो दूर की बात रही, मानसिक हिंसा तक के लिए कोई स्थान नही है। अहिंसा और सत्य के पुजारी कबीर ने साम्य की प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्त उपायो का प्रयोग किया है।

ससार की नश्वरता, मानव शरीर की भगुरता और आत्मा की अमरता एव एकता दिखलाकर कबीर समतल भूमि पर निकट लाना चाहते हैं। राजमद को प्रकम्पित करते हुए, कायाबल के अभिमान को गिराते हुए, निर्बल को दृढ आश्वासन देते हुए, कबीर कहीं भय, कहीं भर्त्सना और कहीं भक्ति के मार्ग का अनुसरण करते हैं। अभिव्यक्त सत्ता की शक्ति को मनुष्य के सामने लाकर कबीर मानवीय आशा-निराशा, गर्व अभिमान आदि को चूर्ण करते हुए कहते हैं—

> "साईं सूँ सब होत है, बन्दे थै कुछ नाँहि।
> राई थै पर्वत करै, पर्वत राई माँहि[1]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-१२

और बल के अभिमान में लिपटे हुए मानव को सतर्क करते हुए निर्बल के प्रति सहानुभूति पैदा कराने के लिए वे कहते हैं—

'निर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की श्वाँस सों, सार भसम ह्वै जाय॥"

इस प्रकार कबीर के साम्यवाद की ये विशेषताएँ हैं—

१. इसमें परमात्मा एक अन्तिम और सर्वोच्च शक्ति है तथा वह सक्षम और सब उत्तम है।
२. राम और रहीम में कोई भेद नहीं है। वर्ग और वर्ण का भेद कृत्रिम है, वह मौलिक और स्वाभाविक नहीं है, अतएव इसको मान्यता नहीं देनी चाहिए।
३. मनुष्य-मनुष्य में ही अभेद नहीं है अपितु मनुष्य और परमात्मा में भी अभेद है।
४. कबीर के साम्यवाद के सत्य और अहिंसा प्रमुख तत्त्व हैं और वह प्रेम की शिक्षा देता है।

: १७ :

कबीर की उलटबांसियाँ

भाषा अभिव्यजना का एक साधन है। जो शब्द भाषा मे प्रयुक्त होते हैं वे नाम, रूप, भाव या क्रिया के प्रतीक होते हैं। बहुत से पुराने शब्द और शब्द-रूप नये शब्दो और शब्द-रूपो के लिए अपना स्थान रिक्त करके धीरे-धीरे समय की धारा मे विलीन एव तिरोहित हो जाते हैं। जो शब्द प्रचलित होते हैं वे अपना नियत अर्थ द्योतित करते हैं। एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी होते हैं और कभी-कभी यह भी दिखायी पड़ता है कि कई शब्दो का एक ही अर्थ होता है। ये सभी शब्द अपने मौलिक रूप में प्रतीक हैं और उनका प्रयोग अभिप्राय-विशेष में ही होता है किन्तु जिन शब्दो को साहित्य मे प्रतीक नाम से अभिहित किया जाता है उनका उपयोग प्राय गुण, धर्म, क्रिया अथवा भाव की अभिव्यक्ति के लिए ही किया जाता है। भाषा एक प्रतीकात्मक उपायमात्र होते हुए भी प्रतीको का उपयोग आध्यात्मिक अभिव्यजना के क्षेत्र मे अधिक आवश्यक हो जाता है। वस्तु जगत् की अभिव्यजना बडी सरल होती है क्योकि वस्तुओ के लिए शब्द नियत हैं किन्तु भाव-लोक की अभिव्यक्ति दुरुह होती है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अन्तर्लोक को अपने-अपने ढग से देखता है और अपनी अनुभूति को अपने शब्दो मे व्यक्त करने का उपक्रम करता हुआ लोक भाषा से सबध रख कर भी उसके अर्थ को छोड देता है। वह अपना अर्थ भाषा को देकर तोष लाभ करता है। धार्मिक अनुभूतियो की अभिव्यजना सामान्य बोध को कुछ अपरिचित-सी लगने का यही कारण है। इन्ही परिस्थितियो मे 'रहस्य-वादी अभिव्यक्ति' को जन्म मिलता है। छायावाद और रहस्यवाद से सबधित आधुनिक कविताएँ इतनी सरल नही हैं जितनी यथार्थवादी या दूसरी कविताएँ क्योकि उनमे पाठक या श्रोता को कवि के अर्थ तक पहुँचने की आवश्यकता होती है और वहां तक न पहुँचने की दशा मे अन्यार्थ या अनर्थ को ही जन्म मिलने की गुजाइश रह जाती है।

जब कविता के क्षेत्र मे ऐसी परिपाटी हो जाती है तब समाज के लोग उसके ग्रर्थ को समझने में अधिक कठिनता का अनुभव नही करते क्योंकि वे अपरिचित अर्थों से परिचित होने लगते हैं। अभिव्यक्ति की परिपाटी से शैली को जन्म अवश्य मिलता है किन्तु अर्थ को व्यवहृति न मिलने से शब्द प्रतीकमात्र बने रहते हैं। भाषा के इतिहास मे प्रतीको का अपना स्थान है किन्तु यह बतलाना कठिन है कि किस शब्द मे प्रतीक-शक्ति है। कोई भी शब्द प्रतीक बन सकता है किन्तु उसकी योग्यता प्रयोक्ता के हाथो मे निहित रहती है। वह जितनी चाहे उतनी शक्ति अपने प्रिय शब्द को दे सकता है। यदि उपयुक्त संगति शब्द को नही मिल पाती तो उसको अर्थ-द्योतन की समुचित शक्ति भी नही मिल पाती। उदाहरण के लिए इस पंक्ति को ही ले सकते हैं—

"अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि'।"

यहाँ पर शब्दो को उपयुक्त संगति प्राप्त हुई है अतएव 'अगनि', 'नीर', 'कदू' आदि की शक्ति अमोघ है। आध्यात्मिक विरह के कारण मन की समस्त वासनाएँ जल जाती हैं, इस भाव को कबीर ने प्रतीक-योग से व्यक्त किया है। सामान्य ढग से कहने में उक्ति मे वह प्रभाव न आता जो अब है। कोई शब्द अपने सामान्य अर्थ से अपनी सफलता सिद्ध नही कर सकता। प्रत्येक शब्द अपने-अपने संकेत से सुसज्जित है और प्रत्येक संकेत का एक-दूसरे से संबंध भी है। यही शब्द-शक्ति कहलाती है जो काव्य का अपरिहार्य अग है।

प्रतीको मे प्राय संकेत होते हैं, किन्तु उनसे किसी ध्वनि का निकल पड़ना भी असभव नही है। जहाँ ध्वनि प्रमुख हो जाती है वहाँ कवित्व उत्कृष्ट हो जाता है। प्रतीक-परपरा प्राचीन काल से ही चली आती है। पीछे प्रतीक के संबंध में यह तो बताया ही जा चुका है कि प्राचीनतम साहित्य ने प्रतीक को अपनाया था। इसके लिए वेदो तक का इतिहास देखा गया है किन्तु इससे प्रतीक का प्रागैतिहासिक अस्तित्व भी सिद्ध होता है। अवश्य ही वेदो से पूर्व भी लोक-भाषा में प्रतीक का व्यवहार रहा होगा। लोक-प्रचलन के उपरान्त ही ऐसी चीजें साहित्य मे अपना घर बनाती हैं।

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११-२

कबीर की उलटबांसियाँ प्रतीक-परिवार की सहेलियाँ हैं। कबीर के अनेक विचार उलटबांसियो मे ही अभिव्यक्त हुए हैं। जिस प्रकार वेदो मे ज्ञान निहित है उसी प्रकार उलटबांसियो मे भी कबीर का ज्ञान संचित हुआ है। उलटा वेद कहकर कबीर ने उनको महत्त्व दिया है। यह शैली कबीर ने ही प्रारम्भ की हो ऐसी बात नही है। हमारे आदितम साहित्य मे इस शैली का प्रयोग मिल जाता है। इसकी प्राचीनता का सबध वेदो से बडी सरलता से जोड सकते हैं। ऐसी उलटी उक्तियो का वेदो मे अभाव नही है।

'अपादेति प्रथमा पद्वतीना कस्तद्वा मित्रावरुणा चिकेत,'[1] 'चत्वारि शृ गात्रयोऽस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति'[2], अथवा 'इद वपुर्निवचन जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुराप'[3] आदि वाक्यावलियो ने उलटबासियों के स्रोत की ओर सकेत किया है।

डा० त्रिगुणायत ने ऋग्वेद मे एक और उदाहरण इसी प्रकार का खोजा है—

'क इम वो नृण्य माचिकेत, वत्सो मातृजनयति सुधाभि.'।[4]

अर्थात् वन आदि मे अन्तर्हित अग्नि को कौन जानता है ? पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओ को हव्य द्वारा जन्म देते हैं।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद से भी एक उदाहरण दिया है—

---

१. बिना पैरोवाली पैरोवाली से पहले आ जाती है, मित्रावरुण इस रहस्य को नही जानते—ऋग्वेद २-१-१५२-३

२ इस बैल के चार सीग, तीन चरण, दो सिर और सात हाथ हैं ; यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उच्च शब्द करता है—ऋग्वेद ३-४-५८-३

३. हे मनुष्यो ! यह वपु निर्वचन है क्योकि इसमे जल स्थिर है और नदियाँ बहती हैं—ऋग्वेद ४-५-४७-५

४ ऋग्वेद (१-१-७-१५) सूत्र ९५

'ईह ब्रवीतु य ईयङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वे.। शीर्ष्ण क्षीरे दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदक पदापुः ।'[1]

उपनिषदों ने इस शैली को और भी आगे बढ़ाया है। उनमें आत्मा के संबंध में ऐसी अनेक उक्तियाँ समाविष्ट हुई हैं जो उलटी प्रतीत होती हैं किन्तु अनुभवगम्य सत्य से पूर्ण हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् एक ऐसी विचित्र शक्ति का परिचय देता है जिससे आश्चर्य होता है। वह (आत्मा) 'बिना हाथ-पैरों का होता हुआ भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होता हुआ भी सुनता है।'[2] लगभग इसी भाव को कठोपनिषद् में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

"आसीनो दूरं व्रजति शयानो यातिसर्वतः[3]।"

अर्थात् वह स्थित हुआ भी दूर जाता है और शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। इसी आशय को ईशोपनिषद् ने कुछ भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है—[4]

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः॥"

अर्थात् "वह चलता है और नहीं भी चलता, वह दूर है और निकट भी है और वह सबके भीतर भी है तथा बाहर भी है। वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है।"[5]

उलटी बातें कहने की पद्धति ने 'अद्भुत' के आश्रय से धर्म में ही नहीं आगे चलकर साहित्य में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की। आध्यात्मिक मनीषियों ने

---

१. हे विद्वन्! जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित-रूप को जानता हो, वह बतलावे, उसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया करती हैं—अथर्व ९-९-५

२. श्वेता० उप० ३-१९

३. कठोप० १-२-२१

४. ईशोपनिषद्, मं० ५

५. 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत'—ईशाप०, मं० ४

विभावनात्मक वणनो क सहारे सत्य के अनक पहलुग्रो को तो प्रकाशित किया ही साथ ही उसम एक सरसता का पुट भी दिया। इसी कारण उपनिषदो की बहुत सी ग्रध्यात्मोक्तिया किसी ग्रश तक सरसता की ग्रभिव्यजना भी करती ह। यो तो ब्राह्मणो म भी बहुत ■ ऐसे स्थल ग्राथ ह जो वदिक सहिताग्रो ग्रौर उपनिषदा के बीच कडी का काम किय बिना नही रहते फिर भी उनका वह महत्त्व नही है जो उक्त विभावनात्मक वणनो का है।

इन सब वणनो का हम दो भागा म बाट सकते हैं—विभावनात्मक वणन ग्रौर विरोधाभास। य दोना वास्तव म एक ही ग्रसिलता की दो धाराएँ ह—

'ग्रपाणिपादो जनवो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु सभृणोत्यकर्ण'[1]

इस म विभावना है। यहा कारण क बिना ही काय की उत्पत्ति कही जाती है। स्वाभाविकत्व ग्रौर कारणान्तर भेद से विभावना भी दो प्रकार की होती है। विभावना का प्रतिरूप विरोधाभास है जो विरोध से भिन्न होता है क्योकि उसम विरोधी गुण सहस्थ नही होते, केवल विरोध का ग्राभास होता है। वस्तुत विरोध नही होता। विभावना ग्रौर विरोधाभास दोना से वर्ण्य का उत्कर्ष प्रकट होता है। इनके ग्रतिरिक्त ग्रसगति ग्रधिक विषम एव विशेषोक्ति क द्वारा भी वर्ण्य का महत्त्व प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार की परपरा धार्मिक ग्रभिव्यक्तिया म ग्राग भी चलती दिखायी पडती है किन्तु उसका ग्रभिप्राय बदलने लगता है। तात्रिका ग्रौर वज्रयानी सिद्धो ने उलटी बात कहने की शली को बहुत बडा प्रोत्साहन दिया। इसका विशेष कारण उनकी गोपन प्रवत्ति थी। वे ग्रपनी साधना-सबधी बात लोक म प्रकट करना उचित नही समझते थे। तान्त्रिको ने ग्रपनी गोपन प्रवृत्ति का सकेत इन शब्दो म किया है—

प्रकाशात् सिद्धि हानि स्यात् वामाचारगतो प्रिये।
ग्रतो वामपथे देवी गोपयति मातृ जारवत्॥

—विश्वसारतन्त्र

---

[1] श्वता० उप० ३ १९

बौद्ध धर्म में तो उलटबाँसियों के प्रयोग बहुत पहले से मिलते रहे हैं। 'धम्मपद'[1] की ये गाथाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं—

"मातर पितर हन्त्वा राजानो द्वेच खत्तिये।
रट्ठ सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो॥" (क)
"मातर पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच सोत्थिये।
वेय्याघ्र पञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो॥" (ख)

इनको पढ़-सुनकर किसी को भी आश्चर्य हो सकता है किन्तु इन गाथाओं का अर्थ प्रतीकों में छिपा हुआ है। उसके खुलने पर आश्चर्य का निवारण हो जाता है। बौद्ध-धर्म के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों में ऐसे प्रयोगों का और भी विकास हुआ है। चर्यापदों में ऐसे कितने ही प्रयोग मिलते हैं। काण्हपा की एक उक्ति देखिये—

"मारि सासु नणन्द घरे सालो।
माअ मारिआ काण्ह भइल कपाली[2]॥"

अर्थात् घर में सास, ननद एवं साली को मार कर माँ को मारा और काण्हपा कपाली हो गया।

इसी प्रकार कुक्कुरीपा ने कच्छपी का दोहन करने और मगर द्वारा वृक्ष की इमली के खाये जाने की बात कही है—

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ।
रुखेरतेन्तलि कुम्भीरे खाअ[3]॥"

---

१. धम्मपद पकिण्णवग्गो ५-६

(क) "माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचरसहित राष्ट्र को नष्ट करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।"

(ख) "माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा पाँचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।"

२. चर्यापद, ११ आय),

३. चर्यापद, २

और ढेण्ढेणपा की उक्ति से भी कुछ कम उलटापन नहीं है। यहा बैल ब्याता है और गाय बाँझ रहती है और पिटा (पीठक) तीनों समय दुहा जाता है—

"बलद बिआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे'।।"

ऐसी उक्तियों के साथ सिद्धो ने गर्वोक्तियाँ या चुनौतियां भी जोड रखी हैं, जैसे करोडो मे से कोई विरला योगी ही इस बात को समझ सकता है, अथवा ढेण्ढणपा के इस गीत को कोई-कोई ही समझ पाता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गोपन-प्रवृत्ति के कारण सिद्धो की रचनाओ मे एक विचित्र शैली को प्रोत्साहन मिला था जिसको विद्वानो ने 'सन्ध्या' या 'सन्धा' भाषा कहा है। इसका अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न सभाल कर 'सकेत' सभालते हैं जो प्रतीकमात्र होते है। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क मे होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक बार कहीं से कहीं पहुँच सकता है सयोग या वक्ता की सहायता ही श्रोता को उसके पास पहुँचा सकती है।

इस प्रकार की प्रतीक-शैली की परपरा नाथो की वाणियो मे भी अवतरित हुई किन्तु उनकी प्रवृत्ति सिद्धो-जैसी नही थी। सिद्ध लोग अपनी साधना का रहस्य हर किसी को प्रकट नही होने देना चाहते थे, कारण कि उनकी अपनी दुर्बलताएँ थीं। इस गोपन-प्रवृत्ति ने उनकी चमत्कार-प्रवृत्ति को भी प्रेरित किया और वे सकेत-शैली का प्रयोग गोपन-क्षेत्र से बाहर भी करने लगे। इस प्रकार सिद्धो की वाणी मे दो प्रकार की प्रवृत्ति दिखायी पडती है—गोपन-प्रवृत्ति तथा चमत्कार-प्रवृत्ति। यद्यपि सिद्धो की मूल प्रवृत्ति गोपन की है। नाथो मे गोपन-प्रवृत्ति का आग्रह नही दीख पडता किन्तु दूसरी प्रवृत्ति उनकी वाणी मे छिप नही सकी है। कहने की आवश्यकता नही कि नाथो की सिद्धि-दुन्दुभि ने लोक को चमत्कृत कर दिया था। शायद ही ऐसी कोई वस्तु भी जो लोक-दृष्टि मे बाबा गोरखनाथ की शक्ति से बाहर की रही हो। यह सब पथ-प्रतिष्ठित चमत्कारिता थी।

---

१. चर्यापद, ३३

गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने अपनी साधना की अनेक बातों को पहेलियों में समझाया है जिनमें उलटी बातें होने से कुतूहल बढ़ाने की चेष्टा स्पष्ट है। एक ऐसा उदाहरण देखिये—

थंभ बिहूणी गगन रचीलें तेल बिहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पति प्राया तब द्यौस नहीं तहा राती॥

अर्थात गोरखनाथ कहते हैं कि यदि मेरे वचनों में पूर्ण विश्वास हो जाये और उसके अनुसार आचरण किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि गगन में किसी खंभे और तेल-बत्ती के बिना ही ज्ञान का पुञ्जालोक हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गोरखनाथ अपनी साधनात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए कई बार उलटबासियों का सहारा ले लेते हैं। एक तो उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति स्वतः ही रहस्यमयी हो जाती है दूसरे उनकी चमत्कार प्रवृत्ति एवं परंपरा की प्रेरणा भी उलटबासियों को जन्म देती है। एक स्थान पर गोरखनाथ की उलटबासी देखिये—

डूंगरि मछा जलि सुसा, पाणी में दौं लागा।
अरहट बहै तुसालवा, सूल काटा भागा[1]॥

अर्थात पानी में अग्नि लगी हुई है मछली पहाड़ पर है और खरगोश जल में है। प्यासों के लिए रहँट बहने लगी है और शूल से निकल कर काँटा नष्ट हो गया है।

एक दूसरे स्थान पर गजेन्द्र चींटी की आँख में प्रवेश करता है, बाघिन गाय के मुख में ब्याती है और बाँझ बारह वर्ष की अवस्था में प्रसव करके निकम्मी हो जाती है।[2]

और भी आश्चर्य की बात देखिये— नाथ अमरवाणी बोलता है कम्बल बरसता है और पानी भीगता है। पड़वा को गाड़कर उसमें खूँटे को बाँधो

[1] देखिये गोरखबानी (प्रयाग) पृष्ठ ११२ पद २०

[2] चींटी करा नेत्र मैं गज्यन्द्र समाइला।
गावडी के मुष म, बाघला बियाइला ॥—गो० बा० (प्रयाग), पृष्ठ १२९ पद ३४

दमामा चलता है और ऊँट बजता है। कौए की डाल पर पीपल बैठा है, चूहे के शब्द से बिल्ली भाग रही है। बटोही चलता है, बाट थकती है, डोकरी के ऊपर खाट लेटी है। कुत्ता घुस गया है और चोर भूँक रहे हैं ···घडा नीचे है और पनिहारिन ऊपर है। लकडी म पडकर स्वय चूल्हा जल रहा है और रोटी अपने पकाने वाले को खाती जा रही है। कामिनी जलती है और अगीठी तापती है। बहू सास को जन्म देती है और नगर का पानी कुएँ को जाता है और गोरखनाथ 'उलटी चर्चा' का गान करता है।"[1]

इस प्रकार की शैली का एक युग रहा दीख पडता है क्योकि जैन मुनियो ने भी उसको अपनाया है। आवश्यकता और परपरा, दोनो ने 'उलटी चर्चा' को प्रेरणा दी थी। अपने एक पाहुड दोहा मे जैन मुनि रामसिंह भी ऐसी ही अटपटी बात कहते है—

'उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुण्णु।
बलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासुण पाउण पुण्णु॥"
—पाहुड दोहा (करजा), १६२

अर्थात् जो ऊजड को बसाता है और जो बसे हुए को उजाडता है, हे योगी! उस व्यक्ति की बलिहारी है, उसको न पाप होता है न पुण्य।

यहा यह कहने की आवश्यकता नही है कि सिद्धो और नाथो की वाणी से कबीर की वाणी का अटूट सबध रहा है। इन्ह के गोला-बारूद से कबीर ने इन्ही के गढ पर चढाई की है। इसलिए भाषा और शैली तक म इन्ही का अनुकरण है, इन्ही की छाप है। यद्यपि सिद्धो की भाषा कबीर की भाषा से बहुत भिन्न है फिर भी भाषा की जो प्रवृत्ति है वह कबीर की भाषा मे मिलती है किन्तु गोरखनाथ की भाषा तो कबीर के बहुत निकट की प्रतीत होती है।

---

१ नाथ बोलै अमृतवाणी वरिषैंगी कवली भीजैगा पाणी।
गाडि पडरवा बांधिले षूटा, चलै दमामा बाजिले ऊटा॥
× × × ×
नगरी को पाणी कूई आवै, उलटी चरचा गोरख गावै॥
—गो० बा०, पृष्ठ १४१-४२, पद ४७

कबीर ने अपनी साधना का एक बहुत बड़ा अंश गोरखनाथ की साधना से भी ग्रहण किया है।

इसमें तो कोई सन्देह भी नहीं है कि गोरखनाथ योगी थे। उन की योग-साधना वज्रयानियों की योग-साधना से भिन्न थी। वज्रयानियों ने योग-चर्या को शारीरिक क्रिया-प्रक्रियाओं में आबद्ध कर रखा था, किन्तु नाथ सम्प्रदाय में एक अध्यात्म तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई। इसीलिए हम देखते हैं कि गोरखनाथ की योग साधना में शिव और शक्ति को आदि तत्त्व माना गया है और शिव नाथ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने गये हैं। अतएव यह न भुला देना चाहिए कि गोरखनाथ का उद्देश्य ब्रह्मपदोपलब्धि रहा है चाहे उसमें चमत्कारों की कितनी ही प्रधानता रही हो। "उन्होंने अपने बहुत से आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली या उलटबाँसियों तथा विचित्र रूपकों में दिये हैं जोकि सर्व-सामान्य जनता के हेतु बोधगम्य नहीं हैं और जब तक उस रहस्यात्मक शैली का परिचय प्राप्त न हो तब तक उलटबाँसियों और उन विचित्र रूपकों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता।"[1] इन उलटबाँसियों और रूपकों के अनेक उदाहरण कबीर आदि संतों की वाणी में दृष्टिगोचर होते हैं।

इस विवेचन से कबीर की उलटबाँसियों की परंपरा का ज्ञान तो हो जाता है किन्तु 'उलटबाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक अंधकार में है और न अभी तक यह पता चल सका है कि इस शब्द का प्रचलन कब से हुआ है। गोरखबानी में 'उलटी चरचा' का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'उलटी' शब्द हमारे बहुत काम का है। हो सकता है कि कहीं इसीके आसपास हमारा विवेच्य शब्द 'उलटबाँसी' छिपा हो। कुछ लोगों ने इसे 'विपर्यय' अथवा 'उलटी' मात्र नाम भी दिया है। इन शब्दों से 'उलटबाँसी' के भीतर छिपा हुआ उद्देश्य तो प्रकाशित हो जाता है, किन्तु इसके उत्तरार्द्ध की छाया हाथ नहीं आती। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीर साहित्य की परख' में इस शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने इसे एक स्थान पर 'उलटा' एवं 'अंश' इन दो शब्दों

---

१. दुर्गाशंकर मिश्र—भक्तिकाव्य के मूल स्रोत, पृष्ठ ६१

२. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५१

से मिलकर बना कहा है। यहाँ 'उलटा' शब्द तो सार्थक है, किन्तु 'अ
'बासी' कैसे बना होगा, यह बात कुछ अधिक दूर खिंची हुई लगती है।

श्री चतुर्वेदी जी का एक दूसरा अनुमान और है। वे कहते हैं—"
बाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'बाँस' शब्दों द्वारा नि
मान कर भी किया जा सकता है, जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ
रचना के अनुसार होगा जिसका बाम (पार्श्व भाग अथवा अंग) उलट
विपरीत ढंग का पाया जाये।"[1]

मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक
'उलटवाँ-सी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से संबंधित। पहले
'उलटवाँ' का अर्थ 'उलटी हुई' है और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उल
सी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होनेवाली उक्ति'। उलटबाँसि
उल्टी बातें कही गई हैं, इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। ग
नाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद'[2] आदिक प्रयोग इस अ
भी समर्थन करते हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलट
शब्द से। 'परमपद' या अध्यात्म-लोक में रहने वाले का निवास वास्त
'उलटवास' है। इससे संबंधित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती
आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभ
को व्यक्त करनेवाली वाणी लोक-दृष्टि से उलटी प्रतीत होती है, वास्
वह उलटी नहीं होती। इस शब्द में 'बा' के ऊपर जो सानुनासिकता दि
पड़ती है वह अकारण है।

इस व्युत्पत्ति से हमारी दूसरी समस्या नहीं सुलझ पाई। इस शब्द
प्रयोग कब से होने लगा, हमारे सामने यह एक प्रश्न है। इस शब्द का
कबीर से पहले का नहीं मान सकते। यह शब्द कबीर से पहले का न

१. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५२
२. देखिये, कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४१, पद १६०

सकता क्योकि पहले का होने पर कबीर की वाणी मे कही न कही इसका उपयोग होता अथवा अन्यत्र यह शब्द मिलता। जब इस शब्द का प्रयोग कबीर वाणी म भी नही मिलता तो अवश्य ही इसका जन्म कबीर के बाद मे हुआ है और वह भी किसी ऐसे व्यक्ति की वाणी मे जिसने इसका अभिप्राय समझा हो। बहुत सभव है कि यह शब्द बहुत प्राचीन न हो क्योकि बाद के सतो ने भी इसका प्रयोग नही किया।

जो हो इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर की उलटबासियाँ सिद्धो की परपरा की उलटबाँसिया नही हैं। अधिकाशत उनम औपनिषदिक परपरा की उलटबासिया हैं जिनमे आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यजना है और जिनमे कही-कही प्रेम और दर्शन का भी सम्मिलन हुआ। इस शैली का इतिहास तीन प्रकार की प्रवृत्तिया का परिचय देता है—आनुभूतिक अभिव्यजना की प्रवृत्ति, चमत्कार-प्रवृत्ति एव गोपन प्रवृत्ति।

आनुभूतिक अभिव्यजना की प्रवृत्ति वेदो मे ही चली आ रही है। धीरे-धीरे इसका विकास भी होता रहा है। धर्म की सत्प्रवृत्ति के रूप मे धार्मिक प्रभाव के उत्कर्ष मे इसका बहुत बडा योग रहा है। कबीर-वाणी में इसी प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है —

'एक अचभा देखा रे भाई,
ठाढा सिंघ चरावै गाई॥
पहलै पूत पीछै भई माइ,
चेला के गुरु लागै पाइ॥
जल की मछली तरवर ब्याई,
पकडि बिलाई मुरगै खाई॥
बैलहि डारि गूँनि घरि आई,
कुत्ता कू लैंगई बिलाई॥
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल,
बहुत भाति जड लागे फूल॥
कहै कबीर या पद कौं बूझै,
ताकू तीन्यूं त्रिभुवन सूझै'[1]॥"

१. कबीर ग्रथावली, पद ११

ये उक्तियाँ कबीर की गहरी अनुभूति का परिचय देती हैं। इनको पढ़ने और समझने से ऐसा नहीं लगता कि कबीर कुछ छिपाना चाहते हैं और न ऐसा ही लगता है कि कबीर को अपने ज्ञान का गर्व है। जहाँ गर्व-सा लगता है वहाँ भी वास्तव में गर्व नहीं है। उनकी गहन अनुभूति जब उद्‌गीर्ण होती है तब वह किन्हीं भी शब्दों में निकल पड़ती है और उद्‌गारों की गहनता का प्रभाव भाषा पर ही नहीं श्रोता या पाठक पर भी पड़ता है। निम्नलिखित उदाहरण आनुभूतिक उद्‌गारों की गहनता और उनके प्रभाव को व्यक्त करता है—

> कसे नगरि करौं कुटवारी,
> चंचल पुरिख बिचषन नारी।
> बैल बियाइ गाइ भई बांझ,
> बछरा दूहै तीन्यूं सांझ॥
> मकड़ी धरि माखी छछिहारी,
> मांस पसारि चील्ह रखवारी॥
> मूसा खेवट नाव बिलइया,
> मींडक सोवें सांप पहरइया॥
> नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै,
> कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥[1]"

इस पद को पढ़-सुनकर सिद्ध ढेण्ढेणपा की उक्ति[2] का स्मरण आ जाता है। जिस प्रकार वहाँ गर्वोक्ति या चुनौती थी, उसी प्रकार यहाँ भी दीख पड़ती है किन्तु दोनों पदों की अन्तिम पंक्तियों की ध्यानपूर्वक तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चर्यापद में चुनौती की प्रवृत्ति है जबकि कबीर के पद में सत्य की दुरूहता की ओर संकेत किया गया है।

ऐसी बात नहीं है कि कबीर-वाणी में गर्वोक्ति की गंध नहीं आती, अवश्य आती है और वह भी उलटबांसियों और कूटों में प्रधानता से, किन्तु वे गर्वोक्तियाँ हैं

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ८०
२. देखिए, चर्यापद ३३

नहीं क्योंकि वे गर्व से प्रेरित नहीं हैं। वास्तव में वे प्रेरित हैं सत्य से और उनमें उसी की प्रखरता है, उसीका तेज है। उसीके कारण उनमें गर्व की गंध प्रतीत होती है। जिस प्रकार सत्य में अविनय नहीं होता उसी प्रकार भय भी नहीं होता। विनय और अभय, दोनों ही कबीर-वाणी के भूषण हैं। इसी से उनके अभय में अविनय नहीं है और न उनके विनय में भय है। इसका मुख्य प्रमाण है उनकी उलटवाँसियाँ जिनमें गोपन-प्रवृत्ति का अभाव है।

सिद्धों की उलटवाँसियों में गोपन की प्रवृत्ति होने से भय और आशंका प्रमाणित हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं थी कि सिद्धों की दुर्बलता दूसरों को ही दुर्बलता प्रतीत होती थी क्योंकि वे उनकी साधना के रहस्य को नहीं समझते थे वरन् सिद्ध भी अपनी साधना की दुर्बलताओं को समझते थे। इसीलिए अपने बहुत से रहस्यों का उद्‌घाटन नहीं करना चाहते थे और गोपन को भी इसीलिए प्रोत्साहित किया गया था। गोपन की प्रवृत्ति ही तान्त्रिकों की उलटवाँसियों के मूल में है। तान्त्रिक लोग भी अपनी साधना के प्रत्येक पक्ष को, उसके गुण-दोष को समझते थे। फलत वे नहीं चाहते थे कि वह सर्वबोधगम्य हो। इसीसे उनके सम्प्रदाय में गोपन-शैली का प्रचलन हुआ।

उलटवाँसियों के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति चमत्कार-प्रवृत्ति रही है जिसका प्रारम्भिक स्वरूप 'अद्‌भुत' के संचार के लिए प्रकट हुआ था। उपनिषदों तक में इसी 'अद्‌भुत' की झाँकी दिखाई देती है। बाद में 'अद्‌भुत' चमत्कार में परिणत होने लगा। सिद्ध और तान्त्रिक ही नहीं, जैन और नाथ तक भी चमत्कार-प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। परिणाम यह हुआ कि भाव या प्रभाव के लिए नहीं वरन् भ्रम में डालने के लिए भी उलटवाँसियों-जैसी रचनाएँ प्रयुक्त होने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि नाथों ने गोपन से कहीं दूर उलटबासी को चलाया, जिसमें आध्यात्मिक रहस्य भी निहित था किन्तु उनके कूटों में चमत्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट है। कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार मतों तक की वाणी में हो जाता है और तो और कहीं-कहीं तो कबीर-वाणी तक में इसकी झलक मिल जाती है जिसकी सत्ता कबीर के जैसे सरल और स्पष्ट व्यक्तित्व में एक आश्चर्य की बात है।

कबीर की उलटवाँसियों में कभी-कभी 'बूझै' अथवा 'बूझहु' तथा 'विचारै' जैसे शब्दों के प्रयोगों से उनके सही मूल्यांकन में बाधा हो सकती है

और उनके सबध म अनक मत बनाय जा सकते हैं। मर्म ज्ञान के अभाव मे कोई उनकी भाषा को 'सन्ध्या' या 'सधा' भाषा कह सकता है, कोई उनको कूट सज्ञा द सकता है और कोई पहेली या मुकरी तक कह सकता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी न ठीक ही कहा है कि आभिप्रायिक वचना के समान दीख पडने के कारण वे कभी-कभी विविध पहेलिया के रूप धारण कर लेती हैं।"[1] एक उदाहरण देखिये—

> एक सुहागिन जगत पियारी,
> सगले जीव जत की नारी[2]।"

देखने म ऐसा प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ के पीछे कोई चीज छिपी हुई है जो प्रसग या रूढ अर्थ से ही प्रकाश म आ सकती है। कही-कही ऐसा भी प्रतीत होता है कि कबीर ने पारिभाषिक शब्दा की पैठ लगा कर अपनी उक्तिया को कूट बना दिया है और इस भ्रम से उन्ह 'दृष्टिकूटो' की परपरा मे रख दिया जाता है—

> 'गज नव गज दस गज इक्कीस, पुरी आये कतनाई।
> साठ सूत नव कठ बहत्तर पाटु लगो अधिकाई[3]॥"

क्या वास्तव म य पक्तिया इन पक्तिया की परपरा म निभ सकती हैं?

> "हरिरिपु अनुज बास कोवा (रा) तल वए सरीर हमारा।
> खटपद बटुरयु सुभ्रमरि धनि सोदर सुम्र कर धारा[4]॥"

अथवा सूर के इस कूट क साथ रख सकते हैं?

> 'ऊधो इतनो मोहि सतावत।
> कारी घटा देखि बादर की दामिनि चमकि डरावत।
> हेमसुतापति को रिपु व्यापे दधिसुत रथ न चलावत।
> अनू खडन शब्द सुनत ही चित चकृत उठि धावत॥

---

१ परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५९

२ कबीर ग्रथावली (परिशिष्ट), पृष्ठ २८०, पद ८४

३ कबीर ग्रथावली (परिशिष्ट), पृष्ठ २८१, पद ५९

४ विद्यापति की पदावली पद ३८५

कचनपुर-पति को जो भ्राता ते सब वर्लहि न आवत ।।
शम्भु-सुत को जो वाहन है सुहृद्ध प्रसल सतावत ।
यद्यपि भूषण अंग बनावत सोइ भुजग होइ धावत ।।
सूरदास विरहिन अति व्याकुल खगपति चढि किन आवत'।।"

विद्यापति-पदावली और सूरसागर के अवतरणो को देखकर तथा उन्हे कबीर की उक्त पक्तियो के साथ तोलने पर भेद समझ में आ सकता है। पदावली और सूरसागर के उद्धरणो में भाव के ऊपर बुद्धि का आसन जमा हुआ है किन्तु कबीर की उक्ति में बुद्धि के तल पर भाव की धारा सी बह रही है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नही है कि कबीर की जिन उक्तियो को कूट-परपरा मे रखा जाता है वे वास्तव मे उनमे फिट नही बैठती। यह ठीक है कि उनके शब्दो मे एक पारिभाषिक अर्थ अवश्य निहित है जो 'नव गज, दस गज' आदि से प्रकट होता है किन्तु वह मानसिक व्यायाम कराने के लिए नही है, अनुभूति की समीचीन अभिव्यक्ति के लिए है। अभिव्यक्ति की ओर कबीर का ध्यान रहा है, वह अपेक्षित हो गयी है, बस उसमे कूट का इतना सा लक्षण आ गया है। कबीर की शुद्ध उलटबाँसी का लक्षण इससे भिन्न है। (१) उसके वाच्यार्थ मे विरोध निहित रहता है और उसका परिहार सकेतित अर्थ से होता है। (२) साथ ही उससे किसी अलौकिक तथ्य का प्रकाशन होता है। इस निकष पर 'नव गज' आदि को शुद्ध उलटबाँसी भी नही कहा जा सकता।

वैसे कबीर के समय मे कूटो का भी बहुत प्रचलन था। आठवी शताब्दी से ही मानसिक व्यायामो को प्रोत्साहन मिलने लग गया था और अभिव्यक्ति सरल शैली को छोड कर वक्रता के क्षेत्र मे उतर आयी थी। कूटो की मूल प्रेरणा धर्म की गोपन-प्रवृत्ति से आगे साहित्य तक में पहुँच गयी थी। भागवत मे कूटो का अभाव नही है। सिद्धो की तो पहले ही चर्चा की जा चुकी है। 'चमत्कार' का उल्लेख करते हुए नाथो के सबध से भी कूट शैली की ओर

१. देखिये, सूरसागर, दशमस्कन्ध, अध्याय ४७

संकेत किया जा चुका है। विद्यापति ने ही नहीं, जैन कवियों ने भी कूटों को बहुत प्रोत्साहन दिया। हिन्दी-कवियों ने बाद में तो कूटों या दृष्टकूटों को बुद्धि की परीक्षा का एक माध्यम ही बना लिया जिससे सूर ही नहीं, तुलसी तक अछूते न बच सके। शृंगारी कवियों की वाणी में गोपन की प्रवृत्ति के कारण भी कूटोदय हुआ। कबीर के आस-पास विद्यापति जैसे शृंगारी कवियों की वाणियाँ भी गूंजती थी और नाथों की वाणियाँ भी। कबीर का लक्ष्य न तो कविता करना था और न चमत्कृत करना। कबीर की वाणी में शृंगार भी उद्वेलित हुआ है किन्तु शृंगार के लिए नहीं, वरन् शान्त के लिए जिसमें कई स्थलों पर अद्भुत का पुट भी लगा हुआ है। अतएव जिन स्थलों पर कबीर-वाणी में कूट-लक्षण मिलते हैं वहां भी उनका लक्ष्य 'कूट' नहीं है। कबीर अपनी अनुभूति के लिए अपनी वाणी को दासी बनाने की चेष्टा नहीं करते, वरन् उसके प्रकाशन के निमित्त वह स्वयं दासी बन जाती है। वह 'स्वतंत्र दासी' है इसलिए उस पर कबीर का अंकुश भी नहीं है और न शायद उसपर अंकुश रखने की उन्होंने चेष्टा ही की है। इसी कारण उनकी वाणी को आलोचना के 'सर्वोक्ति', 'स्वछन्द' आदि अनेक प्रहार सहने पड़े हैं।

कूटों और पहेलियों के अतिरिक्त कबीर के समय में 'मुकरियाँ' भी प्रचलित थीं। अमीर खुसरो की मुकरियाँ इसका प्रमाण हैं। कबीर ने कुछ बातें मुकरियों के ढंग की भी कही हैं जिनको न तो हम उलटबाँसी कह सकते हैं, न मुकरी ही। एक उदाहरण देखिये—

> "कुम्रटा एक पंच पनिहारी,
> टूटी लाजु भरै मतिहारी।
> कहु कबीर इक बुद्धि बिचारी,
> नाऊ कुम्रटा ना पनिहारी' ॥"[1]

यह मुकरी तो इसलिए नहीं है कि इसका उद्भव विनोद की भावना में नहीं हुआ। पहेली और मुकरी में प्रतीकोपयोग होते हुए भी वह 'उलटबाँसी' के मर्म को धारण नहीं कर सकती। पहेली और मुकरी में एक बौद्धिक समस्या

---

१. कबीर ग्रंथावली, (परिशिष्ट), पद ११

होती है किन्तु यहाँ एक रहस्य है जो एक कुग्रटा', पच पनिहारी', 'लाज' (रस्मी) ग्रादि प्रतीका के पीछे निहित है।

ग्रतएव प्रतीको के प्रयाग के कारण हम कबीर की उलटबाँसियो को उनकी ग्रन्य सभी प्रकार की कृति से ग्रलग करके देखना होगा। जहाँ साधनात्मक ग्रथवा ग्रध्यात्मविषयक ग्रनुभूति नही है ग्रथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है वहाँ हमें उलटबाँसी की खोज नही करनी चाहिये। जहाँ मूसा हस्ती सों लडै',[1] उलटि मूसै सापणि गिली',[2] ग्रथवा चीटी परवत उपराया ले राख्यो चौडे'[3] ग्रादि उक्तिया है वही उलटबासिया भी हैं क्योकि इनमे साधनात्मक ग्रनुभूति के साथ-साथ ऐसी प्रतीक-पद्धति है जिसम विरोधाभास है।

रचना की दृष्टि से भी कबीर की उलटबासिया कई प्रकार की हैं। एक प्रकार की तो वे उलटबासिया' हैं जो पूरी रहस्यमयी हैं। जैसे—

'है कोई जगत गुर ग्यानी, 'उलटि वेद बूझै।
पार्णी मे प्रगनि जरे, ग्रघरे कौं सूझै॥
एकनि दादुर खाये पच भवगा।
गाइ नाहर खायो काटि काटि ग्रगा॥
बकरी बिघार खायौ, हरनि खायो चीता।
कागलि गर फादियां, बटेरै बाज जीता॥
मूसै मजार खायौ, स्यालि खायौ स्वाना।
ग्रादि कौं ग्रादेस करत, कहै कबीर ग्याना'॥[4]'

---

१ कबीर ग्रथावली, पद १६१
२ कबीर ग्रन्थावली; पद १६१
३ कबीर ग्रन्थावली, पद १६१
४ कबीर ग्रथावली, पद १६०'

इसके विपरीत नीचे के पद को देखिये—

श्रवधू श्रगनि जरै कै काठ।

× × ×

जे बाध्या ते छुट्य मुक्ता, बाधनहारा बांध्या।
बाध्या मुक्ता मुकता बाध्या, तिहि पारब्रह्म हरिलाधा॥

× × ×

अमृत समाना बिष मे जाना, बिष में अमृत चाख्या।
कहै कबीर विचार बिचारी, तिल में मेर समाना।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुर तब भेटाना[1]॥"

इस पद म उलटबासिया की लहरे सी उठती दीख पडती हैं। कुछ बात कहकर माना रहस्यात्मक प्रतीका द्वारा कबीर खुले रहस्य को पाठक या श्रोता के समक्ष रख देते हैं।

इस प्रकार कबीर को उलटबासिया रचना के विचार से दो प्रकार की हैं—पूर्णपद उलटबाँसी और अशपद उलटबाँसी। पूर्ण-पद उलटबाँसी की एक दो पंक्तिया को कबीर दूसरी प्रकार भी प्रयुक्त कर लेते हैं किन्तु ये पक्तियो की धारा को बाधित नही करती। अशपद उलटबाँसियो मे दो शैलियो का मिलन, और कभी कभी तीन-तीन चार चार शैलियो का मिलन तक दिखायी देता है।

विषय की दृष्टि से कबीर की उलटबासियो के पाँच भेद कर सकते हैं—ससार से सबधित आत्मा परमात्मा से सबधित, योग से सबंधित, प्रेम-साधना से सबधित तथा सदेश से सबधित।

इन विषया को लेकर कबीर ने जो प्रतीक-मार्ग ग्रहण किया वही सर्वोत्तम था। पीछे भाषा के सबध मे प्रतीक के क्षेत्र और शक्ति की चर्चा की जा चुकी है और यह भी बताया जा चुका है कि यदि कुशलता से काम लिया जाय तो शब्दो का अपव्यय भी नही होता। इसके अतिरिक्त प्रतीक शब्द अनुभूति के

१ कबीर ग्रथावली, पद १७४

चित्र प्रस्तुत करने मे भी बडे सहायक होते हैं। इसीसे कबीर को सूक्ष्म अनुभूतियो के व्यक्त करने म भी सफलता मिली है। यह दूसरी बात है कि वे दुर्बोध हो गयी हैं। दुर्बोधता का कारण भी प्रतीक ही हैं। सामान्य लोक और जीवन से शब्दो को उठाकर कबीर ने उन्हें अव्यक्त भावो की सेवा मे नियोजित किया है। उनकी सेवा मे कोई दूषण नही है किन्तु सेवक-सेव्य के सबध को समझने की क्षमता तो होनी ही चाहिये। कबीर लोक-जीवन का पूर्ण अनुभव कर चुके थे और यही से उन्होने अपने शब्दो को चुना और उनमे सकेतो के प्राण भरकर अव्यक्त और अलौकिक को लोक-कल्पना के समक्ष प्रस्तुत किया।

वैसे तो कबीर की वाणी का प्रमुख आधार ही प्रतीक हैं किन्तु उलट-बाँसियो के तो वे अनन्याश्रय हैं जिनमें अनेक अलकार झकृत हुए हैं। यो तो अनेक अलकार उलटबासियो को सुशोभित कर रहे हैं किन्तु जो रत्न बनकर उनको प्रभावित कर रहे हैं वे हैं विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असगति और अधिक। कहने की आवश्यकता नही कि ये सब विरोधमूलक अलकार हैं। उलटबाँसी मे किसी न किसी विरोधमूलक अलकार का होना आवश्यक है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. विभावना—

'बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
× × ×
बिनहीं ताला ताल बजावै, बिन मदल षटताला॥
बिना चोलनै बिना कचुकी, बिनहीं सग सग होई।
दास कबीर औसर भल देख्या, जानैगा जन कोई'॥"

२ असभव—

"बैल बियाय गाय भई बाझ,
बछरा दूहे तीनो साझ'॥"

१. कबीर ग्रथावली, पद १५६
२. कबीर ग्रथावली पद ८० १ -

३ असगति—

"आपमि बेलि अकास फल ।
अणव्यावण का दूध' ।।"

४. अधिक—

"जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैगल मलि मलि न्हाय ।
देवल बूड़ा कलस सू, पखि पिसाई जाय' ।।"

५ विषम—

"आकासे मुखि औंधा कूआ, पाताले पनिहारि' ।"

६ विरोध और विशेषोक्ति का सकर—

"ठाढा सिंह चरावै गाई' ।"

कुछ आलोचको का ऐसा विचार है कि उलटबासियो मे अनिवार्य रूप से रूपक-शैली होती है, यह भ्रम है। उलटबासी मे रूपक हो सकता है। किन्तु वह अनिवार्य नही है। उदाहरण के लिए हम नीचे लिखी उलटबाँसी को ले सकते हैं—

"पहले पूत पीछे भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकडि बिलाई मुरगै खाई ।
बैलहि डारि गूनि घरि आई, कुत्ता कू लैगई बिलाई' ।।"

इसम रूपक-शैली का कोई आग्रह नही दीख पडता। यह पहले ही बताया जा चुका है कि उलटबाँसी अनिवार्यत विरोधमूलक एव प्रतीक-प्रधान होती है।

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १२६
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १७-७
३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६-४५
४ कबीर ग्रथावली, पद ११
५. कबीर ग्रथावली, पद ११

जिस प्रकार यह कहा जाता है कि सूरदास का विषय-क्षेत्र सकुचित है उसी प्रकार कुछ आलोचक कबीर के विषय क्षेत्र को भी दार्शनिक एव समाज की आलोचना से सबधित कहकर सकीर्ण कह देते हैं किन्तु जिस प्रकार सूर के उपमानो से दोष का परिहार हो जाता है उसी प्रकार कबीर के उपमानो से भी हो जाता है। मनोलोक और अध्यात्म-लोक की अनुभूतियों को प्रतीको मे भरकर कबीर ने जो करामात दिखाई है उसे देखकर दग रह जाना पडता है। जायसी और तुलसीदास जैसे दिग्गजो ने भी शब्दान्तर से कबीर को अनेक उक्तियो को दुहराया है।

समाज के सबध मे अपनी गहन अनुभूतियो की अभिव्यजना कबीर ने अनेक स्थलो पर की है अथवा यह कह देना अनुचित न होगा कि दर्शन और प्रेम की सूक्ष्मतम अनुभूतियो को कबीर ने सामाजिक पहलू से समझाने की चेष्टा की है। एक उदाहरण देखिये—

> "सुरत ढींकुली लेज ल्यौ मनसा ढोलन हार।
> कँवल कुआ में प्रेम रस पीवै बारवार[1] ॥"

इस साखी मे ढोकुली यत्र का चित्र प्रस्तुत करते हुए 'सुरत', 'लय', 'मन', 'कमल कूप' और प्रेम रस' का सबध भी प्रकट कर दिया है। एक ओर आध्यात्मिक अनुभूति को सामने ला रखा है और दूसरी ओर सामाजिक व्यापार की एक छोटी-सी झाकी प्रस्तुत की है। ऐसी झाकिया कबीर की उलटबाँसियो मे बहुत आई हैं और उनमे अपना रस और अपना मर्म है।

"कैसे नगरि करी कुटवारी आदि" पद को देखकर यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि कबीर की उलटबाँसियो का एक एक प्रतीक अपने मर्म के लिए अनिवार्य है। प्रतीको के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और साधना सबधी अनुभूतियो के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। "इस पद मे कबीर किसी ऐसे नगर की रक्षा अथवा शासन का प्रश्न उठाते हैं जहाँ का पुरुष तो चचल स्वभाव का है, किन्तु उसकी नारी बुद्धिमती है और

---

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १८-२

जहाँ की विचित्रता इस बात मे देखी जाती है कि वहा पर प्रत्येक दिन सियार सिंह के विरुद्ध लडाई छेडा करता है, किन्तु स्वभावत कृतकार्य नही हो पाता।" इसमे नगर, पुरुष और नारी का रहस्य उद्घाटित हो जाने से हम मानव, मन और मनसा (कामना) तक जा पहुँचते है। फिर 'स्याल' को 'जीव' रूप मे और 'स्यध' को काल रूप म प्रकट होने में देर नही लगती। इस प्रकार कबीर अपनी उलटबासियो म कभी-कभी जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर भी दृक्पात करने लगते हैं। जीवन और जगत् के पारखी और अन्तर के अनुभवी सोधी कबीर ने सामान्यत अपनी सभी उक्तियो म बुद्धि और भाव के क्षेत्र का पर्यटन किया है किन्तु उलटबासियो म उनका जो अटूट सामजस्य हुआ है वह हिन्दी साहित्य को एक अपूर्व अनुदान है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उत्तर-कालीन सन्तो के लिए कबीर ने एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर दिया।

उलटबासियो की परपरा आगे भी चलती रही और कबीर की उलट-बासियो के अनुकरण मे अन्य सतो ने भी रचनाएँ की और उन्होने उनका अपनी-अपनी इच्छा से नामकरण किया। सुन्दरदास[1] ने उनको 'विपर्यय' कहा, शिवदयाल ने उन्हे 'उलटी बात' नाम दिया, और तुलसी साहब ने उनको 'उलटी रीति' कहा। बँगला भाषा म भी ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जो विशेषत गोरख-पथ से सबधित है और उसके पद्यो को 'गोरखधधे' की सज्ञा मिली। 'उलटा मत्र' और 'उलटा बाउल' नाम भी बगाल म ऐसी ही कृतियो के लिए प्रयुक्त हुए। उलटी बात कहने की पद्धति लोक-काव्य और लोक-जीवन तक मे अपना घर कर गयी है और 'गधा न कूदा कूदी गौन' जैसी अनेक कहावते प्रयोग में आ रही हैं।

१. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १८१

: १८ :

कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण

आधुनिक प्रगतिवाद से परिचित पाठक कबीर से प्रगतिशीलता का सबध सुनकर चौक सकते हैं किन्तु लेखक कबीर को इस प्रगतिवाद मे कदापि सबधित नही करना चाहता जिसने मार्क्स आदि से प्रेरणा ली है और जो प्रगति के नाम पर अडकर बैठ गया है। प्रगति का तात्पर्य प्रेरणा या गति से सबध रखता है। कबीर के समय में जो स्थिति थी वह किसी प्रेरणा या गति की अपेक्षा रखती थी, अतएव कबीर ने अपने युग को जो प्रेरणा दी उसमे किसी मार्ग पर चलने का सकेत, उपदेश और आग्रह था। इसीसे कबीर की वाणी मे प्रगतिशीलता के लक्षण मिलते हैं।

आज के प्रगतिवाद ने जो वेश भूषा धारण कर रखी है उसको कबीर के समय मे देखना व्यर्थ है। कबीर का युग आज के युग से भिन्न था, उसकी अपनी परिस्थितियाँ थी। फिर भी कबीर की प्रगतिशील वाणी का जो लक्ष्य था वही लक्ष्य आधुनिक प्रगतिवाद के स्वर मे भी निहित है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक प्रगतिवाद ने लक्ष्य के अनुकूल मार्ग या साधन न अपना कर अपने लक्ष्य को भी भुला दिया है और शायद वह साधन को ही लक्ष्य मान कर भ्रान्त हो गया है।

प्रारम्भ मे प्रगतिवाद 'प्रगतिशील' शब्द की स्थापना के साथ जिस रूप मे आविर्भूत हुआ था उस जैसा ही कुछ रूप कबीर की वाणी मे मिल सकता है। आधुनिक प्रगतिवाद कुछ सामाजिक सिद्धान्तो की धारा पर पनप कर पुष्ट हुआ, इसमे तो सदेह करने की कोई बात नही है। अपने मौलिक रूप में इसका लक्ष्य स्वस्थ था, जिसमे समाज के विकलाग के उपचार की भावना थी। पतित को उठाना और प्रगति को गति देना-इसकी साधना का प्रधान लक्ष्य था। समय

उस साधना और लक्ष्य की माँग कर रहा था। इसी की पूर्ति के लिए कुछ युग-मनीषियो ने, कुछ साहित्य-सेवियो ने उन लोगो के उत्साह म अपना योग दिया जो किसी राजनीतिक सिद्धान्त से प्रेरित हुए थे।

कबीर भी ऐसे ही युग म उत्पन्न हुए थ जो अपनी रूढियो मे घुट रहा था और जिसकी स्थापनाओ और मान्यताओ म दभ और अधविश्वास का खोखलापन निहित था। कबीर अन्दर और बाहर का सामजस्य चाहते थे वे नही चाहते थे कि लोग करे कुछ और कहे कुछ। इसीलिए उन्हे कहना पडा—

> 'कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
> चढि मसीति एकै कहै, हरि क्यूं साचा होइ'।।[1]

कोई धर्म झूठ बोलना नही सिखलाता है और जो झूठ बोलना सिखलाता है, वह धर्म नही है। धर्म का आचरण से कोई सबध अवश्य है किन्तु जिससे आचरण का समझौता नही वह कैसा धर्म ! जो प्रार्थना सत्य को झूठ के गर्त में धकेलती है वह कैसी प्रार्थना ! इसीलिए कबीर कहते हैं—

> साचै मारै झूठ पढि, काजी करै अकाज।
> यहु सब झूठी बदिगी, बरिया पच निवाज'।।[2]

उस समय जो सघर्ष समाज म चल रहा था उसकी भयकरता को कबीर भलीभाँति समझ चुके थे और वे उसके कारणो को भी खोज चुके थे। मार्क्स ने तो 'भौतिक अर्थवाद' मे सामाजिक सघर्ष के कारणो की खोज की, किन्तु कबीर ने सघर्ष के कारणो म धर्म-विविधता को प्रमुख ठहराया। इसीलिए उन्होने एक 'प्रगतिमय पथ' का सुझाव दिया—

> "कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई।
> हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई'।।[3]

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४२-६
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४२-५
३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०६-५८

कबीर ने उन आचारों की निन्दा की जिनमें धर्म की कोई प्रकृति निहित नही है और जहाँ प्रदर्शन को ही धर्म मान लिया गया है—

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तुड।
जाणै बूझै कुछ नहीं, यौंहीं आधा रूंड'॥[1]

जिस वर्णाश्रम धर्म ने महात्मा बुद्ध को अहिंसात्मक क्रान्ति की ओर प्रेरित किया था उसी ने कबीर को भी किया, किन्तु कबीर के युग म धर्माधता के साथ धर्म-विविधता बढ कर कराल हो गयी थी। इस्लाम ने भारत मे कबीर के समय में जो स्थिति प्राप्त करली थी, बुद्ध के समय किसी विदेशी धर्म ने वैसी स्थिति प्राप्त नही की थी। इसलिए यहा के प्राचीन धर्मों के लिए उसके साथ समझौता करना एक समस्या थी फिर भी समझौता अनिवार्य था। इसलिए कबीर को हम प्रस्तुत करते हुए कहना पडा—

'इनकै काजी मुला पीर पैकबर, रोजा पछिम निवाजा।
अकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसी गग दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहू ठा राम खुदाई।
जहा मसीति देहुरा नाहीं, तहा काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहू दिस जित तित, पूरि रह्या राम राई'॥'[2]

विविध धर्मों में धार्मिक कट्टरता जितनी कठोर थी उतनी ही भयकर भी थी। उस कठोरता और भयकरता को मिटाने म अवश्य ही तत्कालीन प्रगति निहित थी। उन अधविश्वासो और रुढियो को मिटाने म भी प्रगति निहित थी जो मानव को मानव से मिलने म बाधा डाल रही थी। जितना भयकर हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव था उतना ही भयकर ब्राह्मण और शूद्र का भेद भाव भी था। यह भेद भाव समाज को न केवल दुर्बल बना रहा था वरन् गतिहीन भी कर रहा था। इससे न केवल समाज का एक अग दुर्बल एव निश्चेष्ट हो रहा

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३८-५
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०६ ५८

[illegible] दुर्बल हो रहा था। इसके घातक प्रभाव [illegible] वर्ग ब्राह्मण और लोग में देख रहा था। उन्होंने न केवल [illegible] पटकारा बल्कि हेयता की भावना से पीड़ित शूद्र को भी जगाया और कहा—

> एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
> एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बाम्हन कौन सूदा¹ ॥"

इस प्रकार वर्ण और आश्रम के बाह्याचार या वेश को महत्व देकर उनकी [illegible] उसको कबीर ने आड़े हाथों लिया। इसके अतिरिक्त [illegible] निराकरण के लिए और कोई चारा भी नहीं था। मूंड मुड़ा कर संन्यासी बनने वालों को कबीर ने फटकारा और कहा—

> "केसों कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार।
> मन को काहे न मूंडिए, जामैं बिषै बिकार² ॥"

इतना ही नहीं, नासमझों को कारण भी बताये और केशों की बात को आगे बढ़ाया। उन्होंने कहा कि केशों के मुड़ाने से कोई लाभ नहीं है। केश मुंडाने से कोई मनुष्य संन्यासी नहीं बन सकता क्योंकि संन्यास वेश से संबंधित नहीं है, मन से संबंधित है। जब तक मन को नहीं मूंडा जायेगा, उसे वश में नहीं किया जायगा, तब तक संन्यास साधन नहीं हो सकता। यह समस्त दूषण मन में भरे हैं और इन्हीं को दूर करने के लिए संन्यास लिया जाता है, केश मुड़ाने के लिए नहीं। इसलिए वे केश मुंडाने वालों को समझा कर कहते हैं—

> 'मन मैंवासी मूंडि ले, केसौं मूंडे काइ।
> जे कुछ किया सु मन किया, केसौं कीया नाहिं³ ॥"

इसी प्रकार बहुत से लोग 'मूर्ति-पूजा' को ही धर्म मान बैठे थे। वे नहीं समझते थे कि उनका श्रम व्यर्थ हो रहा था। जड़ की उपासना में कबीर को

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६-५७
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१२
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-१३

मूर्खता के सिवा किसी तत्त्व का दर्शन नही हो रहा था। पत्थर-पूजा अज्ञान-प्रेरित आशाओ की वृद्धि करती है जिनकी सफलता की कोई सभावना दिखायी नही देती। भला उस पत्थर से किसी सहानुभूति की क्या आशा की जा सकती है, जो जन्म भर पूजने पर भी उत्तर नही देता। फिर प्रस्तरपूजक पानी को भी व्यर्थ क्यो खोता है—

"पाहन क्यू का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आधा नर आसामुषी, यौंही खोवै आव[1] ॥"

मन की भ्राति के निवारण से ही शीतलता आती है, शालिग्राम की सेवा से शान्ति नही मिलती। इसमे न तो सहानुभूति है और न कोई शक्ति है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

"सेवें सालिगराम कू, मन की भ्राति न जाइ।
सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधकी लाइ[2] ॥"

इसी समय कबीर के सामने एक और भी प्रश्न था और वह यह कि धर्मविश्वासियो ने ईश्वर की सत्ता केवल मदिर-मस्जिद मे ही मान रखी थी। मैं समझता हूँ कि कबीर को यह मानने मे कोई आपत्ति न होती कि परमात्मा मदिर-मस्जिद मे भी है किन्तु वे यह मानने के लिए कदापि तैयार नही थे कि वह केवल मदिर-मस्जिद में ही है। इसके अतिरिक्त मदिर-मस्जिद का भेद-भाव भी दोनो धर्मों के बीच की खाई को पाटने वाला नही था। यही विचार कर कबीर ने कहा—

"कबीर दुनिया देहुरै, सीस नवावण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ[3] ॥"

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर ही परमात्मा की खोज करने लगे तो बाहरी भेद-भाव मिट जायेगा और मन को एकाग्रता और शान्ति प्राप्त होगी। इसी आशय से उन्होंने काजी को सबोधन करते हुए कहा—

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४४-३
२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४४-६
३ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४४-११

"पढ़ि ले काजी बंग निवाजा।
एक मसीति दसौं दरवाजा॥
मन करि मका कबिला करि देही, बोलनहार जगत गुर येही।
उहा न दोजग भिस्त मुकामा, इहा ही राम इहा रहिमाना[1]॥"

जो लोग अपने आचरणो को नही सँभाल पाते क्या वे मुक्ति प्राप्त कर सकते है? यह प्रश्न किसी भी विचारक के सामने आ सकता है। कबीर ने देखा कि लोग एक ओर तो धर्म की दुहाई देते हैं, पूजा का नाम करते हैं और दूसरी ओर मास-मदिरा का खुल कर प्रयोग करते हैं। इन आचरणो का मन से सबध है। जो लोग भक्ष्याभक्ष खाते हैं वे अवश्य ही इन्द्रिय-लोलुप हैं, इच्छाओं के शिकार हैं और मनोभ्रम से पीडित हैं। निस्सन्देह वे पापी हैं और धर्म की आड में पाप करते हैं। उनको सुना कर वे बोले—

"पापी पूजा बैसि करि, भषै मास मद दोइ।
तिनकी दब्या मुकति नही, कोटि नरक फल होइ[2]॥"

ऐसे लोग न केवल दूसरो को भ्रम मे डालने का प्रयत्न करते है वरन् स्वय भी भ्रम मे पडे हुए हैं। धर्मसमन्वय का ढोंग करके कुछ ऐसे धर्म भी उस समय प्रकट होने लगे थे जो दूसरो को धोखा देकर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए एकत्र होते थे। कबीर ने ऐसे धर्मों की भी खबर ली—

"सकल बरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खाहि।
हरिदासनि की भ्राति करि, केवल जमपुर जाहि[3]॥"

इच्छाओ के दास, वासनाओ से पीडित साधु-नाम-धारियो की वेश-भूषा को देख-देख कर भी कबीर को बडा क्षोभ हुआ। उन्होने देखा कि उनका वेश तो साधुओ का सा था और आचरण असाधुओं के से। वे खा-पीकर मस्त रहते

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०७-२१
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४३-१३
३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४३-१४

थे और चैन की वशी बजाते थे। ऐसे साधुओं की कबीर ने बडी भर्त्सना की—

'स्वाग पहरि सोरहरा भया खाया पीया षूदि।
जिहि सेरी साधू नीकले सो तो मल्ही मूंदि'[1]॥

इतना ही नही कबीर न ऐसे लोगो की अमाधुता और धूर्तता की भी भर्त्सना की। उन्होंने कहा—

कबीर भेष अतीत का करतुति करै अपराध।
बाहरि दीसै साध गति माहं महा असाध[2]॥

वे लोग वेश भूषा से साधु दीख पड़ते थे किंतु मन में कुछ और ही थे। वे मीठा बोलते थे किन्तु थे पक्के धूर्त। इसलिए कबीर ने उनके सबध मे सचेत किया और समझाते हुए कहा कि वे उज्ज्वल वेशधारी एव मधुरभाषी लोग बडे पतित एव कुकर्मी हैं और दूसरो को धोखा देकर कुछ भी अनिष्ट कर सकते हैं। अतएव वे अविश्वसनीय हैं—

'उज्जल देखि न धीजिये बग ज्यू माडै ध्यान।
धोरै बैठि चपेटसी यू ले बूडै ग्यान'[3]॥'
जेता मीठा बोलणा, तेता साध न जाणि।
पहली थाह दिखाइ करि ऊडै देसी आणि[4]॥

इन सब बातो के अतिरिक्त कबीर की प्रगतिशीलता इस बात मे निहित थी कि वे उन लोगो को भी चेतावनी देकर तथा सभाल कर सुमार्ग पर लायें जो धन, धाम और धरा के ऐश्वर्य म मदविह्वल होकर मानव को भूल बैठे थे जो मानव को तुच्छ एव हेय समझते थे। इस पथ को प्रशस्त करने म कबीर को यहा की वैराग्य परपरा से बडी सहायता मिली किन्तु उस युग मे इस पथ

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६ १५
२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६ १
३ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६ २
४, कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४६ ३

को कबीर के पद चिह्नों ने ही विशेष रूप से प्रशस्त किया। नीचे लिखी साखियों से कबीर के दृष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है—

कबीर कहा गरबियौ, ऊंचे देखि अवास।
काल्हि परयूं भ्वै लेटणा, ऊपरि जामै घास[1]॥
कबीर कहा गरबियौ चाम पलेटे हड।
हयवर ऊपरि छत्रसिरि ते भी देबा खड[2]॥
यहु ऐसा संसार है, जैसा सैबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि[3]॥

इस प्रकार कबीर की वाणी चाहे आधुनिक प्रगतिवाद के कटहरे में ठीक न बैठती हो किन्तु वह प्रगतिशीलता के सम्पूर्ण गुणों से जो उस समय अपेक्षित थे विभूषित है। यदि आज का तथाकथित प्रगतिवाद कुछ सिद्धान्तों का पिछलगू बन कर किसी अखाड़े में उतर आया है तो यह उसकी प्रेरणा का दोष नहीं है वरन् उसके मोड़ का—उसके स्वयं का दोष है जिसको अपना कर उसने अपने मौलिक अर्थ को अपने लखनऊ-अधिवेशन की घोषणा को भुला दिया है। कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण साम्य के परिवेश में सुशोभित है किन्तु कबीर नये अर्थ में न तो प्रगतिवादी हैं और न उनके दृष्टिकोण में आधुनिक साम्यवाद का रूप ही दृष्टिगोचर होता है। आज प्रगतिवाद ने साम्यवाद से जो गठबंधन किया है उसमें वह अपने को खो बैठा है। साम्यवाद स्वतः बुरा नहीं है किन्तु साधन और लक्ष्य का समझौता न होने से उसमें बुराइयों का समावेश हो रहा है। इसलिए प्रगतिशील दृष्टिकोण ऐसे साम्यवाद का अवलम्ब लेकर प्रगति की भूमिका पर नहीं ठहर सकता। यही कारण है कि प्रगतिवाद आज फैशन बन कर रूढ़ियों की स्थापना कर रहा है जिसमें समय की पुकार की उपेक्षा है।

प्रगतिवाद का एक गुण यह होना चाहिए कि वह संकीर्णता का परित्याग करके मनुष्य की उदार भावनाओं को प्रोत्साहन दे किन्तु आज के प्रगतिवादी

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २१ १०
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २१ ११
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २१ १३

साहित्य से ऐसे सैकडो उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनसे उनकी सकीर्णता प्रभावित होती है। यो तो प्रगतिवाद प्रारभ से ही साहित्य में साहित्यिक लक्ष्य लेकर अवतरित नही हुआ था किन्तु जिन सिद्धान्तो के आग्रह मे वह साहित्य मे उतरा था वे प्रगति के पथ से हट कर एक क्षेत्र विशेष में बध गये हैं। इसमे सन्देह नही कि जो लोग प्रगतिशीलता की दुहाई समाज और साहित्य, दोनो क्षेत्रो म देते हुए आये थे उनमे से बहुतो को तो उसके बनते हुए रूप को देख कर निराशा ही हुई। इसीसे उन्होने तथाकथित प्रगतिवादियो का साथ छोड दिया क्योकि वे प्रगतिवाद के उद्देश्य के समर्थक थे, उसको किसी अखाडे मे ला खडा करने के समर्थक नही थे। उनका सामाजिक लक्ष्य उदार था और उसके साथ वे साहित्य का उदार समझौता चाहते थे।

यह कहने की आवश्यकता नही कि कबीर की प्रगतिशीलता में मूलत. कोई साहित्यिक लक्ष्य निहित नही था, किन्तु भाषा के सबध म अपना मत देकर उन्होने उसे लोकानुकूल बनाने की जो चेष्टा व्यक्त की है उसमें उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। 'सस्कृत जैसे कूप जल भाषा बहता नीर' कह कर कबीर ने अपने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जिस प्रकार बुद्ध और महावीर ने जन-भाषा को समाहृत किया था उसी प्रकार कबीर ने भी जन भाषा को सम्मानित किया था। जन-भाषा को आदर देने मे कबीर के लक्ष्य की उदारता स्पष्ट है।

यह तो पहले ही सकेत किया जा चुका है कि प्रगतिवाद अपने उदार रूप मे समाज के लिए प्रेरणा लाया है। उसने समाज की विषमता के कारणो का निवारण करके साहित्य के द्वारा समाज को आगे बढाने की चेष्टा व्यक्त की है और सामाजिक सघर्ष के कारणो को द्वन्द्वात्मक अर्थवाद मे देख कर समस्या के हल की ओर भी दृक्पात किया है। इस लक्ष्य की ओर निस्सन्देह मार्क्स की प्रेरणाओ का महत्त्व नही भुलाया जा सकता। लक्ष्य की अच्छाइयां जितनी मोहक है उन्ही के फलस्वरूप प्रगतिवाद ने साहित्य मे इतनी प्रगति भी करली अन्यथा साहित्य मे कोई भी सिद्धान्त कला की उपेक्षा करके पनप नही सकता। तथाकथित प्रगतिवादियो के दुराग्रह से प्रगतिवाद न केवल अपने लक्ष्य मे ही भ्रष्ट हो गया अपितु एक राजनैतिक अखाडेबाजी मे भी सम्मिलित हो गया है। आज प्रगतिवाद जिस क्षेत्र मे आगया है उसमें कबीर के प्रगतिशील

दृष्टिकोण को खींचना व्यर्थ होगा। कबीर किसी सामाजिक अखाड़े के मल्ल नहीं थे। वे एक भक्त थे और वह भी सच्चे अर्थ में।

कबीर ने समाज में विषमता देखकर जो व्याकुलता प्रकट की उसमें करुणा और क्षोभ, दोनों का समावेश है। वे समाज को वर्गों में विभक्त नहीं देखना चाहते थे और रूढियों तथा अन्धमान्यताओं ने तत्कालीन समाज में जो विकलता पैदा करदी थी, वे उसको दूर कर देना चाहते थे। समाज का अगभगीकरण दूर होकर वह स्वस्थ बने, इसी के प्रति कबीर की कामना और चेष्टा थी और यही उनकी प्रगतिशीलता थी। कबीर जैसा कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति सामाजिक कुठाओं में उलझना पसद नहीं कर सकता। रूढियों की सडाँद में दम घुटने से ऐसा व्यक्ति न केवल स्वय निकल भागने का उपक्रम करता है वरन् दूसरों को भी निकाल भगाने की चेष्टा करता है। वे ऐसे साधुओं के बीच में अपने को बड़ा घुटा हुआ अनुभव करते थे स्वामित्व तो चाहते थे किन्तु स्वामी (गुरु) के गुण नहीं रखते थे और जो लोभ, काम, वासना आदि से पीडित थे। के सबध में उन्होंने इतना कहा है जितना शायद कोई दूसरा नहीं था। देखिय—

> 'इही उदर कै कारणें, जग जाँच्यो निस जाम।
> स्वामी-पणौं जु सिरि चढयो, सर्‌या न एको काम'[1]।।"
> "कलि का स्वामीं लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
> दैहि पईसा ब्याज कौं, लेखा करता जाइ'[2]।।"
> 'कलि का स्वामीं लोभिया, पीतलि धरी षटाइ।
> राज दुवारा यौं फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ'[3]।।"
> "स्वामी हूणा सीत का, पैकाकार पचास।
> राम नाम काठें रह्या, करै सिषा की आस'[4]।।"

---

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३१-२
२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३६-७
३ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३६-६
४ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३५-४

इन शब्दो ने उन लोगों के दम्भ और पाखड की कलई खोल दी है जो मन को वश मे करने के स्थान पर उसका और ढील देते हैं, आशा और तृष्णा के त्याग के स्थान पर उनको और बढाते हैं और जो पचासियो सेवकों की सेवा से अपनी विलास-भावना को उत्तेजित करते हैं। कहने के लिए तो उनके कठ मे राम-नाम भी रहता है किन्तु उसके स्वस्थ प्रभाव से वे वचित हैं। उसका प्रभाव तो उन लोगो के अतर पर होता है जो शुद्ध मन रखते है और जो आशा, तृष्णा आदि से मुक्त हैं। उन्होंने अपने समय का एक चित्र-सा खीच दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने उत्तरकाड मे कलियुग के वर्णन म अपने युग का चित्र प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कबीर भी कर चुके थे। कबीर के युग मे सीधे सच्चे मनुष्यों को कोई पूछता भी नही था और आदर होता था ऐसे मनुष्य का जो लोभी, लालची और मसखरा होता था। कबीर अपने युग की इस दुर्बलता को न पचा सके और कड़ुवी वाणी मे बोल उठे—

> "कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
> लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होइ'॥"

इसी प्रकार कबीर को उन लोगो को देख कर भी क्षोभ हुआ जो श्रमर भर पानी में नहा कर मुक्ति की कामना करते थे। कैसे उपहास की बात है कि लोगो ने मुक्ति को इतना सस्ता समझ लिया था कि पानी म नहा कर और राम रटकर ही उसको उडा लेना चाहते थे। कबीर को उनके प्रयत्नो की व्यर्थता पर खीझ पैदा हुई और कहने लगे—

> "तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघै पाणीं न्हाइ।
> रामहि राम जपंतडा काल घसीट्या जाइ'॥"

सच तो यह है कि यथार्थवादी कबीर ने अपने समय की किसी दुर्बलता को अछूता नही छोडा, किन्तु उन दुर्बलताओ म से अधिकाश धर्म के किसी न किसी पहलू से सबध अवश्य रखती थी। हम यह अन्यत्र देख चुके हैं कि वैष्णव

---

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३६-८

२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३७-१८

धर्म के प्रति कबीर की बडी श्रद्धा थी किंतु उपेक्षा वे उसकी दुर्बलता की भी नही कर सके। वे जानते थे कि वैष्णवो की भक्ति साधना मे कुछ विशेषताएँ ह किन्तु यदि छापा-तिलक लगा कर ही कोई वैष्णव बन बैठा है और उसमे विवेक नही है तो दुखो से मुक्ति नही हो सकती। इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए उन्होने वैष्णवो के भी कान खोल दिये—

> 'बैसनों भया तो का भया बूझा नहीं विवेक।
> छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक'[1]॥"

दभ और पाखड साधारण लोगो मे या मूर्खों म ही होता हो, ऐसी बात नही है वरन् बडे बडे पीर और महन्त लोग भी उनसे मुक्त नहीं है। ये लोग यात्रियो से मुख से भी नही बोलते, उनका अहकार इस सीमा पर पहुँच जाता है। कबीर की यथार्थवादी प्रकृति इस तथ्य को भी छिपा नही सकती और वे एक हल्के व्यग्य म कारण की ओर सकेत करते हैं—

> हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
> मीरा मुझ में क्या खता, मुखाँ न बोलै पीर'[2]॥"

एस ही अनेक उद्धरण कबीर की वाणी से दिय जा सकते हैं जिनसे कबीर की यथार्थवादिता और प्रगतिशीलता का सकेत मिल जाता है। चाहे कबीर के दृष्टिकोण म आज का प्रगतिवाद भले ही न मिले किन्तु आधारभूत भावनाएँ एसी ही थी।

यहाँ यह नही भुलाया जा सकता कि प्रगतिवाद की आधारभूमि यथार्थ म निहित हाती है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे जो प्रगतिवाद विकसित हुआ उसका मूल बीज यथार्थवाद म दृष्टिगोचर होता है। यथार्थवाद का सबध देश-काल की रीति-नीति और उनके सबध में कवि या लेखक की प्रतिक्रिया स है। यथार्थवादी साहित्यकार समकालीन जीवन की भूमिका का पर्यटक होता है। वह विषमता के वर्णो का ध्यानपूर्वक सकलन करके और

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४६-१६
२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ८५-६

उनमे अपनी प्रतिक्रियात्मक भावनाओ का पुट देकर जो अवलेह तैयार करता है, साहित्यालोचक उसी को 'यथार्थवाद' की अभिधा प्रदान करता है। जब यथार्थवादी अपनी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति कटुता के धरातल पर करने लगता है तब वह कभी-कभी अति 'उग्र' हो जाता है। इस धरातल पर वह सामाजिक कुत्साओ और विषमताओ की बडी कटु आलोचना करता है—इतनी कटु कि वह निन्दा के क्षेत्र से भी दो कदम आगे बढ कर भर्त्सनाओ मे प्रवेश कर जाता है।

कोई भी कवि अपने युग की आलोचना म प्रवृत्त हो सकता है और उसमे उसकी प्रतिक्रिया भी समाहित हो सकती है। तुलसीदास के 'कलियुग-वर्णन' मे समय की झाँकी और उनकी अपनी प्रतिक्रिया, दोनो का पुट है। वह समय की झाँकी भी अच्छे-बुरे, दोनो पक्षो को लेकर नही की गयी, वरन् कवि की दृष्टि दोष-दर्शन पर ही रही है अतएव उस स्थान पर तुलसीदास का दृष्टिकोण यथार्थवादी है, किन्तु उसमे भी उनका लक्ष्य आदर्श पर निहित अवश्य रहा है जिसका अनुमान पूर्ण ग्रन्थ से ही हो सकता है, केवल 'कलियुग-वर्णन' से नही।

इस दृष्टि से कबीर तो कुछ और भी बढे-चढे यथार्थवादी हैं। उन्होने देश-काल की दुर्बलताओ को समाज मे ताडव नृत्य करते देख कर न केवल करुणा व्यक्त की है, वरन् क्षोभ भी व्यक्त किया है और समाज की उन दुर्बलताओं को उन्होने बडी हेय दृष्टि से देखा है। उनकी वे कटु निन्दा और कही-कही तीव्र भर्त्सना भी करते हैं। जहा वे निन्दा से भर्त्सना पर उतर आते है वही वे अति उग्र हो जाते हैं। इसमे सदेह नही कि उस भर्त्सना के पीछे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण भी छिपा हुआ है। फिर भी वे कटु आलोचक हैं, अति उग्र हैं, इस तथ्य से आँखें नही मोडी जा सकती।

यथार्थवादी जब समाज के दुर्बल पक्ष को सामने लाकर रूढि-खडन और प्रगति की रेखाओ से चित्र प्रस्तुत करता है उनमे किसी पथ का सकेत भी मिल सकता है जिसका लक्ष्य सामाजिक प्रगति होता है। ऐसे ही चित्रो मे प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है। जब लेखक या कवि का दृष्टिकोण किसी आदर्श

की ओर प्रेरित होता है तो वहाँ आदर्शोन्मुख यथार्थ की सीमाएँ निर्मित हो जाती हैं। इन सीमाओं के निर्धारण में किसी मान्यता का योग रहता है।

प्राय ऐसा माना जाता है कि आदर्श की स्थापना में साहित्य अतीत से प्रेरणा लेता है किन्तु वह नये मापदण्ड भी प्रस्तुत कर सकता है। प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में जिस आदर्श को प्रतिष्ठित किया है उसको उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास से लिया है किन्तु 'श्रद्धा' में नारी का जो रूप प्रकट हुआ है यह आदर्शवाद और प्रगतिवाद का एक समझौता दीखता है।

कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण में यथार्थवादी कटुता तो है हाँ, किन्तु कहीं-कहीं आदर्शवादी प्रस्ताव भी हैं। यह ठीक है कि कबीर किसी ऐसी मान्यता के पक्ष में नहीं हैं जिसके सबध में कोई दो मत हो। कबीर के आदर्श की रेखाएँ यद्यपि उनकी अपनी बनायी हुई ही अधिक हैं और वे इस दृष्टि से कि 'विविध' को विधिवत् 'एक' करने में उनका अपना प्रयत्न है। उन्होंने अनेक धर्मों में से सार लेकर जो पथ तैयार किया है वही कबीर-पथ है और उसी में हम उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण आदर्श के साथ मिल-बैठा दीख पड़ता है। वे आचरण के सबध में भी कुछ सीमाएँ नियत करते हैं जो अवश्य ही आदर्श की सीमाएँ हैं और वे किसी भक्त या सन्त के आचरण की ओर इंगित करती हैं। जयदेव, नामदेव आदि भक्त कबीर के आदर्श हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी वाणी में उन्हीं का प्रकाशन करते हैं।

यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि जहाँ यथार्थवादी की भाँति कबीर ने समाज की दुर्बलताओं का भड़ा फोड़ा है वहाँ प्रगतिवादी की भाँति समस्या के नये हल की ओर भी सकेत किया है और वह हल धर्म की परिधियों से अलग नहीं होता। फिर भी कबीर का धर्म किसी भी साम्प्रदायिक सकीर्णता से दूर रहने की सदैव चेष्टा करता है। वह मानवमात्र का धर्म बनाने का अधिकारी है क्योंकि उसमें सार-सग्रह है। उसमें उन मान्यताओं को कोई स्थान नहीं दिया गया जिनका 'अतिवाद' के नाम से हेय समझा जाता है। 'अतिवाद' का विसर्जन ही तो कबीर के पथ को 'मध्य मार्ग' कहलाने की योग्यता प्रदान करता है।

यहाँ भी कबीर का प्रगतिपरक दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनकी प्रगतिशीलता की सबसे बडी सफलता इस बात मे है कि उन्होने ईश्वर की जो कल्पना की है वह किसी भी धर्म मे सम्मान पाने के योग्य है। यह बात दूसरी है कि ग्राज का प्रगतिवाद, जिसने साम्यवाद की नयी परिमितियो मे धर्म की ही उपेक्षा नही करदी, अपितु ईश्वरवाद को ही अपदस्थ कर दिया है, उसको स्वीकार न करे।

कबीर ने सब धर्मों को एक धरातल पर लाने के लिए ही नही वरन् एक बनाने के लिए जो प्रयत्न किये उन सबका सबध ईश्वर से है। इसी प्रकार मानवमात्र मे एकता लाने के उपक्रम म भी उन्होने ईश्वर को ही प्रतिष्ठित किया है।

अतएव सामाजिक समता एव एकता के समग्र प्रयत्नो के परिवेश मे ईश्वर की एकता का अनन्य योग है और इस भावतल पर भी कबीर की प्रगतिशीलता आदर्शवाद का पल्ला पकडती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य के आचरण का अतिम माप-दण्ड समाज नही, ईश्वर बन जाता है। उस ईश्वर मे कबीर न केवल मनुष्य का पितृत्व देखते हैं अपितु अन्य प्राणियो का पितृत्व भी देखते हैं। अतएव कबीर-वाणी मे मानव-व्यवहार एव आचरण का क्षेत्र मनुष्य समाज ही नही अपितु निखिल चेतन विश्व है, यद्यपि कबीर लता, वृक्षादि के प्रति भी कोमल भावनाओ की अभिव्यजना करते हैं। इस दृष्टि से कबीर की सहानुभूति मानव-समाज से आगे बढ कर समग्र प्राणि-लोक को अपना लेती है जबकि आधुनिक तथा कथित प्रगतिवादी मनुष्यमात्र को भी नही अपना सकता। आज का प्रगतिवादी सामाजिक अभेद-भाव की केवल घोषणा करता है और वह भी भेद दृष्टि मे किन्तु कबीर व्यापक अभेद की सिद्धि अभेद-दृष्टि से करते हैं। प्रगतिवाद वर्गवाद के उच्छेदन का बीडा उठा कर भी वर्गवादी है किन्तु कबीर की प्रगतिशीलता मे वर्गवाद के लिए कोई अवकाश नही हैं। कबीर की प्रगतिशीलता मे मानवतावाद की मूल प्रेरणा है और उनका मानवतावाद ईश्वरवाद पर आधारित है। आज प्रगतिवाद मानवतावाद को प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहा है। इसका कारण है उसका अनीश्वरवाद की ओर झुकाव। मानवतावाद की प्रतिष्ठा अभेद-दृष्टि के बिना नही हो सकती और भेद-दृष्टि उस समय तक नही मिट सकती जबतक कि उस पर किसी एकता का आरोप न हो।

आधुनिक विज्ञान स्पुतनिक और राकेट के आविष्कार से किसी भी चमत्कार को रूप दे सकता है किन्तु वह दृश्यलोक के भेद को अभी तक तो नहीं मिटा पाया है और उसकी गतिविधि से ऐसा कोई संकेत भी नहीं मिल रहा कि वह मानव को एक सूत्र म बाध सकेगा। एकता का भाव लाने के लिए जिस प्रेरणा की आवश्यकता है उसका मार्क्सवाद और आधुनिक प्रगतिवाद, दोनों म अभाव है और जबतक वह प्रेरणा नहीं है तब तक कोई 'वाद' प्रगति के लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। भौतिक प्रगति चमत्कार की किसी सीमा तक पहुँच सकती है। किन्तु वह मानववाद की प्रतिष्ठा नहीं कर सकती। क्या विश्वराज्य से मानववाद सुरक्षित हो जायेगा, ऐसी सभावना के लिए कोई आधार नहीं दिखायी पड़ता। मानववाद की पुष्टि और रक्षा एकत्ववाद म ही सभव है और मानववाद के बिना कोई वाद सदर्भ मे प्रगतिवाद नहीं कहला सकता। यदि यह भी मान लिया जाये कि एकत्ववाद भावना की सृष्टि है तो भी उसकी अच्छाई को भुलाया नहीं जा सकता।

कबीर का ईश्वरवाद जिस अद्वैतवाद पर टिका हुआ है उसने एकेश्वरवाद को भी आत्मसात् कर लिया है। अतएव कबीर का ईश्वरवाद, भावना के माध्यम से ही सही, मानवमात्र को अपने मे सबधित करके एकत्व की प्रतिष्ठा करता है। वही ईश्वरवाद ज्ञान के क्षेत्र म भी सकल सृष्टि का विलय केन्द्र बन कर एकता का मूलाधार बन जाता है। यह ईश्वरवाद कोई नई उद्भावना नहीं है किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण म और सामाजिक सबध से उसके उपयोग मे नवीनता अवश्य है। उपयोग ही नहीं, प्रभाव भी तत्कालीन परिस्थितियों म प्रगतिमूलक रहा, यह कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण की बहुत बड़ी विशेषता है।

अन्त मे यह कह देना भी अयुक्त न होगा कि मनुष्य केवल बुद्धि-लोक मे जीवित नहीं रह सकता, वह प्राय भाव-लोक का निवासी है। करुणा, कोप, लोभ, मोह, क्षमा, स्नेह, भय आदि भावो से उसका अटूट सबध है। कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण का सबध बुद्धि और भावना, दोनों के समन्वय से है। आज का विज्ञान चाहे लाख प्रयत्न करे वह मनुष्य से उसकी भाव-सम्पत्ति का अपहरण नहीं कर सकता। चाहे वह हीरोशीमा को क्षण भर म ध्वस्त करदे और चाहे चन्द्रलोक का राज्य प्राप्त करले, किन्तु हंसना-रोना उसको नहीं छोड

सकता। प्रेम के लिए कम समय मिलने पर भी वह प्रेम को भुला नही सकता और प्राणो पर बीतने पर वह निर्भय भी नही रह सकता। इससे स्पष्ट है कि केवल बुद्धि-पक्ष मनुष्य की पूर्णता को सिद्ध नही कर सकता। दोनो ही पक्षो से पूर्ण मानव की सिद्धि होती है। कबीर ने इन दोनो पक्षो को ही अपना कर मानव-जीवन की कल्पना की है। इसमे सन्देह नही कि वे ज्ञान-ज्योति को महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु इसमे भी सन्देह नही कि वे भाव-स्नेह को भी समुचित गौरव प्रदान करते हैं। वे मनुष्य का कल्याण ज्ञान और प्रेम के वियोग मे नही, वरन् सयोग मानते हैं। यह मान्यता भले ही प्राचीन ही हो किन्तु समाज के साथ जिस प्रकार उन्होने इसको सयुक्त किया है उसी मे उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता का महत्त्व भरा है।



: १६ :

कबीर का रहस्यवाद

'रहस्यवाद' शब्द अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी । मिस्ट शब्द का प्रयोग उस धार्मिक अभिप्राय के लिए होता है जो सामान्य पाठक ी दृष्टि में नहीं आता। यह अर्थ उन्हीं लोगों को बोधगम्य होता है जिनको प्राध्यात्मिक अन्तर्ज्योति प्राप्त है। सबसे पहले बँगला ने मिस्टिसिज्म शब्द के अर्थ को अनुवाद-रूप मे ग्रहण किया। बहुत दिनों तक वह अर्थ अपने मूल रूप म प्रचलित रहा। बाद मे जब हिन्दी ने भी इसे अपनाया तो दो नामों के अन्तर्गत—एक रहस्यवाद और दूसरा छायावाद। हिन्दी में छायावाद को भिन्न अर्थ दे दिया गया जो किसी अश म 'रोमांटिसिज्म' के अर्थ को धारण करता है। इस प्रकार हिन्दी मे ये दो शब्द दो काव्य-धाराओं के लिए प्रचलित हो गये।

आलोचना के क्षेत्र में कुछ दिन तक तो इन दोनों शब्दों की बड़ी छीछा-लेदर हुई। इनके भिन्न-भिन्न अर्थ देने के लिए अनेक दिशाओं में आलोचकों की दिमागी कसरतें हुईं और अनर्थ की सीमा यहाँ तक पहुँची कि अस्पष्ट अर्थवाली कविता ही रहस्यवादी कविता कह डाली गयी। इस सबध में और कुछ न कह कर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यह आलोचना का 'अतिवाद' था। धीरे-धीरे रहस्यवाद की प्रकृति को समझा गया और पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अपने-अपने मत देकर विचार-परम्परा को प्रोत्साहित करने के साथ दृढ भी किया। रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ सामने आयी और अपने-अपने ढंग से वे सभी ठीक-सी लगती हैं, फिर भी उनमें पूर्णता का अभाव है और किसी भी परिभाषा में पूर्णता की आशा करना तो सभव है किन्तु पूर्णता की खोज करना व्यर्थ है अन्यथा 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' का कोई अभिप्राय ही नहीं रहता।

मे ले जा सकती है और यह आवश्यकता हमारी आस्तिकता को और भी दृढ करती है। इस भव तृषा को नष्ट करने के लिए 'राम-रस' की आवश्यकता को कबीर इस प्रकार पुष्ट करते हैं—

"राम उदक जिह जन पिया तिहु बहुरि न भई पियास'।"

कबीर की यह आस्तिकता उनके प्रेम के लिए भूमि प्रस्तुत करती है। जिस पाठक ने उनकी वाणी मे केवल उनके क्षुब्ध स्वरूप को ही देखा है वह उनके मुग्ध स्वरूप की कल्पना कदापि नही कर सकता। जिन्होने कबीर को पूर्ण रूप मे नही देखा वे ही उनको अन्तर मे राम को खोजता हुआ देखते हैं और इस सदर्भ का भुला देते है कि वे ऐसा कब करते हैं और न वे लोग उनके 'लाल की लाली' को सवत्र छाया हुआ ही देखते हैं। यह ठीक है कि कबीर की वाणी मे सर्वत्र एक भावुक का स्वर सुनायी नही पड़ता किन्तु, भावुकता उनम है ही नही, यह कहना कबीर के साथ अन्याय होगा। कबीर की वाणी म रुखापन भी है और सरसता भी, क्षोभ भी है और मस्ती भी, विरक्ति भी है और प्रेम भी। सामाजिक कुत्साओ और कुंठाओ के प्रति उनकी वाणी मे तिक्तता मिलती है किन्तु ममता दया प्रेम आदि की खोज उसकी पृष्ठभूमि म की जा सकती है। मनोविज्ञानियो का कहना है कि सच्चे और स्पष्टवादी व्यक्ति की वाणी मे तीखे-पन का होना कोई अनहोनी बात नही है किन्तु उसके पीछे सरस भूमि अवश्य होती है और तीखापन वही से प्रेरणा लेता है। मानव-कल्याण से ओत प्रोत कबीर का हृदय मानव प्रेम से भरमित था, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। कबीर के इस प्रेम की चरम परिणति विश्व-प्रेम में होती है। इसी कारण कबीर का राम व्यष्टि मे भी है और समग्र अभिव्यक्ति मे भी है—

'दिल ही खोजि दिलै दिल भींतरि, इहा राम रहिमाना।
जेती औरति मरदा कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा'॥"

एक अन्य पद में कबीर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा करके उसको आनदमूल कहा है और इस प्रकार अपने आकर्षण को व्यक्त किया है—

---

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २७३-२६
२. कबीर ग्रथावली, पद २५९

"आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले।
आनदमूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन न जाई ले॥
हरि मैं तन है तन मैं हरि है, × × × ×[१] ।"

'हरि मैं तन है तन मैं हरि है' कहकर कबीर ने मानो गीताकार की वाणी[२] को ही दुहराया है।

कहने की आवश्यकता नही कि कबीर की आस्तिकता ने प्रेम को मनोहर भूमि प्रदान की है। उसी प्रेम पर कबीर की रहस्य-साधना का भव्य भवन बना है जिसका योगपरक रूप भी प्रेमविहीन नही है। बहुत ही कम ऐसे स्थल हैं जहाँ कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद प्रेम को प्रश्रय नहीं देता। कबीर ने अपने ही शब्दो मे अपने योग का सारा भेद खोल दिया है—

"सब जोगतण राम नाम है, जिसका पिंड पराना।
कहु कबीर जे किरपा धारै, देइ सचा नीसाना[३]॥"

कबीर योगी किसको कहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं; किन्तु उनकी योग-साधना म परमात्मा की सत्ता का प्रमुख स्थान है। जिस योगी की प्रशसा गीता[४] में की गयी है ऐसे ही योगी की सराहना कबीर करते हैं। कबीर की दृष्टि मे योग की सारी चर्या का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है और उसी से योगी का उद्धार होता है —

"पवन पति उनमनि रहनु खरा। नहीं मिरतु न जनमु जरा।
उलटी ले सकति सहार। पैसी ले गगन मझार॥"
× × ×
"जब कुंभकु भरिपुरि लीना। तब बाजे अनहद बीना।

---

१ कबीर ग्रथावली पद २६३
२ यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥—गीता, पृष्ठ ६-३०
३, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८-१४६
४. देखिये, गीता, पृष्ठ ६-२९

बरतै बकि सबद सुनाया। सुनतै सुनि माल बसाया॥
धरि करता उतरसि पार। कहै कबीरा सार[1] ॥"

यह ठीक है कि कबीर ब्रह्म-द्रष्टा थे, किन्तु उन्होने ब्रह्म को रसरूप में ही देखा था। वह ज्योतिर्मय है किन्तु मोहक भी, वह निर्गुण है, किन्तु अनुग्रही भी। उनका राम अवतार नही है, रूप-रूप से युक्त नही है, फिर भी प्रिय है। वह भक्त-वत्सल और भक्ति-वश्य है। इसलिए उन्होंने कहा—'जो लोग तर्क से तत्त्व की द्वैतता सिद्ध करना चाहते हैं उनकी बुद्धि मोटी है।'[2] यहाँ यह भ्रम न हो जाना चाहिये कि कबीर की साधना मे बुद्धि को कोई स्थान नही है। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर प्रौढ बुद्धिवादी थे किन्तु लोक क्षेत्र मे, समाज, धर्म आदि के सबध म, अपने प्रिय से मिलने म नही। वे तो अपने प्रिय (राम) को प्रेम-वश्य मानते हैं और वह प्रेम मे ही जाना[3] जा सकता है। उस प्रिय के लिए वे बडे तडपते हैं। 'कब देखूं मेरे राम सनेही, जा बिनु दुख पावै मेरी देही'—कह कर कबीर ने न केवल अपनी विरह-व्याकुलता का ही परिचय दिया है, प्रत्युत राम की स्नेहशीलता की ओर भी सकेत किया है।

कबीर को यह विश्वास था कि राम के बिना वे असहाय थे और यह जानकर उनका साहस उद्बुद्ध होता था कि वह प्रेम-वश्य है। इसीलिए उन्होने हरि-प्रेम को इतना महत्त्व दिया है—

"कबीरा प्रेम की कूल ढरै।
हमारै राम बिना न सरै[4] ॥"

इससे स्पष्ट है कि कबीर राम-प्रेम की ओर इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि राम प्रेम से वश मे हो सकता है—वह राम जिसके बिना कबीर का निर्वाह कदापि नही हो सकता। उस रस को पीकर उनको जो उपलब्धि हुई है उसे वे

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८-१४५

२ कहत कबीर तरक दुइ साधै, तिनकी मति हैं मोटी।

—कबीर ग्रन्थावली

३ तुलना कीजिये, गीता पृष्ठ ११-५४

४. कबीर ग्रन्थावली, पद ९१६

अन्य मनुष्यों को भी कराना चाहते हैं किन्तु खेद कि वे लोग प्रयत्नशील नहीं हैं—

> 'दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊं ।
> बिधना बचन पिछाणत नाहीं, कहु क्या काढि दिखाऊं'[1] ॥"

प्रेम या भावना कबीर की आध्यात्मिक साधना का दूसरा महत्वपूर्ण गुण है। गीता में तो भगवत्प्राप्ति का मूलमन्त्र ही प्रेम है किन्तु उपनिषदों[2] ने भी प्रेम के महत्व का प्रतिपादन किया है। गीता ने भगवत्प्राप्ति के प्रमुख साधनों में भक्ति का अवश्य समाविष्ट किया है और अन्य सब साधन भी प्रेमगर्भित हैं। कृष्ण की इस उक्ति से यह स्पष्ट है—

> "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गवर्जित ।
> निर्वैर सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव'[3] ॥"

कबीर का भी यह विश्वास हो गया था कि उनका राम प्रेम या भाव से ही प्राप्तव्य है। इसी कारण उनकी वाणी में स्थान स्थान पर भा या प्रेम की गरिमा का गान हुआ है। 'चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ'[4], कह कर कबीर ने भाव या प्रेम के गौरव को अभिव्यक्त कर दिया है। राम के प्रति कबीर का प्रेम-भाव ही उन्हे यह कहने के लिए प्रेरित करता है—

> 'पुर पाटण सुवस बसै, आनद ठायें ठाइ।
> राम सनेही बाहिरा, ऊजंड मेरे भाइ'[5] ॥"

इसीलिए कबीर की दृष्टि में उस रानी का कोई मूल्य नहीं जो लौकिक भोग-विलास में सल्लीन है किन्तु वे उस पनिहारी की सराहना करते हैं जो राम-भक्त है—

---

१ कबीर ग्रन्थावली पद १६६
२ देखिये, कठोपनिषद् पृष्ठ १-२-२३
३. गीता ११ ५५
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८ ४
५. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५२-२

> "क्यूं नृप नारी नींदये, क्यू पनिहारी कौं मान।
> वा माग सवारें पीव कौं, वा नित उठि सुमिरें राम'॥"

जिसको वास्तव में हम भक्त कह सकते हैं। वह अनन्य प्रेम के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता है। नारद ने 'सा तु परमप्रेमरूपा' कह कर इसी 'अनन्यता' को प्रतिष्ठित किया है और महात्मा तुलसीदास के शब्दों में भी अनन्य प्रेम की याचना की गयी है। वे कहते हैं—

> "कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"

कामी और लोभी का आकर्षण अटूट होता है। इसी अटूट प्रेम की याचना तुलसीदास के शब्दों में प्रकट हुई है। कबीर भी इसी प्रकार के अटूट प्रेम को पसन्द करते थे। इसीलिए नारी के प्रति कामी के सम्बन्ध की गहनता को वे राम के प्रति अपने सम्बन्ध में प्रतिष्ठित करने की बात पर जोर देते हुए कहते हैं—

> "काम मिलावै राम सूं, जो कोई जानै राखि।
> कबीरा बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साखि'॥"

यह माना जा सकता है कि कबीर दाम्पत्य-प्रेम पर विशेष जोर देते हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे इस प्रेम की स्थिति प्रत्येक मानव हृदय में स्वीकार करते हैं। राम-प्रेम के लिए सात्त्विक हृदय की आवश्यकता है और यह सात्त्विक शुद्धता केवल प्रयत्नाश्रित नहीं है अपितु प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का योग भी होता है। इसी विश्वास को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं—

> "कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख।
> देखो भाग कबीर का, दोसत किया अलेख'॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३-६
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५१-११
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३

कबीर की साधना में कर्म का एक विशेष स्थान दीख पड़ता है। अण्डरहिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिस्टिसिज्म' में 'रहस्य-साधना' के अन्तर्गत कर्म का विशेष विवेचन किया है। सभी रहस्य-साधक कर्म को महत्त्व देते हैं, किन्तु 'फलासक्ति' का निषेध करते हुए ही, क्योंकि कर्म में फलासक्ति आते ही वह दुःख-सुख का कारण बन जाता है जो भगवत्प्रेम की अनन्यता को बाधित करता है। इसीलिए कर्म पर जोर देते हुए भी कबीर की अनासक्ति स्पष्ट है—

> "ना कुछ किया न करि सक्या, ना करणें जोग सरीर।
> जे कुछ किया सु हरि किया, तायें भया कबीर कबीर[1] ।।"

इससे कबीर का दुहरा भाव स्पष्ट होता है—एक तो अनासक्ति भाव, और दूसरा ईश्वर की शक्ति, जिसमें उसकी कृपा का भी समावेश है। ईश्वर की शक्ति की अभिव्यक्ति कबीर-वाणी में एक अन्य स्थान पर और देखिये—

> "साईं सूं सब होत है, बंदे थें कुछ नांहि।
> राई थें परबत करै, परबत राई मांहि[2] ।।"

कर्मों में अपनी शक्ति होते हुए भी भगवदिच्छा के सामने वे घुटने टिका देते हैं। इसीलिए अनासक्ति-भाव की आवश्यकता प्रकट की गयी है। जिस प्रेमोदय की चर्चा की जा रही है, उसमें भगवत्कृपा का अमोघ महत्त्व है। फिर भी प्रिय के मार्ग का जानना आवश्यक है और उससे भी पहले प्रेम की ज्वाला का जला देना भी जरूरी है। इस काम को गुरु ही सम्पन्न करता है। यह तो सभी जानते हैं कि रहस्य साधना में गुरु का विशेष स्थान है, किन्तु भारतीय भक्ति-पद्धति में तो और भी ऊँचा स्थान है। सन्त-मत ने गुरु को विशेष रूप से पुरस्कृत किया है। कबीर इस जीवन में प्रेम को एक अनिवार्य क्रीडा मानते हैं क्योंकि इसके बिना उद्धार नहीं है और प्रेम की बाजी में सफल होना सरल काम नहीं है। केवल वे ही लोग सफल होते हैं जो गुरु के बताये हुए दाव को

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६१-१

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-१२

अच्छी तरह समझ कर चाल चलते हैं। यह दाव वह माग है जिसे भुलाकर रहस्य साधक बाजी नही जीत सकता। इसीलिए कबीर बडी मुस्तैदी से कहते है—

> पासा पकड्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
> सतगुरु दाव बताइया, खेलै दास कबीर[1]॥

प्रेम-सृजन प्रिय सन्देश तथा प्रेम मार्ग दर्शन—ये तीन प्रमुख कार्य कबीर ने गुरु से सम्बन्धित किये हैं। शिष्य में प्रेम को अकुरित करनेवाला गुरु ही है। अनन्त का साक्षात्कार करनेवाले अनन्त लोचन को गुरु ही खोलता है—

> 'सतगुर की महिमा अनत अनत किया उपगार।
> लोचन अनत उघाडिया अनत दिखावणहार'[2]॥

प्रेम का अक पढा कर गुरु अपने शिष्य को तैयार कर देता है। प्रियतम के सदेश को जानने के लिए आतुरता का उदय हो जाता है और फिर यह दशा हो जाती है—

> विरहनि ऊभी पथसिरि पथी बूझै धाइ।
> एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ[3]॥'

इसी अवसर पर गुरु प्रियतम का सदेश-वाहक बन जाता है और परिणाम में प्रमोदवृद्धि होती है विरहाग्नि प्रबल होती चली जाती है तब स्पष्ट शब्दो मे इस सदेश को भेजने लिए विवश होना पडता है—

> अदेसडा न भाजिसी, सदेसो कहियां।
> कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां[4]॥'

---

१. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४ ३२
२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २ ३
३ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ८ ५
४. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ८ ६

जब मिलन की ये दोनों युक्तियाँ असफल दीख पड़ती हैं तब एक निराशा की वाणी फूट पड़ती है—

> 'आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझ बुलाइ।
> जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ'[1]॥"

'कामना' और 'मिलन' की एकता की कुंजी गुरु के पास है। गुरु ही तो शिष्य को अलौकिक सौन्दर्य की भावना से भर देता है और वही उसकी झाँकी दिखाता है और देखकर वह कहता है—

> "कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
> तेज पुंज पारस धणी, नैंनू रह्या समाइ'[2]॥'

उसके प्रभाव का कबीर इन शब्दों में वर्णन करते हैं—

> 'हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
> निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप'[3]॥"

इस स्थिति में गुरु के आभार को स्वीकार करते हुए कबीर कहते हैं—

> 'थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
> अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ'[4]॥"

राम के सम्बन्ध में जो संदेश शिष्य को गुरु से प्राप्त होता है उससे एक ही साथ दो काम होते हैं—एक तो मल का निवारण होकर अन्तर ज्योतिर्मय होता है और दूसरे विरह-व्यग्रता तीव्र होती है। कबीर इन दोनों को महत्व प्रदान करते हैं। संदेश का मूल्यांकन करते हुए वे कहते हैं—

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८-१०।
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३८
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३०
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२६

"जानी जानी रे राजा राम की कहानी।
अन्तर ज्योति राम परकासा, गुरमुख बिरलै जानी[1]॥"

और विरह की प्रशंसा मे वे कहते हैं—

"बिरहा कहै कबीर सो, तूं जिनि छाड़ै मोहि।
पार ब्रह्म के तेज में, तहा लै राखौं तोहि[2]॥"

कबीर की रहस्य-साधना का चौथा तत्त्व 'मार्ग' है और कबीर ने इस को 'सहज मार्ग' कहा है। कबीर का 'सहज मार्ग' उस साधना का विरोध करता है जिसमे अनेक अप्राकृतिक उपायों से इंद्रियों का दमन करने की चेष्टा की जाती है। कबीर की साधना 'दमन' को स्वीकार नही करती, 'शमन' चाहती है। इसीलिए वे कहते हैं—

"सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
पाञ्च राखै परसती, सहज कहीजै सोइ[3]॥"

'सहज' हरि-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है—

"सहज-सहज सबको कहै, सह जन चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ[4]॥"

कबीर का यह 'सहज मार्ग' अध्यात्म-मार्ग है। यह मार्ग अगम है। जहाँ मुनिजन[5] नही चल सके और जहाँ पवन एव मन[6] तक नही चल सकते, वह कबीर का मार्ग है। इस मार्ग मे गिरने का खतरा है—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६६
२ कबीर ग्रन्थावली (फुटनोट), पृष्ठ १२
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-४
५. कबीर मार्ग अगम है सब मुनिजन बैठे थाकि—
कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-८
६. मन पवन का गम न्हीं तहा पहुचे जाइ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-८
तुलना करें—यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—उप०

अन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल।
पावन टिक पिपोलका, लोगनि लादे बल[1]॥

उस मार्ग पर चलना कोई सहज काम नही है किन्तु अनन्य प्रेमियो के लिए यह कठिन भी नही है। जो गम्य को जानते है और जिनके पास प्रेम का सबल है वे ऐहिक अन्तरायो से घबराते नही है और न वे किसी पगडडी का सहारा लेने का प्रयत्न करते है क्योकि वहा कोई पगडडी नही पहुचती। जो लोग पगडडिया खोजते हैं वे भ्रान्त है। वे अपने लक्ष्य को नही जानते।[2] कबीर ने अपने मार्ग को मध्यमार्ग भी कहा है। वे यह अच्छी तरह समझते है कि दो घोडो पर एक साथ सवार होना सभव नही है। जो लोग लोक-मार्ग और आत्म मार्ग दोनो पर आरूढ रहना चाहते है वे नही पहुच पाते, इसी ससार मे डूब जाते है—

दुहु बहु अग सू लागि करि, डूबत है ससार[3]।"

किस मार्ग को अपनाना चाहिये और क्या उसकी व्याख्या कबीर इन शब्दो मे प्रस्तुत करते है—

'कबीर दुविधा दूरि करि, एक अग ह्वै लागि।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि[4]॥"

दुर्बल मनुष्य इस पर नही चल सकता। इसीलिए उपनिषद्[6] ने उसे चेतावनी दी है। इसी स्वर मे कबीर ने आत्म-सबोधन करते हुए कहा है—

'कबीर हसणा दूरि करि, करि रोवण सौं चित।
बिन रोया क्यू पाइये, प्रेम पियारा मित[7]॥"

---

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३१-७
२ देखिये मैं० ब्रा० उप० VI प्र० ३०
३. कबीर ग्रथावली पृष्ठ ३१ १
४ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ५३ १
५ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ५३ २
६ मुडकोपनिषद ३ २ ४
७ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ६ २७

प्रिय मिलन का मार्ग हँसी खेल नहीं है। प्रिय हँसने से नहीं मिलता। यदि वह किसी को मिला है तो रोनेवाले को—

'हसि-हसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जे हासे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ' ॥[1]

जिन बाह्य मार्गों (उपायो)[2] से मनुष्य उस प्रिय को खोजता है उनसे वह नहीं मिलता। कबीर का सहज मार्ग अंतर का मार्ग है जो दमन का मार्ग नहीं है शमन का मार्ग है। जब तक मन की भौतिक सत्ता रहती है तब तक सूक्ष्म मार्ग का निर्माण नहीं हो सकता। इंद्रिय विषयों के सम्बन्ध से यह मन पल भर में करोड़ों कर्म[3] करने की शक्ति रखता है। जो मन अपनी चंचलता की दशा में मनुष्य का नाशक होता है वही अपनी शान्तावस्था में परमात्म-स्वरूप[4] हो जाता है—

'मन गोरख मन गोविंदो, मन हीं औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ' ॥[5]

इस मन का शमन कबीर का मुख्य मार्ग है और यह शमन 'प्रेम' से बहुत सरल होता है। योग और ज्ञान को भी लोगों ने मन को शान्त करने का साधन माना है और कबीर भी उन साधनों का निषेध नहीं करते, किन्तु वे उन में प्रेम का समावेश आवश्यक मानते हैं। अतएव यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि कबीर मन को प्रेम में डुबा कर अपना करने की बात करते हैं। कबीर का विश्वास है कि दिए बिना मन मिलता नहीं है—

'मन दीया मन पाइए मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ' ॥[6]

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९-२९
२ कबीर ग्रन्थावली, पद ३१७
३. कोटि कर्म पल में करै, यहु मन विषिया स्वादि।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९-१८
४. तुलना कीजिए—मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'—गीता
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २९-१०
५ देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१२
६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८ ६

साधारणतया मन बड़ी लम्बी-चौड़ी छलांगें भर कर साधक के काबू से बाहर निकल जाता है, किन्तु कबीर उसे प्रेम म विभोर करके वशवर्ती कर लेते हैं—

'पाणीं हीं तैं पातला, धूवा हीं तैं भीण।
पवना बेगि उतावला, सो दोसत कबीरें कीन्ह' ।।"

दोस्त होने पर अति चचल वह मन विषया का आधार छोड़कर, निर्वृत्त होकर निराधार अवस्था मे स्थिर होजाता है और यही साधन, साधक और साध्य एक रूप हो जाते हैं—

"मनवा तौ अधर बस्या, बहुतक भीण्या होइ।
आलोकत सचु पाइया, कबहू न न्यारा सोइ' ।।"

यदि स्वार्थ ईश्वरार्थ म परिणत हो जाय तो समझना चाहिए कि मन का शमन हो गया या मन ईश्वर विभोर हो गया। जब तक वह 'ममार्थ' में लगा हुआ है तब तक उसकी वृत्तियो का नाश नही होता। कबीर 'मम' की परिणति 'तव' में चाहते हैं और उसी परिणति म उनका लक्ष्य निहित है। इसीलिए वे कहते हैं—

"ज्यू मन मेरा तुझ सौं, यौं जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ' ।।"

कबीर के साधना-पथ में परमात्मा के साथ मन को इस प्रकार मिलने की बात कही गयी है जिस प्रकार गर्म लोहे की संधि से संधि मिल जाती है कोई अन्तर नही रहता। इस स्थिति को वे प्रेमविहीन नही मानते। जब मन की यह स्थिति होती है तब वह 'राम रस' से छका होता है और उसे रामेतर कोई भी वस्तु रुचिकर प्रतीत नही होती—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१२
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २६-१४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५ ७

'मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
× × ×
दास कबीरा इहि रसि माता, कबहू उछकि न आई'।।"[1]

कबीर के 'सहज मार्ग' मे 'जाप' का भी स्थान है किन्तु उस जाप का नही जिसे सब 'जाप' कहते है। कबीर का जाप तो 'अजपा जाप' है जिसमे न माला होती है न जीभ हिलती है, किन्तु प्रत्येक श्वास प्रश्वास' मे 'अजपा' की लहर उठती है। अजपा मे सुरति का योग रहता है।

मन के दो मार्ग हैं—अधोगमन और ऊर्ध्वगमन। अधोगति की दशा मे वह वासनाओं मे दौड़ता फिरता है और ऊर्ध्वगमन की दशा में वह वासनाओं को छोड देता है क्योंकि उसके गले में प्रेम की रस्सी बँध जाती है जो उसे ईश्वराभिमुख खीचती रहती है। चरमान्तम दशा मे मन ईश्वर रूप होजाता है और उस समय वह प्रेमी, प्रिय और प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

रहस्य साधना की प्रेरणा मे सुख दुख का भी बहुत बडा हाथ है। आत्म-प्रकाश की स्थिति मे दुखो के आगमन मे मुक्ति दिखायी पडती है। दुखागम को साधक बाधा नही मानता, अपितु परमात्मा का वरदान मानकर अपने प्रेम को अधिकाधिक दृढ करता है। साधक दुख मे अपनी परीक्षा के रूप को देखता है और बडी दृढता से उसका सामना करता है। वह दुख सुख मे निर्लिप्त होकर आनन्दमय रहता है—

'दुखिया मूवा दुख कौ, सुखिया सुख कौं भूरि।
सदा अनन्दी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि'[2]।।"

कोई भी हलचल, कोई भारी क्षति अथवा कोई भी अप्रत्याशित हर्ष साधक को प्रेरणा तथा प्रकाश देते है। इन्ही विषम क्षणो मे परमेश्वर की झलक दिखायी देती है और भक्त अपने आपको कृतकृत्य मानता है। बेनेट का कहना ठीक ही है कि 'जिसको हम जीवन में दुख कहते हैं वह हमारा दृष्टि-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ७४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४-८

कोण है, वस्तुत दु ख नाम की कोई वस्तु है नहीं।" मैडम गुयन निर्धनता को वरदान मानती थी। उनका कहना था कि "निर्धनता' और क्षति आनन्द-स्वरूप हैं। बुराई ही भलाई को खोज कर लाती है। मधुर और कटु दोनो झरनो का एक ही स्रोत है। देव और दानव दोनो का निवास परमात्मा म ही है, फिर एक से प्रेम और दूसरे स घृणा क्या ?"

वास्तव म समझना तो यह चाहिये कि द्वन्द्वो की सृष्टि समझौते के लिए होती है। जो लोग समझौता करने क बजाय सुख म प्रसन्न और दु ख मे खिन्न होकर बीच की खाई का चौडा कर देते हैं, वे भ्रान्त हैं। इसीलिए कबीर 'समता' या 'समरसता का उपदेश देते हैं—

'सीतलता तब जाणियें, समिता रहै समाइ।
पष छाडै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ'[1]।।"

इस समता की दशा मे कबीर पर सुख-दु ख, शब्द कुशब्द आदि द्वन्द्वो का प्रभाव नही पडता। वे निर्लिप्त रहते हैं—

"कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान'[2]।।"

कबीर मुक्ति की व्यवस्था आत्मा-परमात्मा के मिलन म करते हैं। उनकी दृष्टि मे जीवन अविरल मरण है जबतक कि हम ईश्वर के सामने न आजायें। इसी से रहस्य साधक का प्रेम कष्ट के क्षणो मे अधिक गभीर और प्रबल हो जाता है।

कबीर की वाणी मे भावात्मक और साधनात्मक, दोनो स्वर झकृत होते हैं। कबीर की भावात्मक स्वर-लहरिया बडी तीव्र और गभीर हे और उन्ही मे वस्तुत सुन्दर कवि-वाणी का स्फुरण हुआ है किन्तु उनकी वाणी का साधना-

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५३-१०
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ६३-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-४

पक्ष भी अपनी विशेषता रखता है। उनको योग-चर्या परम्परागत नही है, उसमें अनुभवकृत संशोधन है और वह प्रेम की धरा पर प्रतिष्ठित है।

भावात्मक साधना[1] के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधुर्यभाव' का संबंध सूक्ष्म रूप से जोडा है जो उपयुक्त भी है। उन्होने पिता, स्वामी आदि की संबंध-भावना को स्थूल रूप के अतर्गत समाविष्ट किया है। भारतीय भक्ति-परंपरा मे दोनो प्रकार की साधना की ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है किन्तु अधिक झुकाव दूसरे रूप की ओर ही रहा है, क्योकि वैष्णवों की सगुणोपासना समष्टिगत हो रही है, यद्यपि निर्गुणोपासना की ओर भी उपनिषदो ने संकेत किया है। भागवत की भक्ति-पद्धति सगुणविशिष्ट होती हुई भी रहस्य-भावना की प्रेरक सिद्ध हुई, इसलिए भागवत से प्रेरणा लेकर यहाँ के कुछ भक्तो ने कृष्ण के लोक-संग्रही रूप के स्थान पर उन्हे प्रेम की मूर्ति बना लिया और उनकी भावना ऐकान्तिक हो गयी। इस पद्धति मे गोपी-प्रेम का अनुसरण था जिसमें ऐकान्तिकता और रूपमाधुर्य का पुरस्करण था। प्रियतम के रूप मे भगवान् की भावना भक्त के व्यक्तिगत संबंध पर आश्रित होकर रहस्यात्मक रूप मे प्रवृत्त हो गयी। फारस मे प्रेमाश्रयी संबंध-साधना का खूब प्रचलन हुआ। सूफियो ने इस पद्धति को पूर्ण प्रोत्साहन किया किन्तु उनकी साधना 'माधुर्यभाव' की साधना से कुछ भिन्न रही। 'माधुर्यभाव' की साधना मे साधक 'विरहिणी' के रूप में अपनी व्यंजना करता है किन्तु सूफी साधना मे वह 'विरही' के रूप मे ही प्रकट होता है। सूफी-साधना को वास्तव मे विरह-साधना कह सकते हैं। इसकी विशेषता है विरह की तीव्रता। कबीर ने अपने मे 'विरहिणी' का आरोप करके उसमे सूफियो की विरह-तीव्रता की प्रतिष्ठा करदी। कबीर-द्वारा प्रेरित 'माधुर्य भाव' की उपासना भारतीय भक्ति-परम्परा मे भी समाविष्ट हो गयी। चैतन्य महाप्रभु मे सूफियो की प्रवृत्तियाँ स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है। उनकी भक्ति मंडली ने जिस मूर्च्छा को अपनाया था वह रहस्य-साधक सूफियो की रूढि है।

---

१. 'साधना' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ मे किया गया है। यहाँ साधना से अभिप्राय अभ्यास से है जो भावो के प्रेरण और नियमन में अपेक्षित है।

कबीर की भावात्मक साधना में भारतीय भक्ति का भी पुट है और सूफी प्रेम तत्त्व का भी। इनकी भक्ति की विशेषता यह है कि उसमें ईश्वर के सगुण रूप को मान्यता नहीं मिली। इससे इनकी भाव-साधना में भारतीय भक्ति-तत्त्व और सूफी प्रेम-तत्त्व दोनों का अभेद मिलन हुआ है। ऊपर यह तो बताया ही जा चुका है कि उन्होंने सूफी प्रेम तत्त्व को अंश रूप में ही ग्रहण किया सर्वांशतः या पूर्णतः नहीं। यही कबीर की उपासना पद्धति या भाव-साधना की विशेषता है। यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि भक्ति-भाव की अलौकिक भाव भूमि पर खड़े होने पर निर्गुण सन्त और सगुण भक्त एक ही सी बात कहने लगते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सन्तों का रहस्यवादी अनुभव कोई अद्भुत रहस्यानुभव है या कोई गुह्य वस्तु है अथवा भक्तों को अपनी रागात्मिका भक्ति में उसी प्रकार के अनुभव नहीं होते। भेद केवल रूप का है। भक्तों का आश्रय रूप है सन्तों का आश्रय अरूप है। इस भेद के अनुसार दोनों के अनुभवों और उनके प्रकाशन की भाषा में भी भेद हो जाता है। जहाँ साधना की अंतिम अवस्था को पहुँच कर भक्त राम कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करता है वहाँ सन्त को इस प्रकार का अनुभव नहीं होता।"[1] कबीर इस अनुभव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

> अब मैं जाणियो रे, केवल राइ की कहाणीं।
> मझा जोति राम प्रकासै, गुर गमि बाणी॥
> तरवर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछाणी।
> साखा पेड़ फूल फल नाहीं, ताकी अमृत बाणीं॥
> पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
> सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया॥
> सहज समाधि विरष यहु सींच्या, धरती जलहर सोष्या।
> कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या[2]॥"

सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में भावना रहती है किन्तु जैसी भाव-तीव्रता और गंभीरता दाम्पत्य में अनुभव की जा सकती है वैसी पुत्र पिता

---

१ देखिये डा० रामरतन भटनागर—रहस्यवाद, पृष्ठ ६५

२ कबीर ग्रन्थावली, पद १६६

या सेवक-सेव्य-भाव मे नही की जा सकती। दाम्पत्य-भाव मे भी विरह-पक्ष अधिक तीव्र और गभीर होता है। इसके अतिरिक्त रति-भाव में जितनी व्यापकता होती है उतनी अन्य किसी भाव मे नही होती। रति-भाव प्रत्येक चेतन-प्राणी के अन्तर मे उमडता है। कदाचित् इसी कारण 'शृगार' को रसराज कहा गया है। भिन्न आलबनो के सम्बन्ध से आश्रयगत भाव का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। प्रिय के प्रति मिलन की जो आकाक्षा होती है वैसी ही मिलन आकाक्षा पिता के प्रति नही होती, यद्यपि मिलन दोनो मे लक्षित है किन्तु एक मे आलिंगन की आकाक्षा की तीव्रता और दूसरे मे श्रद्धामूलक आत्मसमर्पण निहित होता है। सचारियो के अपने-अपने स्वभाव दोनो के अतर को और भी स्पष्ट कर देते हैं। दाम्पत्य-भाव मे आत्मपरकता को अधिक अवकाश होता है जबकि सेवक-सेव्य भाव या पुत्र-पिता-भाव का आभिमुख्य वस्तुपरकता की ओर होता है।

स्थूल भावात्मक रहस्य-साधना मे ईश्वर को प्राय स्वामी और पिता के रूप मे देखा गया है किन्तु कबीर अपने हरि को जननी रूप मे भी देखते हैं—

'हरि जननीं मैं बालिक तेरा।
काहे न औगुंण बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते।
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी[1]।"

इसी प्रकार पुत्र-पिता-भाव को देखिये—

"को काहू का मरम न जानै, मैं सरनागति तेरी।
कहै कबीर बाप राम राया, दुरमति राखहु मेरी[2]॥"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पद १११
२. कबीर ग्रन्थावली, पद २६१

और यह एक उदाहरण सेवक-सेव्य-भाव का द्योतक भी देखिये—

"जाके राम सरीखा साहिब भाई।
सो क्यू अनत पुकारन जाई॥
जा सिरि तीन लोक को भारा।
सो क्यू न करै जन को प्रतिपारा[1]॥"

उपर्युक्त सभी उदाहरणो मे साधक का ममत्व है जिसमें प्रभु के प्रति श्रद्धा और विश्वास निहित है। साथ ही उसकी शक्तिमयी ममता और रक्षकता की भावना को भी आन्दोलित करने का प्रयत्न स्पष्ट है किन्तु भावात्मक सान्निध्य यहाँ भी दिखायी पडता है। विस्मरण की बात तो यहाँ भी नहीं उठती—

"कहै कबीर मैं तन मन जारया।
साहिब अपना छिन न बिसा बिसारया[2]॥"

अपनी तीव्र आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कबीर ने स्त्री-पुरुष के अलौकिक संबंध का उपयोग किया है। यद्यपि लौकिक प्रेम को प्रतीक रूप म ही ग्रहण किया गया है किन्तु प्रतीक ने रूपक की सीमाओ से निकल कर सब कुछ होने की चेष्टा की है—

"करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुन बिनती मेरी॥
हौं वारी मुख फेरि पियारे। करवट दे मोकौ काहे को मारे॥
जौ तन चीरहि अग न मोरौं। पिंड परै तो प्रीति न तोरौं॥
हम तुम बीच भयो नहिं कोई। तुर्माहं सुकन्त नारि हम सोई[3]॥"

कबीर की रहस्य-भावना मे 'निर्गुण' का बहुत बडा योग है। इसी के कारण कबीर ने 'भक्ति' और 'दाम्पत्य प्रेम' को मिला कर एक नये साँचे मे जडा है। जब वे अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं तो सन्त-साधना के

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ११४
२. कबीर ग्रन्थावली, पद ११३
३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २७१-३८

सारे रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। निर्गुण ब्रह्म के प्रति रति-भावना ने ही कबीर की वाणी को रहस्यवादी रचना का रूप दिया है जिसमे गंभीरतम आसक्ति प्रकट हुई है। इसके अतिरिक्त इसमे और किसी प्रकार की खोज करना व्यर्थ होगा। जिस प्रकार ऊपर के पद मे कबीर की आसक्ति-तीव्रता प्रकट हो रही है उसी प्रकार अधोलिखित उदाहरण मे भी देखिये—

"हरि मेरा पीव मै हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
किया स्यगार मिलन कै ताईं।
काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं[1]॥"

एक-दो स्थल ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जहां कबीर ने विरहासक्ति तो प्रकट की है किन्तु दाम्पत्य संबंध नही निखरा है अतएव माधुर्य भाव दब गया है। इसे कबीर की असावधानी कहना उचित होगा या तन्मयता—ऐसी तन्मयता जिसमे नियम या सिद्धान्त टूट जाते हैं क्योंकि भाव बुद्धि को अभिभूत कर लेते हैं। अतएव कबीर की वाणी सब कुछ होते हुए भी प्रेमाभिव्यंजना में उनके हृदय की भाषा है जहाँ बुद्धि ने अनुभूति का केवल भार ढोया है। जो कबीर एक स्थान पर विरहिणी के वेश मे प्रकट होते हैं वही दूसरे स्थान पर 'हो बलिया कब देखौगी तोहि' कह कर आलोचक को विस्मित कर देते हैं। फिर भी आसक्ति मे कोई न्यूनता नही दिखायी पड़ती। विरह मे वही गंभीरता, वही व्याकुलता और वही मिलन-कामना है—

"बहुत दिनन के बिछुरे माधो, मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर[2]॥"

यह है कबीर के विरह निवेदन की एक बड़ी विशेषता जिसमे संबंध भी डूब जाता है। विरह निवेदन कबीर का लक्ष्य नही है लक्षण मात्र है। विरह के आगे ही तो मिलन है और वही कबीर का लक्ष्य है। विरह का सम्पूर्ण उत्स उसी मिलन-सागर की ओर उन्मुख है। वियोग ने कबीर को एक बड़ी भारी

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ११७
२. कबीर ग्रंथावली, पद ३०५

वस्तु प्रदान की है और वह है देह। यह देह प्रिय से मिलन के लिए मिली है अतएव मिलन का सर्वोत्कृष्ट साधन है जिसको सगुण भक्तों ने भी स्वीकार किया है। कबीर की मिलन-कामना में परिपूर्ण ऐक्य का संकेत है और उनका विरह निवेदन संयोग कामना से प्रेरित है विरह आसक्ति से और प्रिय कृपा शक्ति से लक्षित है—

> वे दिन कब आवैंगे माइ।
> जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंगि लगाई।
> हौं जानू जे हिलमिल खेलू तन मन प्रान समाइ॥
> या कामना करौ परपूरन समरथ हौ राम राइ[1]॥

कबीर के आध्यात्मिक मिलन की कामना में लौकिक अनुभूति का समग्र संभार प्रस्तुत है। गोपनीय अनुभूति कबीर के कंठ से पावन पद पर प्रतिष्ठित हुई है—

> सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
> एकमेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसा नेह रे[2]॥

कबीर की भावाभिव्यंजना में दाम्पत्य भाव का जो स्वरूप मिलता है उसमें संयोग और वियोग दोनों पक्ष बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। यद्यपि संयोग-पक्ष में वियोग-पक्ष की सी गहराई या तीव्रता नहीं है। यों तो भावातिरेक में साधक उपास्य के साथ किसी भी संबंध का स्थापन करता है किन्तु इन सब में कान्ताभाव की मधुरता बड़ी मोहक होती है। कबीर ने सभी संबंधों को अपनाते हुए कान्ता भाव के प्रति ही अधिक आकर्षण व्यक्त किया है और वियोग के चित्र जितने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत हुए हैं उनकी वाणी में मिलन के चित्र भी उतने ही सजीव हैं। मिलन के पूर्व की भावनाओं के चित्र जायसी के चित्रों की सी मौलिकता लेकर प्रकट हुए हैं। ऐसा ही एक चित्र देखिये—

> थरहर कंपै बाला जीउ ना जानूं किया करसी पीव।
> रैनि गई मति दिन भी जाइ भवर गये बग बैठे आय[3]॥

---

१ कबीर ग्रंथावली पद ३०६
२ कबीर ग्रंथावली, पद ३०७
३ संत कबीर पृष्ठ १४८

इस पूर्व रंग में बड़ी मधुर प्रतीक्षा प्रस्तुत की गयी है जिसको आशंका के पुट ने एक विलक्षण रूप दे दिया है। जायसी और कबीर की तुलना करने-वाले पाठक को कबीर की उक्त वाणी में विशेष ध्वनि, विशेष संकेत और विशेष आध्यात्मिक वातावरण मिलेगा।

उत्कंठा और आशंका के पश्चात् 'मिलन' का पदार्पण होता है, संयोगावस्था की अनुभूति होती है। इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए साधकों ने अनेक रूपक बाँधे हैं और संबंध को अधिक स्पष्ट करने के लिए रूपक-योजना आवश्यक भी है। इस रूपक-योजना में कबीर की कला और भावुकता, दोनों का समन्वय है। कबीर के हर्षोन्माद का एक रंगीन चित्र देखिये—

"दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच तत बराती।
रामदेव मोरैं पाहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
राम देव संगि भांवरि लैंहू, धनि धनि भाग हमार।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी[1]॥"

मिलन की दशा में हर्षातिरेक का होना स्वाभाविक है, किन्तु कृतज्ञता-ज्ञापन भी उस दशा की एक सहज स्फूर्ति होती है जिसमें भाग्य की सराहना के साथ-साथ प्रिय के अनुग्रह का भी द्योतन है —

"बहुत दिनन थैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठें आये।
× × × ×
मैं रनि रासी जे निधि ताई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहैं कबीर मैं कछू न कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा[2]॥"

१. कबीर ग्रंथावली, पद १
२. कबीर ग्रंथावली, पद २

कबीर की साधना मक अनुभूति म सुहाग रात का भी बडा मनोहर स्थान है। सुहाग रात के बिना दाम्पत्य जीवन क्या ! प्रिय को अक पाश म डाल कर मिलना सौभाग्य की चरम स्थिति है। कबीर इस दशा के निमित्त अपने भाग्य की बडी सराहना करते ह। कबीर का मन मधुर मिलन म डूब जाता है। आनन्द की यह महजावस्था है किन्तु यह परिणाम है प्रियतम की कृपा का जिसे भारतीय भक्ति-परम्परा मे भगवदनुग्रह नाम से अभिहित किया है। इस दशा को नायिका स्थायीरूप म चाहती है। किसी भी प्रकार वह प्रियतम को छोडना पसद नही करती। अनुनय विनय से अपनी अनेक मनुहारो से वह प्रिय क मन पर जादू डालती है। देखिये—

> अब तोहि जान न दहू राम पियारे।
> ज्यू भाव त्यू होइ हमारे।
> बहुत दिनन क बिछुरे हरि पाये, भाग बड घर बठे आये।
> चरननि लागि करौं बरियायी, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
> इत मन मदिर रहो नित चोखे कहै कबीर परहु मत धोखे[1]।'

मिलन दाम्पत्य भावना की अंतिम सीढी है किन्तु यहां भी दो प्रकार की दशाओ की अनुभूतिया होती ह—एक म साधक प्रिय के साथ सपर्क की अनुभूति करता है और दूसरी म तादात्म्य का। यह स्थिति वाणी और मन की पहुँच से बाहर की चीज है। इस स्थिति का किसी कवि न आपको पाते वही जो आपको पाते नही कह कर व्यक्त किया है। निकल्सन[2] सूफी साधक के सबध म लिखता हुआ कहता है— जो ईश्वर को जानता है वह मौन हो जाता है। गीता न भी मौनी को ही सच्चा मुनि बतलाया है। कबीर भी अपनी इसी दशा की ओर सकेत करते हुए कहते ह—

> अविगत अकथ अनूपम देख्या कहता कह्या न जाई।
> सन कर सनहीं मन रहस गूग जानि मिठाई[3]॥'

---

१ कबीर ग्रथावली पद ३
२ देखिये मिस्टिक्स आफ इस्लाम पृष्ठ ७१
३ कबीर ग्रथावली पद ६

कबीर के ये शब्द हमे उनकी ग्रानदावस्था की झाँकी कराते हैं किन्तु यह चरमावस्था नही है। यह वह अवस्था है जिसे कबीर 'सुरति' नाम से अभिहित करते हैं। यह मिलन-जन्य भाव मग्नता की दशा है। भारतीय साधक तो इससे आगे भी एक अवस्था प्राप्त करता है जो कबीर ने भी प्राप्त की है और उसमे जाकर साधक और साध्य जल मे जल के समान मिलकर 'अद्वैत' हो जाते हैं और कबीर इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

'जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो'[1]।"

और वे यह अनुभव करते हैं—

"मैं सबनि मैं औरनि मे हूँ सब।"

वास्तव में यह स्थिति बुद्धि के परे की चीज़ है। यहाँ साधक और साध्य में ऐसी एकता आजाती है कि भेद नाम की चीज साधक के सामने ही नही आती और वह पूर्ण विश्वास से कह उठता है—

"हरि मरिहै तो हमहूं मरिहैं, हरि न मरे तो हम काहे न मरिहैं[2]।"

इसमें सन्देह नही कि सतकाव्य की पीठिका रहस्यवाद है किन्तु कबीर का पढाया हुआ पाठ ही उत्तरवर्ती सन्तो ने दुहराया है। भाव के माध्यम से अद्वैत स्थिति का प्रकाशन ही सन्तो के रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है जो कबीर की वाणी म अपने ढग से व्यक्त हुई है। लगता तो ऐसा है कि कबीर का ज्ञान सर्वत्र छलक रहा है किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि ज्ञान कबीर की अनुभूति में इतना घुल-मिल गया है कि कहीं-कही उसको भावना से अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। कुछ आलोचक कबीर को केवल ज्ञानी कह कर उनकी वाणी के भाव-पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं जो ठीक नही है। यह ठीक है कि उन्होने उपास्य से पृथक अपनी सत्ता की घोषणा नही की है किन्तु अद्वैत की स्थिति ऐक्य की अनुभूति मे उदित होती है, ऐसा स्थान-स्थान पर प्रकट होता है। यह कहना अयुक्त नही कि अद्वैतभाव को दृढ बनानेवाली वस्तु

१. कबीर ग्रथावली, पद ५०
२. कबीर ग्रथावली, पद ४३

कबीर की विप्रलंभ की भावना ही है। कबीर की भावना उनके अद्वैतवाद पर आरूढ़ हो जाती है इतनी कि वे सत्संग में आविष्ट होकर किसी सैद्धांतिक निर्णय को खो बैठते हैं। भावना का यही अतिरेक उन्हें राम को न एक कहने देता है और न दो—

"एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥"

इस साखी की दूसरी पंक्ति द्वैत और अद्वैत, दोनों का विरोध करके अनिर्वचनीयवाद की प्रतिष्ठा करती है। इसमें सिद्धान्त पक्ष भावना में डूब गया है, इसी कारण कबीर के राम-संबंध में किसी परिभाषा के लिए शब्द दुर्बल ही नहीं, अयुक्त सिद्ध होते हैं और शायद इसी कारण स्वर्गीय रामकृष्ण शुक्ल ने कबीर को दार्शनिक भक्त, कवि आदि सभी कोटियों से निकाल दिया है। कबीर संबंधी ज्ञान और भक्ति को समझने के लिए उनकी भावना को सामने रखना परमावश्यक है। कबीर बड़े भावुक हैं और उनकी भावुकता ही उनकी साधना की सर्वोच्च वृत्ति है।

कबीर की रहस्य-साधना का दूसरा स्वरूप योग-परक है। इस साधना पर सिद्धों और नाथों का भी कुछ प्रभाव प्रकट होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सिद्धों और नाथों ने योग के कायिक पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया किन्तु कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिक पक्ष से समुपेत किया। यों तो नाथों की योग-पद्धति में भी कुछ आध्यात्मिकता आ गयी थी और उन्होंने अपनी योग साधना को ईश्वरनिष्ठ बना दिया था किन्तु कबीर ने योग के कायिक पक्ष में ऐसा संशोधन किया कि उसमें नाथ-पद्धति का बहुत कुछ अंश होते हुए भी उसके मौलिक स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसमें मौलिकता आयी उसे भावना और ज्ञान से समन्वित करने के कारण। फिर भी उसमें भावना का वह रंग नहीं है जो दाम्पत्य प्रेम-साधना दीख पड़ता है। उनको हरि का, शिव-पार्वती-संयोग, अपना और हरि का संग— सब अनुभूतियाँ होती हैं जिनमें ज्ञान और प्रेम का भी पुट मिलता है। उनकी योगपरक रहस्य-साधना की एक झाँकी इस पद में देखिये—

"पारब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली, फल लागा बडहूली॥
सदा सदाफल दाख बिजौरा कौतिकहारी भूली॥

द्वादस कूंवा एक बनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमना कूल भरावै, दह दिसि बाडी पावै।
ल्यौ की लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया।
त्रिकुटी चढ्यौ पावडौ ढारै, अरध उरध की क्यारी।
चद सूर दोऊ पाणति करिहैं, गुर मुषि बीज बिचारी।
भरी छाबड़ी मन बैकुंठा, साई सूर हिया रमा।
कहै कबीर सुनहु रे सतो, हरि हम एकै संगा[1]।।"

इस प्रकार कबीर पिंड में भी ब्रह्माण्ड के सारे खेल देखते हैं जो वास्तव म बडे रहस्यात्मक खेल हैं। इन रहस्यो का दर्शन साधक को उल्टी चाल[2] से होता है। इसी को रूडोल्फ अन्तर्दृष्टि की एकता की प्रक्रिया कहते हैं। उपनिषत्-कारो ने भी ऐसे रहस्यो का उल्लेख किया है। श्वेताश्वतर[3] उपनिषद् में बतलाये हुए योगी के रमण के स्थान कुछ कम रहस्यपूर्ण नही है। इसी प्रकार बृहदारण्यक[4] मे आत्मान्वेषी की अनेक झाँकियो का विशद उल्लेख किया गया है कि 'उसे केसरिया रंग के वस्त्र, रक्तिम तितलियाँ, अग्नि-शिखाएँ, विकच कमल और कौंधती हुई बिजलियाँ दिखायी पडती हैं। कबीर-वाणी म रहस्यपूर्ण दृश्यो और ध्वनियो का अभाव नही है। भक्ति और ज्ञान के पुट से कबीर की योगपरक वाणी रहस्यात्मक कुतूहल से परिपूर्ण है। उसमे कायिक सकेत होते हुए भी माधुर्य छलकता मिलता है। इसका कारण उनकी भावना का वह पुट है जो उनकी साधना का सार ही नही आधार भी है। कबीर की साधना का कायिक पक्ष भी सूक्ष्म के परिचय के निमित्त है। इस चचल एव स्थूल पदार्थो मे रमनेवाले मन को स्थिर एव सूक्ष्म बनाने के लिए लौटाने की चेष्टा करते हैं। स्थूल सासारिक पदार्थो से निकाल कर उसे परमात्मा मे लगा कर उसको तद्वत कर देना ही उनके योग का लक्ष्य है और इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए कबीर अपने मन

---

१. कबीर ग्रथावली, पद २१४
२. कबीर ग्रथावली, पद १७०
३. श्वेताश्वतर १/२
४. बृहदारण्यक १/५

को प्रेम की रस्सी मे बाँध कर अपने माधो[1] के पास खीच ले जाते हैं। कबीर का 'माधो' भी एक रहस्यात्मक सत्ता है और उसके आवास को भी इन्होंने रहस्यमय ढग से प्रकट किया है —

"चमकै बिजुरी तार अनत, तहा प्रभू बैठे कवलाकत।
अखड मडिल मडित मड, त्रि-स्नान करै त्रीखड।
अगम अगोचर अभि-अतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा।"
× × × ×
"टारचौ टरै न आवै जाइ, सहज सुनि मैं रह्यौ समाइ।"
× × × ×
"कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पकज मैं लिया निवास।
द्वादस दल अभि-अतरि म्यत, तहा प्रभू पाइसि करिलै च्यत॥"
× × × ×
"तहाँ न ऊगै सूर न चद, आदि निरजन करै अनद।"
× × × ×
"जोति माहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्राणीं तिरै[2]॥"

इस पद में कबीर की मनोसाधना का रूप स्पष्ट है। 'सहज सुनि', 'रिदा पकज', और 'जोति' योग-सबधी प्रतीक शब्द हैं जिनसे साधना-पद्धति का परिचय मिलता है, 'धरणीधर' आदि शब्दो के प्रयोगो से यह भी स्पष्ट है कि कबीर ने अपनी वाणी मे पौराणिकता का भी पुट दिया है, किन्तु उनके पौराणिक प्रयोग साकेतिक हैं। इस योगपरक साधना के मूल मे कबीर की मनोसाधना का आधार मिलता है और उसे प्रेम स सरसीत करके वे अपनी अभिव्यक्ति को मधुर बनाते हैं। फिर भी ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जिनमे रहस्यवाद के तत्त्वो का समावेश पूर्णरूप में नही है। रहस्यवाद का सबध अभिव्यक्ति से जोड कर कुछ विद्वानो ने उसे अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। ऐसी वाणी में कबीर ने निश्चित प्रतीको का प्रयोग किया है। चौसठ दीया, चौदह चदा, सोलह पवन आदिक शब्दो मे नियत अर्थ निहित है और सख्या शीघ्र

---

१. कबीर ग्रथावली, पद २१३
२. कबीर ग्रथावली, पद ३२८

ही हमे अर्थ तक ले पहुँचती है। कबीर के समय मे संख्यावाचक प्रतीकों का अधिक प्रचलन था, किन्तु कबीर ने इनके अतिरिक्त अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो छोटे-मोटे रूपक प्रतीत होते हैं। ब्रह्म-नालि भँवर गुफा आदि शब्द कबीर की वाणी मे नियत अर्थ प्रकट करते हैं और अर्थ-द्योतन की यह प्रणाली सिद्धो की वाणी मे अधिक प्रचलित हो गयी थी। नाथपंथी भी इस प्रयोग-परंपरा का सर्वथा परित्याग न कर सके। यदि सामान्य दृष्टि से देखें तो कबीर ने अपनी उलटबासियों म सिद्धों और नाथों की परंपरा की ही रक्षा की है, किन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि कबीर की उलटबासियाँ केवल कूट हैं। हम उनका समुचित मूल्यांकन उस समय तक नहीं कर सकते जबतक कि उनको साधना की पृष्ठभूमि मे रख कर न देखें। वास्तव मे वे कबीर की साधना का अन्यतम परिणाम हैं। इनमे सिद्धो की वाणी की भाँति कुछ छिपाने का प्रयत्न नहीं है क्योंकि उसमे न तो किसी सामाजिक कुत्सा का समावेश है और न किसी हेय साधना-पद्धति की ही दुर्बलता। सिद्धों की दुर्बलता उन्हे उसे छिपाने के लिए विवश करती थी और वे नहीं चाहते थे कि उनकी साधना किसी ऐसे व्यक्ति के हाथो में पड़े जो उसे पूर्ण श्रद्धा प्रदान न कर सके किन्तु कबीर के सब तार खुले हैं। उनकी साधना के सब पहलू पूर्ण प्रकाश मे हैं। अतएव जब वे—

"चींटी परवत ऊखण्या, ले राख्यौ चौड़े।
मुर्गा मिनकी सू लड़ै, बछा दूध उतारै॥
ऐसा नवल गुंणीं भया, सारदूलहि मारै॥"

आदि वाक्यो का प्रयोग करते हैं तो कुछ छिपाने के लिए नहीं वरन् अपनी अनुभूति को सामान्य शब्दो में सरलतम ढंग से प्रकट करने के लिए। इसका संबंध साधना से होने के कारण असाधक को ये उक्तियाँ उलटी लग सकती हैं, उसे ये रहस्यमय दीख सकती हैं, किन्तु वास्तव मे इनके पीछे एक साधनात्मक अनुभूति है। इनमे केवल साधक का रहस्यानुभव है जो पाठक को चाहे कूट प्रतीत हो किन्तु कबीर के लिए प्रकाशमय था। यह ठीक है कि बहुत से नीरस रहस्यपूर्ण वर्णनो से कबीर की वाणी भरी पड़ी है जिनसे वह निम्न कोटि की होगयी है और उसम रहस्यवाद की मधुरता नहीं आयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की वाणी में भावात्मक, साधनात्मक एवं अभिव्यक्तिमूलक, तीनो प्रकार के रहस्यवाद के उदाहरण मिल सकते हैं। इन

सब पर कबीर की विचार-प्रधानता का प्रभाव है किन्तु 'दाम्पत्य भाव' से सबंधित उदाहरणो मे भाव-लहरिया भी स्पष्ट हैं। भावात्मक रहस्यवाद के उदाहरण कबीर-वाणी म थोडे ही हैं किन्तु जो हैं उनमे अनुभूति बडी गहन और मार्मिक है। अधिकाश रहस्यवादी उक्तियाँ यौगिक पारिभाषिक शब्दो, विविध सख्याओं एव यौगिक प्रक्रियाओ से प्रभावित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ कबीर की रहस्योक्तियाँ योग और अद्वैत दर्शन से युक्त हैं वहाँ उनम सुन्दरतम रहस्यवाद दिखायी दे सकता है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कबीर की रहस्योक्तियाँ रहस्यवाद की किसी एक कोटि मे नही रखी जा सकती क्यो उन्होने सत्य को हर पहलू से देखने और पकडने का उपक्रम किया है और इसी चेष्टा ने उनकी वाणी में रहस्यवाद की अनेक कोटियाँ प्रस्तुत करदी हैं। साथ ही कबीर की रहस्योक्तियो मे प्रवृत्त्यात्मकता की प्रतीति होती है, उसमें ऐकान्तिकता नही दिखायी पडती। कबीर केवल दार्शनिक या भक्त ही नही थे, अपितु विचारक, सुधारक, उपदेशक होने के साथ-साथ गृहस्थ भी थे। इसीलिए वे 'प्रवृत्ति' का परित्याग नही करते। वे ससार, शरीर, धन, धाम आदि के प्रति अनासक्ति की भावना अवश्य उत्पन्न करना चाहते हैं परन्तु घरबार छोडकर वनवास लेने का उपदेश कहो नही देते। कबीर का रहस्यवाद चाहे किसी कोटि का हो किन्तु प्रेम की रगीनी सर्वत्र मिलगी। उनकी वाणी ने जहाँ यौगिक या पारिभाषिक शब्दावली को अपनाया है वहाँ भी प्रेम तत्त्व का अभाव नही मिलता। इसी प्रेम-तत्त्व ने कबीर के रहस्यवाद म सर्वत्र एव अलौकिक आनन्द-तत्त्व उत्पन्न कर दिया है और यह आनन्द-तत्त्व अद्वैत-भावना पर आधारित है जिसकी मादक अनुभूति मे कबीर कह उठत हैं —

"हम सब माहिं सकल हम माहीं
हमते और कोउ दूसर नाहीं ॥"

यह अद्वैत-तत्त्व कबीर को कर्मवाद से मुक्त नही करता। कर्मवाद को स्वीकार करके उन्होने पुनर्जन्मवाद को भी मान्यता प्रदान की है जिसमे विकास की भावना निहित है। कबीर का सम्पूण जीवन क्षेत्र आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है जिसकी विशेषता है उसकी सक्रियता जिसकी छाप उनकी रहस्यानुभूतियो मे स्थान-स्थान पर लगी दिखायी पडती है।

: २० :

भारतीय भक्ति-परंपरा में कबीर की भक्ति

भक्ति-परंपरा—भक्ति एक मनोभाव है जो अव्यक्त सत्ता के अवलंबन से रसरूप मे निष्पन्न होता है। भक्ति शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। सेवा का आलंबन कोई भी हो सकता है किन्तु भक्ति का अपरिहार्य रूप 'ईश्वरोन्मुखता' और 'अनन्यता' मे निहित है। भक्ति के इसी रूप की प्रतिष्ठा शाण्डिल्य के 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[1] सूत्र मे हुई है। यही भक्ति की सामान्य परिभाषा है। इससे विदित होता है कि भक्ति के प्रमुख अवयव दो हैं—परमात्मा की ओर अनुराग की प्रबलता और उसीके लिए उसका समर्पण। काम, लोभ और मोह के आलंबन के प्रति प्रबल अनुरक्ति रह सकती है किन्तु वे सब नश्वर हैं अतएव उनकी परिमिति सिद्ध है। उनके विपरीत परमात्मा अनन्त और असीम है अतएव अनन्य अनुराग का निर्वाह उसीके प्रति सभव और सफल है।

पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास अनन्य भक्ति के प्रमुख लक्षण हैं। इनके उदय मे परिस्थितियो का विशेष स्थान होता है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी आदि भक्त भेद परिस्थितियो की ओर सकेत करते हैं। आर्त अपनी विवशता म परमात्मा की शरण लेता है। आर्त के भी अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु हर-एक के भाव की चरम परिणति 'परानुरक्ति' मे होती है और वही वास्तव मे भक्ति है।

जब से मनुष्य अपनी विवशता मे अथवा प्राकृतिक विराटता मे किसी अव्यक्त शक्ति के प्रभाव की कल्पना करने लगा तभी से उसम आस्तिक्य-भाव

---

१ शाण्डिल्य-सूत्र, २

का बीजारोपण हो गया और जब उसको अपनी और प्रकृति की शक्ति का एक ही प्रेरक और संचालक विश्व के पर्दे के पीछे आभासित होने लगा तब उसका भाव पल्लवित हो गया किन्तु भक्ति-भाव की प्रतिष्ठा तो वास्तव में उस समय हुई जबकि मनुष्य असीम विराट् शक्ति से डरने के स्थान पर प्रेम करने लगा। वहीं से भक्ति के इतिहास का प्रारम्भ होता है।[1] इस प्रकार भक्ति की भूमिका में भय और प्रेम, ये दो क्रमिक सरणियाँ परिलक्षित होती हैं। भय में रक्षा का भाव प्रधान था और प्रेम में प्रिय के आल्हादन का भाव, जिसमें स्वाल्हादन भी निहित था। भय के अनेक आलंबन प्रकट हुए किन्तु विवेक से परिष्कृत प्रेम एकोन्मुख होता चला गया एक असीम शक्ति की कल्पना के साथ अनन्यता एवं आत्मसमर्पण की भावना भी उदित हुई और फिर 'हे मेघों के अधिराज ! तुम वज्र गिराकर अथवा अववर्षण से कृषि नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना" —के स्थान पर "हे इन्द्र जिस प्रकार पिता पुत्रों को अपना दुलार देता है उसी प्रकार आप हमको अपना प्रेम प्रदान कीजिये" अथवा "हे परमात्मन ! आप ही हमारे माता-पिता हैं, हमें अपना प्रेम दीजिये" आदि स्तुतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धर्म-देव वरुण थे। वे ऋत (सत्य) के संरक्षक थे। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही सम्भव माना गया था। लोग अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा की याचना करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-संरक्षक देवता थे। वे लोक-कल्याण के लिए अति पराक्रमी प्रसिद्ध थे। अग्नि देवता होता के यज्ञांश को देवताओं तक वहन करते थे। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को इतना महत्त्व नहीं दिया गया था जितना उनको आगे चल कर मिला। वैदिक काल का मानव अपने जीवन का अभ्युत्थान तप और सदाचार के द्वारा मानता था और उन्हीं के बल पर वह स्वर्ग पाने की कामना करता था।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि भिन्न-भिन्न शक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना के साथ आर्यों ने एकेश्वरवाद

---

१. तुलसी दर्शन, पृष्ठ ३९

पर भी अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की है। इसी कारण वैदिको की निष्ठा एक से दूसरे देव पर बदलती रही। सर्वशक्तिमत्ता का आरोप जिस देव के कार्य मे होता गया उसी की महिमा बढती चली गयी। वरुण से इन्द्र और फिर विष्णु को जो महत्त्व मिला उसका मूल कारण यही था।

ऋग्वेद मे विष्णु (सूर्यदेव) सर्वज्ञ (त्रिविक्रमो सर्वस्य) हैं और वरुण (नभोदेव) स्वर्ग का राजा (भुवनस्य राजा) है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक उद्धरणो से यह भलीभाति प्रमाणित हो जाता है कि एक समष्टि-शक्ति मत्रकाल में ही नाना रूपो और व्यापारो द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियो का प्रतिनिधित्व करने लग गयी थी। आगे चलकर उन सब देवो का ही तत्त्वदृष्टि से एक मे समाहार करके 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा करदी गयी। इससे धर्म के इतिहास में दो नयी बातो का समावेश हो गया—एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी उस परम शक्ति की नाना रूपो मे अभिव्यक्ति। ये ही दोनो तत्त्व आगे चलकर भक्ति के आधार के लिए अनिवार्य सिद्ध हुए।

मानवीय स्वभाव के अनुसार भक्ति की पद्धतियो ने भी दो रूप धारण कर लिये—एक तो वह रूप जिसमे अनेक क्रियाओ से चमत्कृत होकर किसी अदृश्य नियन्ता को प्रधानता दी जाने लगी और दूसरा वह रूप जिसमे उस नियन्ता की वस्तुओ से चमत्कृत होकर प्रत्यक्ष को प्रधानता दी गयी। इन दोनो पद्धतियो मे उनके अपने अपने प्रतीक स्थिर कर लिये गये। इस प्रकार प्रथम पद्धति मे अग्नि-पूजा (यज्ञ मे) और दूसरी मे सूर्य-पूजा प्रतिष्ठित हुई, धीरे-धीरे यज्ञ से रुद्र[1] का तादात्म्य हो गया और सूर्य से विष्णु[2] का। इस प्रकार कालान्तर मे शिव और विष्णु की पूजा ने प्रधानता प्राप्त कर ली। कहने की आवश्यकता नही कि अनेक प्राकृतिक व्यापारो मे सृष्टि, स्थिति और लय का ही विशेष महत्त्व था। अतएव स्थिति और लय के अधिष्ठाता देव के रूप में जहा

---

१ देखिये, प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का शिवाक (कल्याण) में लेख, तथा आचार्य ध्रुव कृत 'हिन्दू धर्म प्रवेशिका'।

२ देखिये, इस सबध मे ए० बर्थ कृत 'दि रिलीजन्स ऑफ इडिया', इस सबध मे भडारकर की सम्मति भी देखने योग्य है।

विष्णु और रुद्र (शिव) का महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ वहाँ सृष्टि के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा का महत्त्व भी अक्षुण्ण रहा किन्तु अदृष्ट की प्रधानता के साथ महाकाल की प्रधानता और प्रत्यक्ष की प्रधानता के साथ महास्थिति की प्रधानता सम्बद्ध रहने के कारण विशेष पूजा के पात्र शिव और विष्णु ही माने गये।[1]

वैष्णव भक्ति का रूप ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। उसमें विष्णु का सर्वोच्च देव का पद दिया गया है और वेदों के वे मंत्र भी जो इतर देवों से सबंधित हैं विष्णुविषयक बना दिये गये हैं। यही देव तैत्तिरीय आरण्यक में नारायणत्व प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ नारायण एक प्राचीन ऋषि हैं जिनको 'पांचरात्र' लोग विष्णु के अवतार के रूप में पूजते हैं।[2]

भक्ति-मार्ग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यकों और उपनिषदों के उपासना काण्ड में हुआ दीख पड़ता है, जो ज्ञान-काण्ड का ही एक अंग है। ज्ञान-काण्ड के दो मार्ग हैं—एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्मपरक ज्ञानमार्ग। कर्मपरक ज्ञानमार्ग में कर्म के साथ बुद्धि और हृदय, दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदय-तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वहीं से भक्ति मार्ग आरंभ हो गया अथवा यों कहिये कि मानवीय बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से संचालन प्रारंभ हो गया।

उपनिषद् काल की धार्मिक परंपरा का आधार उस समय का दर्शन था। वेदों में जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदों में आनन्दस्वरूप, मानव आनन्दका स्रोत भी मान ली गयी। जब वह शक्ति रस और आनन्दमय दीख पड़ी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गयी। उसके पाने की चेष्टा स्वाभाविक

---

१ देखिए, ए० बर्थ—दी रिलीजन्स आफ इंडिया, पृष्ठ २१५ (१८८२ ई० का संस्करण)

२ देखिए, लेखककृत भक्ति-दर्शन, पृष्ठ २०५

हो गयी, पर क्या उसे सब अपने प्रयत्नों से पा सकते हैं? कठोपनिषद ने इसका उत्तर 'नकार' में दिया। वह आत्मा (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न मेधा तथा बहुश्रवण से ही प्राप्य है। वह जिसका वरण करता है उसीको उसकी प्राप्ति होती है। उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है। स्पष्टतः इससे भक्ति मार्ग का अनुग्रह सिद्धान्त प्रतिपन्न हो जाता है। श्वेताश्वतर[1] उपनिषद में अनुग्रह सिद्धान्त की ओर और भी अधिक स्पष्ट संकेत मिलता है। उसीसे प्रपत्ति[2] भी ध्वनित होती है। भक्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों में ही हुआ है किन्तु जिस भक्ति का बीज न्यास वेदमंत्रों में और पल्लवन उपनिषदों में हुआ, वही महाभारत के समय के आसपास विकसित एवं समुज्ज्वल रूपमें प्रकट होती है।

उपनिषद् काल में ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गयी थी। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र में अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई और ब्रह्मज्ञानी पूर्णरूप से निर्भय हुआ। ब्रह्मज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद काल में जो साधारण जनता वैदिक कर्म-काण्ड से ऊब उठी थी, वह भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

वैदिक साहित्य के समान ही प्राचीनता का दावा रखनेवाला आगम-अथवा तन्त्रसाहित्य है। हिन्दी विश्व कोषकार का कथन है कि इस शास्त्र के सिद्धान्त बाहर से यहाँ आये। संभव है वे शकदेश से यहाँ आये हों। वे अधिकांशतः शाक्त सिद्धान्त हैं और सर्वशक्तिमान् को पितारूप में नहीं प्रत्युत माता रूप में भजने की सलाह देते हैं। उन्होंने कई अनार्य[3] पद्धतियाँ भी प्रचलित की हैं। यह सब होते हुए भी उन्होंने आर्य देवों को लेकर और विशेषतः रुद्र शिव

---

१ श्वेताश्वतर उप० ६.२३

२ देखिए श्वेता० उप० ६.२३ तथा २.७

३ देखिए कुब्जिकामत तन्त्र तथा वसुकृत हिन्दी विश्व-कोष, पृष्ठ १६७, बाईसवाँ भाग

को लेकर सर्वशक्तिमान् की साकार कल्पना[1] और विधि विधानमयी उपासना-पद्धतियों तथा मन्त्रों और मंत्र-विधानों की अच्छी सृष्टि की है। भक्ति-मार्ग पर इन ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव[2] पड़ा है। देवीसूक्त ने तो वैदिक साहित्य तक में आसन पा लिया है। शैव सम्प्रदाय भी बहुत कुछ इन्हीं ग्रन्थों पर आश्रित है। वैष्णव सम्प्रदाय के पंचरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत कहे जाते हैं। आज जो तंत्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे वैदिक संस्कृत में न लिखे होने के कारण अर्वाचीन ही जान पड़ते हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के सिद्धान्त वैदिक काल में विद्यमान् नहीं थे। यजुर्वेद का "सहस्वसाम्बिकया त जुषस्व"[3] वाला मंत्र बताता है कि उस समय भी अम्बिका का महत्त्व रुद्र की बराबरी तक पहुँच गया था।"[4]

इनके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग संबंधी अन्य ग्रन्थ पुराण हैं। इनका मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। पुराणकारों ने वैदिक देवताओं और तत्संबंधी कथाओं का जैसा संस्कार किया है उसे देखकर कभी-कभी उनकी प्रतिभा पर विस्मय होने लगता है। पुराणों में देवताओं के आकार, आयुध, वाहन आदि की कल्पना उनके (देवताओं के) गुणों और उनकी कृपाओं के अनुसार की गयी है[5] और इस संबंध में आगमों से पर्याप्त सहायता ली गयी प्रतीत होती है। देवताओं के नाम, रूप, लीला और धाम की महिमा निरूपण भी उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार किया गया है। उनकी आकृति और प्रकृति का तालमेल भी पुराणों का एक अपूर्व अनुदान है। उन्होंने परमात्मा को पूर्ण व्यक्तित्वविशिष्ट निरूपित करके भावुक व्यक्ति के लिए सुलभ कर दिया। इतना ही

---

१. चिन्मयस्या प्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥
—कुलार्णव तंत्र, पटल ५, अध्याय ६

२. आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
नहि देवा प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः ॥—विष्णुयामल तंत्र

३. देखिये, यजुर्वेद ३-५७

४. देखिये, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र—तुलसी दर्शन, पृष्ठ ३९-४०

५. इस संदर्भ में हेवेल महोदय के ग्रन्थ देखने योग्य हैं।

नही पुराणो ने ईश्वरोपासना को लोककल्याण की भावना से युक्त करके उसे सवसाधारण के लिए सरल बना दिया और सात्विक आस्तिक्य और लोक सेवा पर आधारित भक्ति-तत्त्व को स्पष्ट किया।

वैष्णव धम ने कुछ और आगे बढकर आधिभौतिक पचतत्वो के अनुसार परमात्मा को जिन पाच रूपो मे व्यक्त किया व ह सूय गणेश देवी शकर और विष्णु। काल क्रम से सूयपूजा शिथिल होता गयी और तात्रिक लोगो से अपनायी जाने के कारण गणपति तथा देवी का पूजा भक्ति-माग म गौण बन गयीं। सूयपूजा को नवग्रह पूजा म समाविस्ट करके और गौरी-गणेश को प्रथम पूजा का अधिकारी मान कर भक्तो ने उनस छुट्टी ली। भक्ति-क्षत्र म शव सम्प्रदाय का दौर दौरा रहा किन्तु भावुको के लिए वह वष्णव सम्प्रदाय के समान प्रबल आकषण प्रदान न कर सका। परिणाम यह हुआ कि भक्ति का प्रामुख्य वष्णव सम्प्रदाय के हाथो मे आगया। वष्णव भक्ति ने तत्त्वात नियमत से कर्मांश (अनुष्ठान विधि साधन क्रिया आदि) आगम साहित्य से तथा भावाश (नाम रूप लीला और धाम से सबधित अनुरक्ति) पुराण-साहित्य से लेकर अपने को पुष्ट एव सुडौल बनाने का सफल प्रयत्न किया।

कहने की आवश्यकता नही कि रुद्र का महत्त्व ऋग्वेद-काल में ही परिवद्ध हो चुका था। यजुर्वेद ने उसको और भी व्यवस्थित किया। यजुर्वेद की रुद्राष्टाध्यायी तो आज तक शिव पूजा मे व्यवहृत होती है। महादेव पूजन के मूल म आर्यों और अनार्यों की सस्कृति का समन्वय तो दीख ही रहा है साथ ही उससे उस समय शिवपूजा के प्राधान्य का परिचय भी मिलता है। देव और राक्षस दोनो ही समान रूप से शिव भक्त होते थे यह बात आर्यों और अनार्यों के सास्कृतिक समन्वय का सकेत देती है। यही शिव पूजा बाद में अनेक सम्प्रदायों मे प्रकट हुई जिनमे पाशुपत सप्रदाय (नकुलीश सम्प्रदाय) कालामुख सप्रदाय (अघोरी) शैव सप्रदाय (कश्मीर मे) और वीर शैव सप्रदाय अथवा वसव सम्प्रदाय या लिंगायत सप्रदाय प्रमुख ह। विष्णु की उपासना का इतना प्रचार क्यो हुआ यह एक मार्मिक प्रश्न है। वह शायद इसलिए हुआ कि विष्णु पूजा को अपने प्रवतन के लिए कृष्ण के समान सावभौम आराध्य जो मिल गया।

भक्ति का तात्त्विक निरूपण सबसे पहले भगवद्गीता में मिलता है जो महाभारत का एक अश है। महाभारत काल के आस-पास भगवान् का जो

उपास्य स्वरूप सामने आया वह बहुत व्यापक था। यादव-नेता श्री कृष्ण को उस समय विष्णु का अवतार मान लिया गया था जिसने अर्जुन को अपने विराट रूप का परिचय दिया था। एक ही देव वासुदेव में गुण-समष्टि की कल्पना उनके विराट स्वरूप को सिद्ध करती है। वासुदेवोपासना परम व्याकर्ता पाणिनि (५० ई० पूर्व) के समय में भी प्रचलित थी।

भगवान् वासुदेव के भक्त भागवत कहलाए। यह कहा जाता है कि वैदिक धर्म में सबसे पहला और सबसे प्रबल सुधार करने वाले श्री कृष्ण थे और वही वैष्णव धर्म के आदि आचार्य भी माने जाते हैं।

महाभारत की कुछ कथाओं से ऐसा इंगित भी मिलता है कि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, वसिष्ठ आदि भी भक्ति के आचार्य हो गए थे[1] किन्तु उनका कोई गीता जैसा ग्रन्थ नहीं मिलता और न उनकी ऐतिहासिकता के संबंध में कोई प्रमाण ही मिलते हैं। श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। ऋग्वेद संहिता में श्री कृष्ण का नाम आया है। वे कई सूक्तों के रचयिता हैं। यजुर्वेद में कृष्ण केशी नामक असुर को मारने वाले कहे गये हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण का उल्लेख मिलता है और वहाँ वे ऋषि घोर आंगिरस के शिष्य बतलाये गये हैं। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि जैसे वैयाकरणों की कृतियों में वासुदेवक जैसे शब्द और 'कंस-वध' जैसी लीलाओं का उल्लेख है। साथ ही 'चिरहते कंसे,' "जघान कंस किल वासुदेव" जैसे वाक्यों में 'चिर' और 'किल' शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि श्री कृष्ण इन वैयाकरणों से पहले हुए थे।

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र[2] को बौद्धों के ललितविस्तर में बुद्ध के समय वासुदेवक, पाञ्चरात्र आदि वैष्णव सम्प्रदायानुयायियों के विद्यमान होने का उल्लेख भी मिला है। निद्देश (बौद्ध ग्रन्थ) और उत्तराध्ययन सूत्र (जैन ग्रन्थ) भी वासुदेव की चर्चा करते हैं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के मेगास्थनीज ने भी मथुरा, कृष्णपुर, यमुना, शौरसेन और हरिकुल ईश का उल्लेख किया है। बेस-

---

१. देखिये, वसु उपरिचर और चित्रशिखण्डियों की कथाएं (महाभारत में)

२. देखिये, तुलसी-दर्शन, भक्ति का विकास

नगर (ई० २०० पूर्व) और घासुण्डी (उससे पहले का) के शिलालेखों में भी 'देवदेवस वासुदेवस'[1] और 'संकर्षण और वासुदेव' की पूजा' का उल्लेख मिलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि शैव, वैष्णव और महायान धर्मों का एक दूसरे पर गहन प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मों में मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी। इतना ही नहीं जैनधर्म के अनेक सिद्धान्त भी वैष्णव धर्म में आ मिले। इधर जैन-धर्म में भी प्रेम-तत्त्व की वृद्धि होने लगी। इस प्रकार वैष्णव धर्म एक पुष्ट स्वरूप लेकर खड़ा हुआ।

कहा जा चुका है कि भक्ति का प्रधान ग्रन्थ गीता महाभारत का ही एक अंग है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह उपनिषदों का सार है। फिर भी गीता की अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन उपनिषद् स्पष्टतः अद्वैतपरक हैं। गीता में ईश्वरवादी तत्त्व का प्राधान्य है और उसमें भक्ति का महत्त्व अधिक है। उपनिषदों के वैराग्य और सन्यास को गीता में कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गयी है। साथ ही सन्यास की वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श को लोक-जीवन के कर्तव्य और धर्म से समन्वित करने का प्रयास भी स्पष्ट है। समन्वय की भावना गीता की विशेषता है। अतएव गीता का धर्म एक नया धर्म है जो वैदिक धर्म का एक संशोधित रूप है।

इस धर्म में कामना से पूर्ण द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा मानसिक साम्य के ज्ञानमय यज्ञ (त्याग) को प्रधानता दी गयी। लोक-संग्रह-प्रवर्तक वैष्णव भाव को महत्त्व देकर गीता ने ऐश्वर्य और विलास को एक बड़ी भारी चुनौती दी। मुक्ति का द्वार मनुष्यमात्र के लिए खोल दिया गया और भगवान् की शरण में आने का अधिकार हर किसी को दे दिया गया। 'अनासक्ति' पर बल देकर लोगों की प्रवृत्ति दैवी संपत्तियों की ओर बढ़ायी गयी। ऐसी बात नहीं कि वैदिक साहित्य में इन सिद्धान्तों का अभाव था किन्तु गीता की विशेषता

---

१. देखिये, भंडारकर कृत 'वैष्णाविज्म एण्ड शैविज्म'

२ देखिये, राय चौधरीकृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट'

सो यह थी कि इसमें उपादेय विषयों को चुनकर लोक सग्राह्य रूप दिया गया और इसी में श्रीकृष्ण की महत्ता निहित है।

श्री कृष्ण ने नव धर्म का प्रवर्तन अवश्य किया और यह भी कहा कि 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' किन्तु वेदों की निन्दा में एक वाक्य भी नहीं लिखा। फिर भी धार्मिक सशोधन स्पष्ट है। इस कुशल सस्कार का फल यह हुआ कि 'ब्राह्मण धर्म' अलक्षित रूपसे वैष्णव धर्म मे परिणत हो गया।'

श्रीकृष्ण के महत्त्व का एक बड़ा प्रमाण तो इसमे निहित है कि उनके समकालीन भीष्म और व्यास जैसे अतुल शक्तिशाली और अतुल विचारशील महापुरुष भी उनके अनुयायी हो गये और उनका समग्र कुटुम्ब "इस नवीन धर्म में दीक्षित होकर वैष्णवो के लिए 'सात्वत' और 'वार्ष्णेय' सरीखे शब्दो की धरोहर छोड गया जो वैदिक साहित्य तक मे पाये जाते हैं।"[१] उनके 'निष्काम कर्म' और 'अहिंसा धर्म' की दुदुभि भारत मे ही नहीं विदेशों तक मे जा बजी।

भक्ति-मार्ग का लक्ष्य कथा के सहारे निराकार को साकार के रूप में प्रस्तुत करके समझाना है। जिस परमात्मा को इन्द्रिया, वाणी और मन से परे बतलाया जाता है उसीको भक्ति-भाव ने भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बना दिया है। सभवत इस भाव की सम्यक् अनुभूति सबसे पहले नारायण ऋषि ने की थी। पुरुषसूक्त मे परमात्मा ने कदाचित् सबसे पहले पुरुष की सज्ञा प्राप्त की। यह रचना 'कलात्मक भाव' का एक अपूर्व उदाहरण है। आश्चर्य की बात नहीं कि श्रीकृष्ण ने नारायण ऋषि के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर उनको अतिमानवी महत्त्व दिया हो। राय चौधरी[२] का कहना है कि परमात्मा के लिए नारायण नाम का प्रयोग सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण मे दिखायी पड़ता है और तैत्तिरीय आरण्यक मे वह (नारायण नाम) विष्णुवाचक है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् की रचनाओं में विशेष अन्तर नही है। अतएव यह अनुमान भी अनुचित नही

---

१. देखिये, तुलसीदर्शन—भक्ति का विकास

२ देखिये, राय चौधरी—'अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट' पृष्ठ ६, (१९२० का सस्करण)

है कि कृष्ण के अनुयायियों ने उनके व्यक्तित्व में विष्णु और नारायण की विभूति का चमत्कार देख कर तीनों में अभेद घोषित कर दिया हो।

स्वर्गीय भंडारकर ने नारायण को काल्पनिक (दार्शनिक) देव बतलाया है। वे गोपालकृष्ण को वासुदेवकृष्ण से भिन्न मानते हैं किन्तु श्री कृष्णस्वामी आयंगर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया' में अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोपाल-कृष्ण और वासुदेवकृष्ण एक ही थे। लेखक भी इसी मत से सहमत है क्योंकि नारायण को दार्शनिक या काल्पनिक मानने के लिए कोई विशेष तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया। कृष्णानुयायियों की भावना ने वैष्णव धर्म में अवतारवाद की प्रतिष्ठा करके कृष्ण के पूर्ववर्ती महापुरुषों को विष्णु के अवतारों में समाविष्ट कर लिया। जिस किसी महापुरुष ने लोक मंगल का भार सँभाला वही अवतार की सूची में सम्मिलित होगया। परिणामतः कपिल, ऋषभदेव, राम, परशुराम, व्यास, गौतम बुद्ध आदि के नाम अवतारों की सूची में आ गये।

विष्णु के अवतारों में सबसे अधिक महत्त्व राम और कृष्ण को दिया गया किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि राम की महिमा श्रीकृष्ण के बहुत पीछे उदित हुई। भंडारकर महोदय का यह कहना है कि राम को अवतार के रूप में ईसा के पहले ही स्वीकार कर लिया गया था किन्तु राम-भक्ति का प्रचार लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। वाल्मीकि रामायण के वे अंश प्रक्षिप्त माने जाते हैं जिनमें राम के ईश्वरत्व पर जोर दिया गया है। वैदिक साहित्य में तो राम का उल्लेख लगभग नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन साहित्य में भी रामविषयक सामग्री बहुत ही कम मिलती है। प्राचीन शिलालेख भी राम के संबंध में प्रायः मौन हैं। राम के आवतारिक महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों की (जैसे अध्यात्म रामायण, रामरहस्य, रामपूर्वतापिनी, रामउत्तरतापिनी, आदि आदि) प्राचीनता पर विद्वानों को संदेह है। जो हो, राम के चरित्र में वाल्मीकि ने वह प्रभाव भर दिया था कि भारतीय जनता स्वतः ही उस ओर आकृष्ट हो गयी और राम-भक्ति देश के कोने-कोने में छा गयी।

राम के प्रभाव को प्रखर एवं पूर्ण बनाने में रामायण के अतिरिक्त कालिदास, भास और भवभूति आदि की रचनाएँ भी अपना महत्त्व रखती हैं। कालिदास का रघुवंश राम के साथ राम के परिवार को भी महत्त्व प्रदान करने में सफल हुआ है। तीसरी शती के आसपास भास के नाटकों ने राम के चरित्र को उज्ज्वल दिखाने में भरसक प्रयत्न किया। सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में भवभूति ने महावीर चरित्र और उत्तररामचरित लिख कर राम-काव्य के उत्थान में एक बड़ा अध्याय जोड़ा। उत्तररामचरित में लोक-सेवा और आत्म-त्याग जीवन-साधना के प्रतीक हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वैष्णव-भक्ति के प्रचार में पुराणों का भी बहुत बड़ा योग रहा है। इनके मूल स्रोत को वेदों में देख कर भी हम रामायण और महाभारत से इनके अटूट संबंध की उपेक्षा नहीं कर सकते। यों तो वैदिक काल में भी पुराण कोटि के साहित्य के उल्लेख मिलते हैं किन्तु पुराणों का वर्तमान रूप पाँचवीं शती से मिलने लगा है और तभी से भक्ति-संबंधी अनेक ग्रन्थों को भी प्रेरणा मिलने लगी। वैसे तो पुराणों में भी संप्रदायों का प्रभाव दिखायी पड़ता है किन्तु उपपुराणों में साम्प्रदायिक विषयों की चर्चा अधिक है।

अधिकांश पुराणों का दार्शनिक आधार ईश्वरवादी है। उपनिषदों के दुर्ग्राह्य निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण और साकार परमेश्वर जनसाधारण के लिए सुग्राह्य है। यद्यपि लिंग, स्कंद, शिव आदि पुराणों में शिव को प्रधान माना गया है किन्तु अधिकांश पुराणों में विष्णु के प्रभुत्व की स्थापना की गयी है और उन्हीं के अवतारों का वर्णन है। पुराणों में उपासना को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। इसीलिए उसका उनमें अच्छा निरूपण मिलता है। वैष्णव भक्ति के संबंध से अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत है। इसका प्रधान विषय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मनोहर कथा है। दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है जिसमें विष्णु की महत्ता का वर्णन है। ब्रह्म, पद्म, नारद और ब्रह्मवैवर्त पुराण भी विष्णु के महत्त्व की स्थापना करते हैं। वाराह, वामन, कूर्म और मत्स्य पुराण में विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन है। विष्णु अथवा शिव की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले इन पुराणों में सहिष्णुता का दृष्टिकोण सामान्य है।

वैदिक साहित्य में वैष्णव धर्म ऐकान्तिक धर्म ही था। गीता[1] के समय तक अवतारवाद स्थिर हो चुका था। महाभारत के नारायणीय धर्म के समय तक 'चतुर्व्यूह' की चर्चा भी चल पड़ी थी और पुराणों के रचना-काल तक वैष्णव धर्म की अनेक शाखाएँ भी पुष्ट हो गयी थीं। पद्म पुराण में वैष्णव धर्म के चार[2] सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे ही चारों सम्प्रदाय क्रमशः रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित हुए, यह भी पद्मपुराण में जोड़ दिया गया है।[3]

गीता और भागवत वैष्णवों के प्रधान ग्रन्थ हैं जिनमें गीता की प्राचीनता सिद्ध है और उसमें भक्ति का कर्मज्ञान-समन्वित रूप प्रत्यक्ष हुआ है किन्तु भागवत में कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतन्त्र क्षेत्र तैयार किया गया। गीता और भागवत काल के बीच में भक्ति-मार्ग में जो विकास हुआ उसका अपना महत्त्व है। धीरे धीरे भक्ति मार्ग से लोक धर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना में भगवान का लोक रक्षा और लोक मंगल वाला स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गयी जो अत्यन्त गहन और प्रगाढ़ प्रेम का आलंबन हो सके। नारदीय भक्ति-सूत्र में भक्ति को 'परम प्रेम रूपा' कहकर इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है। शाण्डिल्य ने भी अपने भक्ति सूत्र में भक्ति को ईश्वर विषयक परमरति बतलाया है। भक्ति का यह नवीन रूप एक भाव था जो भक्त को ईश्वर की उपासना, उसके सर्वत्र दर्शन और सान्निध्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता था। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का मधुर फल है। इस ग्रंथ में यह सूचित किया गया है कि 'सात्वत धर्म' या 'नारायण ऋषि का धर्म' नैष्कर्म्य

---

१ विद्वानों का अनुमान है कि गीता का निर्माण श्रीकृष्ण के बाद तथा महाभारत से पहले हो चुका था।

२ रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥
—पद्मपुराण (वसु के हिन्दी विश्वकोष में)

३ देखिये तुलसीदर्शन—भक्ति का विकास

४ देखिये रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, भक्ति का विकास

लक्षण'[1] है। इसमे भक्ति को पूरी प्रधानता न मिलने से ही भागवत पुराण कहा गया है।[2] आगे चलकर यही भागवत पुराण कृष्णोपासको के प्रेमलक्षणा भक्ति-योग का प्रधान ग्रथ हुआ और उसमे प्रकाशित श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम या भक्ति का आलबन हुआ।

विद्वानो ने भागवत का रचना काल ईसा की ६०० से ८०० शताब्दी के बीच माना है। इसमे कृष्ण को प्रेम के आलबन के रूप मे स्वीकार किया गया है। मनोहर बालक प्रेमी युवक राजनीतिज्ञ दार्शनिक और साक्षात् ईश्वर इन सभी रूपो मे भागवत ने कृष्ण का चित्र प्रस्तुत किया है। यह युगान्तकारी ग्रथ सिद्ध हुआ न केवल नये भाव सिद्धान्त के कारण वरन् उत्कृष्ट साहित्यिक सौदर्य के कारण भी। देश ने शीघ्र ही इसके प्रभाव की प्रधानता स्वीकार करली। प्रत्येक प्रात मे पौराणिको ने इसके भावो और अभिव्यक्ति के रूपो को गावो के द्वार द्वार पर पहुँचा दिया। शुद्ध भक्ति को भागवत में अति मनोहर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई।

भागवत पुराण के अनुसार कलियुग मे भक्ति द्रविड देश मे ही पायी गयी। अनुमान किया जाता है कि द्राविड सत ११ वी शताब्दी के पूर्व हो चुके होगे। कृष्णस्वामी आयगर ने इन भक्तो के नाम समय क्रम से इस प्रकार दिये हैं—पोयगै आलवार भूतत्तार पय आलवार नम्मालवार (वराकुश मुनि) पेरि आलवार, आण्डल तोण्डरडिप्पोल (विप्रनारायण), तिरुप्पन आलवार, तिरुमर्सि आलवार। इनके अतिरिक्त मधुर कवि और कुलशेखर दो अन्य प्रसिद्ध आलवार भी हो गये हैं। विद्वानो[3] के निर्णय के अनुसार प्रथम आलवार का समय पाचवी या छठी शताब्दी माना गया है।

आलवारो के मत को उनके गीतो से समझ सकते हैं जो 'प्रबन्धम्' मे सगृहीत हैं। सहस्रगीत नाम का एक और प्रसिद्ध सग्रह आलवारो की भक्ति से

---

१ भागवत १ ३ ८ तथा ११ ४ ६

२ भागवत १ ५ १२

३ यह भडारकर महोदय का मत है।

संबंधित मिलता है। कहा जाता है कि ये गीत शठकोपकृत हैं। आलवारों के उपास्य विष्णु या नारायण रहे हैं। डा० राधाकृष्णन का कहना है कि आलवारों ने ईश्वर को प्रेमी मान कर उपासना की है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि करने के लिए नम्माल्वार की यह उक्ति उद्धृत की है—'ओ स्वर्ग के महत्त्वपूर्ण प्रकाश, तुम मेरे हृदय में हो और मेरी आत्मा का भोग कर रहे हो। तुम्हारे साथ मेरी एकता कब होगी ?'' इस ग्रन्थ का लेखक इस मत से सहमत नहीं है कि आलवारों की भक्ति केवल माधुर्य-भाव की है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस भाव को अपनी भक्ति में प्रधानता दी है।

आलवार-गीतों से सिद्ध होता है कि वे विष्णु तथा उनके अवतार राम-कृष्ण की भक्ति-वात्सल्य तथा दास्य भाव से भी करते थे। वे भगवद्भक्तों की सेवा को भी भगवान की सेवा का ही एक अंग मानते थे। 'प्रपत्ति' और 'आत्म-समर्पण' उनकी भक्ति के मूल मंत्र हैं। इनके द्वारा कोई भी भक्त भगवान को प्राप्त कर सकता है। इसमें जाति, पद और संस्कृति का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

आलवारों के पश्चात् दक्षिण में कुछ आचार्यों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने आलवारों की भक्ति के सिद्धान्तों का वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता आदि के प्रमाणों से प्रतिपादन किया। इन आचार्यों में नाथमुनि सबसे पहले थे। इनका समय ८२४ ई० और ९२४ ई० के बीच में माना जाता है। उनके बाद इस धर्म के प्रचारक और भी आचार्य हुए जिनमें पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र तथा यमुना-चार्य प्रसिद्ध थे। यामुनाचार्य ने 'प्रपत्ति सिद्धान्त' को पुष्ट एवं प्रचारित करने में अटूट प्रयत्न किया। वे सन् १००० ई० के आसपास विद्यमान थे। उन्हीं के प्रपौत्र रामनुजाचार्य थे। यामुनाचार्य के आदेश से ही रामनुजाचार्य ने महर्षि-बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर अपनी टीका लिखी थी। इस दिशा में यादवप्रकाश ने उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उन्हीं रामानुज ने भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतः दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके विशिष्टाद्वैत मत' का रूप दिया। रामनुज ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इनके अतिरिक्त दक्षिण के

---

१ देखिये, डा० राधाकृष्णन—इंडियन फिलासफी, पृष्ठ ७०८

आचार्यों म निम्बार्क, मध्व और वल्लभ भी बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्होंने अपनी अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलायी।

निम्बार्क का उदय १२ वी शताब्दी म हुआ बतलाया जाता है। कहा जाता है कि उन्होने तैलगाना मे सन् ११५० ई० के आसपास सनक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसम राधाकृष्ण की शुद्ध भक्ति पर जोर दिया। मध्वाचार्य का समय सन् ११६७ ई० से सन् १२७६ ई० तक माना जाता है। इन्होंने द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय की नीव डाली। इनके पश्चात् वल्लभ का उदय हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रथो एव किंवदतियो से ऐसा सकेत मिलता है कि वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी सप्रदाय की उच्छिन्न गद्दी को ही सुशोभित किया और उसी सम्प्रदाय के सिद्धान्ता के आधार पर अपने सिद्धान्तो को प्रतिष्ठित किया। यह मान्यता है कि महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सत ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम विष्णुस्वामी के मत के ही अनुयायी थे।

भागवत सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थो के रूप म पाचरात्र सहिताओ का बडा महत्त्व है। शकराचार्य ने इनकी उपासना-पद्धति के पाच भेद बतलाये हैं—१. अभिगमन (मन वाणी और कर्म से आराध्य म केन्द्रित होकर उसके मदिर म जाना), २ उपादान (पूजा की सामग्री), ३. इज्या (पूजा), ४. स्वाध्याय (मन्त्रोच्चार आदि), तथा ५ योग-साधना, ध्यान आदि। 'ज्ञानामृतसार' मे हरिपूजा के ६ प्रकार कहे गये हैं—स्मरण, नामोच्चार, नमस्कार, पाद-सेवन, भक्तिपूर्वक पूजा और आत्मसमर्पण। भागवत पुराण मे श्रवण, सेवा और सख्य, ये तीन और जोड दिये गये हैं।

कहने की आवश्यकता नही है कि पाचरात्र का प्रामाण्य उपर्युक्त सभी आचार्यों को मान्य है परन्तु श्री वैष्णव मत पर पाचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव पुराणो म विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ ने समाहृत किया। वैष्णवो के प्रधान ग्रन्थो म गीता को नही भुलाया जा सकता।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति की नयी धारा को प्रामुख्य देने वाला ग्रन्थ भागवत पुराण था। इसम भाव-भक्ति का महत्त्व होते हुए भी राधा का कोई उल्लेख नही है। रामानुज के समय म भागवत का प्रचार हो गया

था और उन्होंने उस पर श्री भाष्य लिख कर उसकी मान्यता स्थापित की, किन्तु भागवत के कृष्ण के स्थान पर रामानुजीय भक्ति मे विष्णु प्रमुख रहे हैं। लक्ष्मी जी उनकी परमप्रिया रही। भागवत मे गोपियो की भक्ति माधुर्य भाव को तो व्यक्त करती है किन्तु सब गोपियाँ परकीया के रूप मे ही चित्रित हुई हैं। इसमे सदेह नही कि राधा का उदय भागवत के उपरान्त भक्ति की नयी धारा के प्रवाह मे ही हुआ है। भागवत में 'येनाराधितो भगवान् हरिः' से यह सकेत तो मिल जाता है कि कृष्ण को एक गोपी अत्यन्त प्रिय है, किन्तु राधा का नाम नही मिलता। ८५० ई० के आसपास 'ध्वन्यालोक' मे श्रीकृष्ण के साथ-साथ राधा की पूजा भी दिखायी गयी है और ६८० ई० के आसपास राधा कृष्ण की भार्या के रूप में दिखायी देने लगी है। धारा के राजा अमोघवर्ष के शिलालेख (६८० ई० के आसपास) से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

यह कहने की आवश्यकता नही कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढग से प्रतिपादन करने का पूर्व श्रेय निम्बार्काचार्य को ही है। उन्होंने अपनी 'दशश्लोकी' मे सकल मनोवाछाओ को पूर्ण करने वाली कृष्ण के वामाग म विराजित और सहस्रो सखियो से सेवित राधा की प्रार्थना भी कृष्ण की स्तुति के साथ की है जिससे 'युगलोपासना' के साथ-साथ माधुर्य तथा प्रेम-शक्ति स्वरूपा राधा की उपासना को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ।

"श्री मद्भागवत मे कृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति-क्षेत्र मे गोपियो के ढग के प्रेम का, माधुर्य-भाव का द्वार खुल गया। सब सम्प्रदायो के कृष्ण भक्त भागवत मे वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले क्योकि उन्होंने अपनी प्रेम-लक्षण भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। वे कृष्ण को केवल प्रेम-क्रीडा के एकान्त क्षेत्र मे रख कर ही देखते रहे। यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोक-कटक आततायियो का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्ण भक्तो ने भगवान् के स्वरूप मे प्राय सौन्दर्य को ही देखा।"[1] इस का प्रभाव राम-भक्ति धारा पर भी पडा किन्तु अधिकाश राम-भक्तो ने राम को

१. रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, पृष्ठ १३२

मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का ही प्रयत्न किया। जो निर्गुण एवं निराकार राम के उपासक थे वे कबीर भी 'माधुर्य-भाव' से अभिभूत हुए बिना न रह सके और 'राम की बहुरिया' बन बैठे। यह ठीक है कि उन्होंने कृष्ण की लीलाओं को नहीं अपनाया किन्तु गोपी-कृष्ण की प्रेम-प्रवृत्ति को उन्होंने बड़ी तत्परता से स्वीकार किया।

यह दुहराना अप्रासंगिक न होगा कि दक्षिण के आचार्यों में भक्ति के क्षेत्र में रामानुज का नाम तो इसलिए अमर रहेगा कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को एकदम भारतीय रूप देकर और श्रुतिसम्मत बनाकर प्रस्तुत किया है और निम्बार्काचार्य का नाम इसलिए प्रसिद्ध रहेगा कि उन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति में 'माधुर्य भाव' भर कर उसका उत्तर में प्रचार किया। रामानुज ने कट्टर वैष्णव की भांति लक्ष्मीनारायण की पूजा चलायी और निम्बार्क ने कृष्ण की। निम्बार्क की चलायी हुई भक्ति-धारा अपने माधुर्य-भाव की लहरों में अब तक लहराती चली आ रही है। राम-पूजा का श्रेय रामानुज को नहीं है वरन् महात्मा रामानन्द को है जो रामानुज की शिष्य-परम्परा में १४ वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। यों तो मध्व ने भी राम-पूजा की ओर रुचि दिखायी किन्तु उनको उसके प्रचार में रामानन्द की सी सफलता न मिल सकी। रामानन्द ने वैष्णव-धर्म में तीन बड़े सुधार किये—एक तो उन्होंने भक्ति-मार्ग में जाति-भेद की संकीर्णता मिटायी, दूसरे संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में उपदेश देना प्रारंभ किया और तीसरे लोकमर्यादानुकूल सदाचारमूलक राम-भक्ति पर जोर दिया।

यह रामोपासना आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गयी। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तमत के महात्माओं ने निर्गुण ब्रह्म को राम और राम को निर्गुण ब्रह्म कहकर भजन किया और रामानन्दी वैष्णव वैरागियों ने सगुण साकार राम की उपासना को चलाते हुए प्राचीन परंपरा को पुष्ट किया। रामानन्द पर योगि-सम्प्रदाय का प्रभाव होते हुए भी उनकी सगुणोपासना-पद्धति अक्षुण्ण थी किन्तु बाद में रामोपासना को निर्गुण निराकारोपासना की धारा में बहा ले जाने में योगिसम्प्रदाय के साथ सूफी-सम्प्रदाय भी कारण बना। परिणामतः रामोपासना की निर्गुणधारा में ध्यान की एकाग्रता पर बल दिया गया। ...र की निर्गुण-राम-भक्ति में ये सब लक्षण विद्यमान हैं।

एक नयी कड़ी—कबीर की माधुर्य-भाव की भक्ति के लिए रामानन्द के सिद्धान्तो मे भी बीज-न्यास हो चुका था। यद्यपि रामानद ने 'माधुर्य-भाव' की भक्ति का कोई विवेचन प्रस्तुत नही किया और न ऐसा सकेत ही दिया है जिससे उनकी प्रवृत्ति इस प्रकार की भक्ति-पद्धति की ओर प्रकट हो। फिर भी उन्होने भक्त और भगवान् के बीच भार्या-भर्तृत्व-सबध एव भोग्य-भोक्तृत्व-सम्बध को स्वीकार करके 'माधुर्य-भक्ति' के अस्तित्व एव महत्त्व को तो स्वीकार किया ही है। इसलिए कबीर के माधुर्य-भाव मे केवल सूफियों का प्रभाव ही नही खोजा जा सकता अपितु भारतीय परम्परा का प्रभाव भी देखा जा सकता है जिसके लिए निम्बार्क ने पहले से ही भूमि तैयार कर दी थी जिसको रामानद ने भी अस्वीकार नही किया।

कबीर की निर्गुणोपासना में जो माधुर्य-भाव है उसमे लीला-पक्ष का अभाव है और ध्यान-पक्ष प्रबल है और ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अत पति के रूप का मूल मे ही आरोप करना पड़ता है। कृष्ण-भक्ति-मार्ग मे जो कृष्ण लिये गये है वे वास्तव मे शृ गार के आलबन रहे हैं, परन्तु सूफी-मत म प्रियतम का आरोप मात्र है। इस कारण सूफी-भक्तो मे माधुर्य-भाव रहस्यवाद का एक अग बन गया है।

वैष्णव भक्ति को परपरा में कबीर की भक्ति—कबीर की राम-भक्ति वैष्णव भक्ति है चाहे उनके राम रहीम के वाचक ही सही। उन्होंने शुक, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, ध्रुव, अबरीष, प्रह्लाद, विदुर आदि जिन भक्तो के उदाहरण[1] दिये है वे सब वैष्णव भक्ति की धरोहर हैं। इसके अतिरिक्त 'चक्रसुदर्शन धारयो' आदि अनेक वाक्यो से भी यही प्रमाणित होता है कि कबीर की प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति मार्ग की ओर ही थी 'विष्णु ध्यान सनान करि दे' मे भी वैष्णव भक्ति की ओर ही कबीर के भाव का पलड़ा झुका दिखायी पड़ता है चाहे कबीर की दृष्टि में विष्णु का पुराण प्रतिष्ठित रूप भले ही न रहा हो। 'वैष्णव की छपरी भली' अथवा 'वैष्णव की कूकरि भली' आदि उक्तियो से भी वैष्णवो के प्रति कबीर

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१६, ३०२, ३१६, ३२०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१८

की आदर भावना प्रकाशित होती है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि कबीर किसी भी वैष्णव का सम्मान करते हैं। पाखंडी वैष्णव का सम्मान उनके हृदय में बिल्कुल नहीं है। इसीसे वे सुना भी देते हैं—

> 'वैष्णव हुआ त क्या भया, माला मेली चारि।
> बाहर कंचनवा रहा, भीतरि भरी भंगारि[1]॥'

वैष्णव भक्ति की एक विशेषता यह रही है कि उसमें भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है। 'दवाना मानसी सृष्टि'[2] 'यादृशी भावना यस्य', 'सातु परमप्रेमरूपा यथा व्रजगोपिकानाम' 'जाकी रही भावना जैसी तिन देखी प्रभु मूरति तैसी' आदि उक्तियाँ भी हमारी आंखों के सामने वैष्णव भक्ति में भावना का स्थान ला देती हैं। कबीर ने भी अपनी भक्ति में भावना की प्रधानता को गिरने नहीं दिया। कबीर ने 'भाव भगति' पर ही विशेष बल दिया है। उसके बिना यमपुर से बचना असंभव है। 'भगति नारदी रिदै न आई' से वैष्णव भक्ति और भावना की प्रधानता दोनों सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त नारद ने भक्ति-सूत्र में जिन तेरह आसक्तियों का निरूपण किया है वे भावाश्रित हैं। उनमें से विरहासक्ति तो भावना का चरमोत्कर्ष है।

विरहासक्ति के इस चरमोत्कर्ष को देख कर बहुत से लोगों का ध्यान कबीर पर सूफियों से आये हुए प्रभाव की ओर चला जाता है और यह कोई विस्मय की बात नहीं है। निस्सन्देह कबीर की विरह-तीव्रता में सूफी प्रभाव है किन्तु इसे एकान्ततः सूफी प्रभाव कहना भी अधिक न्याय संगत प्रतीत नहीं होता। कबीर की विरह भावना में तीव्रता चाहे सूफियों से आयी हो किन्तु उसकी प्रतिष्ठा भारतीय माधुर्य भावना के अनुकूल है। वह एक ऐसा संगम है जिसमें भारतीय और अभारतीय दोनों धाराओं को देख सकते हैं। जो हो इससे कबीर के भक्ति मार्ग का रूप खंडित नहीं होता। 'नारदी भक्ति' 'अथवा दशधा भक्ति' जैसे पदों से कबीर की भक्ति में आसक्ति का स्थान स्पष्ट हो जाता है। ईश्वरासक्ति कबीर की भक्ति का प्राण है जो विरह-दशा में उत्कट रूप

---

१ कबीर ग्रंथावली, परिशिष्ट साखी १३८
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ३२४

धारण कर लेती है। कबीर की भक्ति जिसे उन्होने 'भाव भगति' से प्रकट किया है, 'प्रेमा भक्ति' है जिसमें सयोग के चित्र भी प्रकट हुए है। सयोग और वियोग, दोनो दशाओ के चित्रो को मिला कर देखने पर भी यह कहना कि कबीर का भक्ति-मार्ग वैष्णव भक्ति-मार्ग नहीं है, अनुचित ही होगा।

कबीर ने वैष्णव भक्ति की शृ खला को सुरक्षित रखते हुए भी एक कडी को बदल कर दूसरी को लगा दिया है और वह कडी है निराकार और निर्गुण की उपासना। कहने की आवश्यकता नही कि गीता ने जिस भक्ति को प्रस्तुत किया था उसम सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार, दोनो की उपासना के लिए अवकाश था किन्तु उसने साकारोपासना के भविष्य के लिए कुछ अधिक आकर्षक धरातल निर्मित कर दिया था। वैष्णव पुराणो ने उसका अधिक उपयोग किया। परिणाम यह हुआ कि निर्गुण-निराकारोपासना सगुण-साकारोपासना की पृष्ठभूमि में चली गयी। फिर भी इस तथ्य का कोई भी पुराण न दबा सका कि भक्ति की चरम परिणति निर्गुण एव निराकार की उपासना में होती है।

इसमे सन्देह नही कि सगुण और साकार की उपासना के रूप में पुराणो ने उपासक को जो सीढी दी थी वह वास्तव मे प्रारंभिक सीढी थी और भक्ति-भावना को दृढ करने मे उसका अपना महत्त्व था, किन्तु अध भक्तो के सबंध मे उसने अपने महत्त्व को खो दिया और कबीर के समय के आसपास भक्ति समाज की प्रगति में बाधा बन गयी। जो भारतीय मानस के लिए वरदान बन कर अवतीर्ण हुई थी वही समाज के लिए अभिशाप बन गयी। जिस प्रकार महात्मा कृष्ण ने अपने उपदेशो से वैदिक धर्म में प्रविष्ट हुए विकारो का बहिष्कार किया, उसी प्रकार के एक महापुरुष की आवश्यकता भक्ति को विकारो से मुक्त करने के लिए थी और वह महापुरुष भारतीय जनता को रामानन्द के रूप मे मिला जिनके मार्ग का और भी अधिक परिशोध महात्मा कबीर ने किया। महात्मा कबीर का महत्त्व रामानद से भी अधिक बढ जाता है क्योकि उन्होंने भक्ति के द्वार को किसी भी धर्म के मानने वाले के लिए खोल दिया। चाहे उसमें परपरा वैष्णव भक्ति की थी, किन्तु उसके परिष्कृत रूप मे जिसका श्रेय कबीर को था, किसी भी व्यक्ति को आपत्ति के लिए स्थान नही था।

कबीर की भक्ति-पद्धति का अध्ययन करते समय यह न भुला देना चाहिये कि साकार-चर्या-विधान ने भक्ति का द्वार न केवल निर्धनो के लिए

बन्द कर रखा था, अपितु शूद्रा के लिए भी बन्द था। रामानन्द ने उस राह के लिए खोल कर एक बहुत बडा काम किया था, किन्तु वर्ण-विधान फिर भी विद्यमान था जिससे समाज के शरीर में एक फांस जैसी दर्द देने वाली चीज घुसी हुई थी। कबीर जैसा प्रतिभाशाली समाज-सुधारक किसी ऐसी धर्म-फांस को समाज के अंग में चुभी नहीं रहने दे सकता था जो भीतर ही भीतर विगलन पैदा करके समाज को अंग-भंग कराने का प्रयत्न करे।

इसलिए उन्होंने भक्ति का वह रूप चुना जिसे किसी भी स्थान या समाज में स्वीकृत किया जा सकता था। उनकी भक्ति का रूप वैष्णव भक्ति का था, किन्तु उसको निर्गुण और निराकार से संबंधित करके विशेष से निर्विशेष बना दिया। साथ ही उसे सामाजिक या धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त करके प्रत्येक उपासक के लिए सुलभ कर दिया। बाह्याडम्बरों से मुक्त होकर कबीर ने भक्ति को सरल भी बना दिया, चाहे वह प्रारंभ में दुरूह ही क्यों न प्रतीत होती हो। इसी कारण कबीर के राम में वाल्मीकि के राम से बहुत बड़ा अन्तर दिखायी देता है। कहना न होगा कि दोनों के राम में नाम के सिवा और कोई सादृश्य नहीं है। कबीर के राम में जिस प्रकार 'अल्लाह' का रूप भी दीख सकता है उसी प्रकार 'अल्लाह' में कबीर राम को भी देखते हैं। कबीर का राम या अल्लाह किसी स्थान या धर्म के बंधन में नहीं है। वह सबमें है और सब उसमें हैं। उसका 'जलवा' हर कहीं है, किन्तु उसको वही देखता है जिसके अन्तश्चक्षु खुले हुए हैं क्योंकि वह अन्तर्लोचनों से ही दिखायी देता है। इस-लिए कबीर उसे अपने अन्तर में खोजने का उपदेश देते हैं। भीतर कोई और राम है और बाहर कोई और, ऐसा न कोई समझ ले, इस संबंध में सचेत करते कबीर कहते हैं कि 'जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है'।[१]

रामानन्द के शिष्य होने के कारण भी कबीर की भक्ति में वैष्णव तत्त्वों का ही प्राधान्य स्वाभाविक था। उन सब तत्त्वों में प्रमुख था 'राम-नाम'। जिस प्रकार कबीर के लोचनों में राम की—अपने राम की तस्वीर थी उसी प्रकार 'राम-नाम' के संबंध में भी उनका अपना आदर्श था। रामानन्द के राम

१. 'ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि'—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९९-३२८

'दाशरथी राम' और 'परब्रह्म' दोनो के द्योतक ह, किन्तु कबीर के राम नहीं हं। 'ना जसरथ घरि औतरि आवा' कह कर उन्होने इसी बात को सकेतित किया है।

इसम सन्देह नही कि 'नाम' भक्ति माग का एक अमोघ अस्त्र है किन्तु रामानन्द ने राम नाम को लेकर जो आन्दोलन प्रवर्तित किया वह अभूतपूर्व था और कबीर न राम नाम की महिमा को उससे भी आगे बढाया। अपने गुरु की भाँति कबीर भी राम नाम म अद्भुत शक्ति मानते ह किन्तु उसका सबध उन्होने विशेष स्मरण और ध्यान से जोडा है। कबीर का कहना है कि जिस प्रकार खाँड कहने से मुह मीठा नही होता उसी प्रकार राम कहने से उद्धार नही होता। राम-नाम को तल्लीन होकर जपने या स्मरण करने पर ही कबीर विशेष जोर देते हैं। जिस नाम-स्मरण मे मन लीन नही होता वह किसी काम का नही है। इसीलिए वे कहते ह—

राम नाम कहु क्या करै,
जे मन के औरै काम'॥[1]

राम-नाम को लोगो न हँसी खेल समझ रखा है। कबीर उसके निर्वाह को इतना सरल नही समझते और कहते ह—

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरता हरिनाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरत नाहीं ठाम'॥[2]

कबीर के नाम-स्मरण का आदश है मन को राम के साथ इस प्रकार जोड देना कि दोनो मे अभेद हो जाये।[3] कबीर स्मरण की इस स्थिति का प्रचार करते ह —

---

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६-१४
२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ७ २९
३ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ७ ३१

"मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहया, सीस नवावों काहि'॥"

यह है राम-नाम के स्मरण का ठीक प्रकार जिसका कबीर उपदेश देते हैं। राम-नाम के इस महत्व को आगे भी निभाया गया। तुलसीदास ने 'नाम' को निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म रूपों से बड़ा बतलाया है—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरें मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥"
× × × ×
"एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें'॥"

तुलसीदास ने 'नाम' की महिमा को बढ़ाने में अवश्य ही एक कदम आगे रखा उसके मूल्य को 'भाव और कुभाव' अथवा किसी भी दशा में कम न होने दिया। इससे तुलसीदास पर एक परम्परा' का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर ने ऐसी बात कभी नहीं कही।

कबीर ने रामानन्द द्वारा परिपुष्ट 'बाह्य चर्या' को अपनी भक्ति-पद्धति में बिल्कुल नहीं अपनाया। उन्होंने न तो मंदिर और मूर्ति को मान्यता दी, और न पूजा के विधि विधान का ही स्वीकार किया। अवतारों को भी उन्होंने कोई मान्यता नहीं दी। उन्होंने उपासना की जिस विधि का प्रवर्तन किया वह उनके सम्पर्क से नये रूप में प्रकट हुई। इसलिए कबीर की निर्गुण भक्ति में मानसी उपासना का एक विशेष स्थान है। कबीर ने अर्चन-वंदन से संबंध रखने

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-८
२. रामचरितमानस, बाल-काण्ड, नाम-महिमा
३. 'भाय कुभाय अनख आलस हू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥'
—रामचरितमानस, बाल-काण्ड, नाम महिमा
४. अध्यात्म रामायण, यु० का०, सर्ग ११, श्लोक ८७

वाली वैधी भक्ति पद्धति को अपने पथ म कोई स्थान नही दिया जहा कही आरती आदि का जिक्र आया है, वहाँ भी उन्होने उसका मानसी रूप ही समझाया है। इस प्रकार कबीर ने उस भक्ति को जो मूलत एक भाव के रूप म प्रादुर्भूत हुई थी बाह्य रूढियो की दलदल से मुक्त करके फिर सच्ची भाव भक्ति के रूप म प्रतिष्ठित किया।

सक्षप म यह कह देना अनुचित न होगा कि भारतीय भक्ति शृ खला की कडी के रूप म कबीर की भक्ति एक अनुपम अनुदान है— ऐसा अनुदान जिसने भक्ति को न केवल विकार मुक्त ही किया अपितु उसके द्वारा सामयिक परिस्थितियो के मुल्भान की दिशा म भी एक महत्त्वपूर्ण कदम बढाया। सच तो यह है कि समाज को ग्राम साधन के निमित्त एक अमोघ औषधि जिसे कबीर ने राम रसायन कहा है प्रदान की। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर भक्ति को मनुष्य के अनिष्ट निवारण एव रक्षाथ ब्रह्मास्त्र मानते है। यदि मनुष्य की रक्षा का कोई अन्तिम साधन है तो वह कबीर की दृष्टि म भक्ति है। कबीर की भक्ति व्यक्तिगत साधना की चाज्ञ होती हुई भी सामाजिक सस्कार का भी अद्भुत साधन है। उसे ऐकान्तिक कह कर कबीर को पलायनवादी बतलाना एक महापुरुष के साथ भारी अन्याय होगा।

भक्ति के अनेक तत्त्व—भक्ति क आचार्यों ने भक्ति क दो भेद किये है—वैधी और रागानुगा। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वैधी भक्ति बाह्य विधि विधानो से सम्बध रखती है। अर्चना वचना व्रत उपवास आरती देव दर्शन तिलक वेशभूषा तीर्थाटन आदि के बाह्य नियम वैधी भक्ति ही के अन्तगत आते है। वधी भक्ति का उद्देश्य रागात्मिक भक्ति का उद्रेक है किन्तु भावमयी क्रियाएँ ही ईश्वर प्रम क उद्रेक को सभव बनान म सहायक हो सकती हैं। वैधी भक्ति अपनी बाह्य जटिलता म भाव से किनारा कर सकती है और उसकी सीमा अध श्रद्धा तक पहुँच सकती है। विधि और निषेध के चक्कर म पड कर वर्या भाव भूमि को छोड कर आडम्बर म पड सकती है। आचार्यों का कहना है कि वधी भक्ति को निर्दोष रूप मे निभाना यदि असभव न हो तो दुष्कर अवश्य है किन्तु परिणाम यह होता है कि या तो साधक के प्रयत्न दृढ और सनिष्ठ सकल्प प्रखर हो जाते हैं या वह अपनी भूलो और त्रुटियो के लिए आराध्य से क्षमा-याचना

करता हुआ अपने को उसके अधिकाधिक समीप ले पहुँचता है। यहाँ वैधी भक्ति रागात्मिका के क्षेत्र में जा पहुँचती है।

पिछले पृष्ठों में कई स्थानों पर यह कहा जा चुका है कि कबीर को भक्ति का जटिल रूप, जो वैधी भक्ति के रूप में प्रस्तुत हुआ था प्रिय नहीं था। जटिलता को वे आडंबर समझते थे। इस के अतिरिक्त मूर्तिपूजा, तिलक छापा आदि विधि वर्जाओं को सब धर्मों के मानने वाले स्वीकार नहीं कर सकते थे। इससे समाज के खण्डित होने की अधिक सम्भावना थी। कबीर एक ऐसा भक्ति मार्ग प्रचलित एवं विकसित करना चाहते थे जो व्यक्ति को प्रेम के चरमोत्कर्ष तक पहुँचा कर समाज' को दृढ़ आधार-भूमि प्रदान करती। इसी को ध्यान में रखकर रामानन्द के परम स्वत्ववान् शिष्य ने वैधी भक्ति की तीव्र आलोचना की।

कबीर परम आस्तिक एवं श्रद्धावान् व्यक्ति थे। उनके हृदय में अगाध ईश्वरानुराग तरंगित था। कभी-कभी तो वे अपनी वाणी में प्रेमोन्मत्त के रूप में व्यक्त होते हैं और लोकबाह्य तक दीखने लगते हैं। कबीर की भक्ति को किसी आचार्य की शास्त्रीय वाणी में स्थान मिले या न मिले, किन्तु उसका स्वरूप रागानुगा भक्ति का है। उसका सर्वस्व भगवत्प्रेम है। इसका उद्रेक किन अवस्थाओं में किस प्रकार हुआ? इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना तो कठिन है, किन्तु भक्ति-मनीषियों ने, जिनमें श्री कृष्ण का नाम सर्वोच्च है, इसके चार कारण बतलाए हैं। कभी तो लाख-सकेटों से आर्त होकर मनुष्य भगवत्प्रेम की ओर प्रवृत्त होता है, कभी मनुष्य की जिज्ञासा-प्रवृत्ति उसे अनायास ही प्रेम-पथ पर ला जाती है, कभी अर्थार्थी बनता-बनता मनुष्य उसके प्रेम का याचक बन जाता है और कभी तत्त्वज्ञान का पूर्ण अनुभवी मनुष्य भगवत्प्रेमी हो जाता है[4]।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७४, पद २५२

२ कहि कबीर सेवा करहु मन-मंझि मुरारि ॥

—कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट पद २०५

३. कहत कबीर राम गुन गावौं। हिन्दू तुरक दोऊ समझावौं ॥

—कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट पद २१५

४ चतुर्विधा भजन्ते माम् जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥—गीता ७.१६

अपनी-अपनी रुचि और समझ के अनुसार मनुष्य परमात्मा के प्रति आकृष्ट होता है। कोई उसके रूप पर मुग्ध होता है, कोई गुणों पर और कोई उसकी महिमा पर। कोई उसका दास बनना चाहता है, कोई मित्र और कोई प्रियतमा। अपनी प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुकूल मनुष्य में जिस प्रकार की आसक्ति का उदय होता है उसी के आश्रय से वह भगवत्प्रेम के मार्ग में अग्रसर हो सकता है। महर्षि नारद ने ११ प्रकार की आसक्तियों[1] का निरूपण किया है—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) वात्सल्यासक्ति, (८) कान्तासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति (१०) तन्मयासक्ति और (११) परमविरहासक्ति।

इनमें से कोई भी आसक्ति मनुष्य को रागात्मिक भक्ति का पूर्ण माधुर्य प्राप्त करा सकती है। यदि इनमें से कोई आसक्ति न भी हो तो भी अन्य उपायों से भी हृदय में भगवत्प्रेम का उद्रेक हो सकता है। साधु-सेवा, धर्म-श्रद्धा, हरि-गुण कीर्तन आदि साधन ऐसे हैं जो कालान्तर में प्रेमोदय के प्रेरक होते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने ऐसे उपायों से सबंधित रागात्मिका भक्ति की भूमिकाओं में निम्नलिखित नाम लिये हैं —

(१) महत्सेवा (२) तद्दयापात्रता, (३) तद्धर्म-श्रद्धा, (४) हरिगुण-श्रुति, (५) रत्यङ्कुरोत्पत्ति, (६) स्वरूपाधिगति, (७) प्रेमवृद्धि, (८) परानन्द-स्फूर्ति, (९) स्वतः भगवद्धर्मनिष्ठा, (१०) तद्गुणशालिता और (११) प्रेम-पराकाष्ठा।

इन सभी भूमिकाओं में श्रद्धा और विश्वास का आधार तो अवश्य ही होता है अन्यथा रागात्मिका भक्ति का उद्रेक असम्भव है। श्रद्धा भगवान् की ओर प्रेरित करती है और विश्वास प्रेरणा को निष्ठा का रूप देता है।

हृदय के प्राय सभी भाव भक्ति में परिणत किये जा सकते हैं जिनमें से रति भाव आदि प्रबल और रागानुगा भक्ति के सर्वथा अनुरूप है। यही

---

१. नारदीय भक्ति सूत्र ८२

कारण है कि भक्ति के प्रकरण में इसको विशेष महत्व दिया गया है। आचार्यों ने ईश्वर-रति-भाव से दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—इन पाँच रसों की निष्पत्ति बतलायी है। अपनी अपनी रुचि के अनुरूप भक्त लोग इन रसों का आस्वादन करते हैं। रस की चर्वणावस्था के अन्तर्गत भावातिरेक की दशा में उपास्य और उपासक का अभेद हो जाने पर महाभाव की अवस्था की प्राप्ति होती है। यह महाभाव मोहन और मादन, दो प्रकार का होता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति में विरह का विशेष महत्त्व है। संयोग की अपेक्षा वियोग की दशा में भाव में अधिक तीव्रता होती है। विरह-व्यग्र भक्त का आकर्षण अति प्रबल होता है जिससे वह भाव-लोक में परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। इसी को विरह-संयोग (Unity in Separateness) की अभिधा दी जाती है। विरह-संयोग में भक्त को जो अनिर्वचनीय शान्ति मिलती है वह बड़ी मधुर होती है। इसी कारण परम भक्त सायुज्य-मुक्ति की कामना छोड़ कर भेद-भक्ति को अपनाते हैं क्योंकि उसमें आकर्षण का प्राधान्य होता है।

भक्तों के जो चार भेद बतलाये हैं। उनसे भक्ति के दो मूल रूप सामने आते हैं—एक तो सकाम भक्ति और अन्य निष्काम भक्ति। जो भक्ति किसी लौकिक कामना की पूर्ति के लिए की जाती है वह काम के लिए भक्ति होती है, वास्तव में तो वह एक व्यवसाय है, किन्तु जहाँ कामना की पूर्ति भगवान् में होती है वहाँ सच्ची भक्ति का उदय होता है। भक्ति के इस आदर्श को तुलसीदास के इन शब्दों में देख सकते हैं :—

> "कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"

अतएव वैराग्य भक्ति का प्रधान अंग है। सच्चि भक्ति में लोक के प्रति आसक्ति नहीं रहती। और तो और, कायिक आसक्ति तक नष्ट हो जाती है। सब कुछ इष्टदेव का समझने और सब में इष्टदेव ही को देखने की क्षमता

विवेक से मिलती है, अतएव विवेक और वैराग्य एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। विवेक और वैराग्यमय भक्ति ही सच्ची भक्ति होती है और विवेकी एव विरक्त भक्तो को ही नाभादास ने भक्ति और भगवान से अभिन्न बतलाया है :—

"भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।"

गुरु को भगवान् का स्थान देने की परम्परा का विकास बहुत पहले ही हो चुका था और 'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु' आदि वाक्यो में इसका प्रमाण मिलता है। कबीर ने इसको और आगे बढाया और गुरु को 'गोविंद' से भी ऊँचा उठा दिया।[1] तुलसीदास ने इसको और भी आगे बढाया और गुरु का नही, उन्होने तो ईश्वर के दास का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा कर दिया—

"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम तें अधिक रामकर दासा॥"

भक्ति के आचार्यों ने नवधा भक्ति के क्रम पर विशेष जोर दिया है। नवधा भक्ति के अन्तर्गत नौ प्रकार की भक्ति का वर्णन किया जाता है। भागवतपुराण के सप्तम स्कन्ध में नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है —

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

भगवद्विषय का सुनना 'श्रवण' है, भगवद्गुणो का कथन 'कीर्तन' है, और भगवद्-गुणो की स्मृति ही 'स्मरण' है। भगवच्चरणो का सेवन ही 'पाद-सेवन' है। भगवच्छरीर (प्रतिमादिक) का प्रसाधन 'अर्चन' है। भगवान की स्तुति को

---

१. "गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय॥"
—कबीर ग्रंथावली, सं० ना० स० १, पृष्ठ २

वन्दन कहा जाता है। भगवान के प्रति 'सख्य-भाव' रख कर अपने को सेवक-रूप में स्वीकार करना 'दास्य-भाव' है तथा भगवान को सखा (मित्र) रूप में स्वीकार करना 'सख्य भाव' है और भगवान का आत्मसमर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन' है।

कहा जाता है कि श्रवण, कीर्तन और स्मरण द्वारा श्रद्धा की वृद्धि हो सकती है, पाद-सेवन और अर्चन विश्वास को दृढ़ करने में सहायक होते हैं। इसके उपरान्त दास्य सख्य और आत्मनिवेदन से रागानुगा भक्ति का आनन्द प्राप्त हो सकता है। कहना न होगा कि नवधा भक्ति के ये भेद वैधी और रागात्मिका, दोनों प्रकार की भक्तियों को अपने में समाविष्ट कर लेते हैं। जिन आचार्यों ने केवल रागात्मिका भक्ति पर ही विशेष ध्यान दिया है उन्होंने 'नवधा भक्ति' में अपने ढंग से संस्कार किया है। इस संबंध में अध्यात्मरामायण का 'नवधा-भक्ति-वर्णन' देखने योग्य है।

रागात्मिका भक्ति में मन वाणी और क्रिया का समन्वय उपयोग होना चाहिए इसलिए इस भक्ति के अनुयायी मन में प्रेम, वाणी से जप और कीर्तन तथा क्रिया से सत्संग और सदाचरण का समर्थन करते हैं। रागात्मिका भक्ति के ये तीन मूल साधन हैं क्योंकि इन तीनों के सहयोग के बिना वह (रागानुगा भक्ति) सिद्ध नहीं होती।

कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप—इस विवेचन के आधार पर कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप देखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ईश्वर के सच्चे प्रेमी थे। वे प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थान में परमात्मा की सत्ता का अनुभव करते थे।

परमात्मा का स्वरूप—वह एक मात्र सत्ता ही सत्य है। आत्मा उस परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु भ्रम के कारण हमें अन्तर दीख पड़ता है। सिद्धान्ततः कबीर परमात्मा को अद्वैत तत्त्व मानते हैं जिससे आत्मा अभिन्न है, किन्तु उस 'अभिन्नानुभूति' की सिद्धि के लिए ही वास्तविक स्वरूप के प्रति आकर्षण की स्थिति आवश्यक है। आकर्षण से ही सायुज्य एवं अभेद सिद्ध हो सकता है। भगवान् के प्रति भक्त का यह आकर्षण ही प्रेम या भक्ति है। इस

प्रेम के प्रादुर्भाव के लिए अनेक साधना की आवश्यकता होती ही है, किन्तु भगवत्कृपा के बिना यह प्रेम संभव नहीं होता।

सानुग्रहता—कबीर परमात्मा को अनुभवगम्य एवं अनुपम बतलाते हैं और उसके अनुभव से ही अपना उद्धार संभव समझते हैं जिसके लिए उसकी अमोघ कृपा परमावश्यक है —

राम राइ तू ऐसा अनुभूत अनूपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूं भूलि न परिये॥[1]

निर्गुण और निराकार—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर निर्गुणोपासक और मूर्ति पूजा के विरोधी थे क्योंकि मूर्ति-पूजा तत्कालीन सामाजिक एकता में बाधक थी। इसके अतिरिक्त सगुण-साकार की उपासना से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जो निर्गुण और निराकार है, उनकी दृष्टि में, सिद्ध करना असम्भव है क्योंकि सेवक अपने सेव्य को प्राप्त होता है। इसलिए कबीर कहते हैं —

'जास का सेवक तास कौं पाइहै,
इष्ट कौं छाडि आगे न जाहीं।
गुणमई मूरति सेइ सब भेष मिलि,
निरगुण निज रूप बिश्राम नाहीं'॥"

भाव-भक्ति—कबीर भक्ति के क्षेत्र में जप, तप, व्रत एवं तीर्थ-स्नान को कोई महत्व नहीं देते। संयम तक उनकी भक्ति में कोई स्थान नहीं पाता। यदि उनका कोई मूल्य हो सकता है तो 'भाव भक्ति'[2] के साथ।

विश्वास—संसार आवागमन के चक्र पर चढ़ा हुआ है। जन्म और मृत्यु की सीमाओं में उसे अनेक सुख दुःख का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दुःख

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५६, पद १९९

२. 'क्या जप क्या तप संजमा, क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जौ पै जुगति न जानियें, भाव भगति भगवान॥"
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६, पद १२१

और काल-पाश से बचना चाहता है। कबीर इनसे बचाने की शक्ति परमात्मा के सिवा और किसी में नहीं पाते। इसलिए वे भक्ति-मार्ग पर लाने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं —

> "माधो करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भव बंधन छूटै।
> जुरा मरन दुख फेरि करन सुख, जीव जनम थैं छूटै॥"

कबीर का विश्वास है कि जिसने प्रेम में लीन होकर परमात्मा को भजा है वही इस आवागमन से मुक्त हो गया है[2]। उसकी कृपा से क्या नहीं हो सकता? उसकी कृपा को समक्ष लाने के लिए कबीर अधम भील[3] और 'अजाति गणिका' के उद्धार की कथा का स्मरण दिला देते हैं और ध्रुव की 'अटल पदवी' को सामने ले आते हैं। मृत्यु का भय, जीवन की निस्सारता और मुक्ति की कामना से कबीर भक्ति की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जीवन और भक्ति—मानव जीवन को कबीर एक ईश्वर-प्रदत्त अवसर मानते हैं जिसमें वह भव-बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर सकता है। यदि मनुष्य सांसारिक विषयों में ही रत रहा तो उसने जीवन का—इस महान् अवसर को व्यर्थ कर दिया। इसी कारण उन्होंने कहा है —

> "कबीर हरि की भक्ति करि, तजि विषया रस चोज।
> बार बार नहीं पाइए, मनिषा जन्म की मौज॥"

इस मानव जीवन का सदुपयोग कबीर सदाचरण में मानते हैं और साधु-सेवा एवं भगवद् गुण-गान से बढ़कर भला और क्या सदाचरण हो सकता है, अतएव कबीर इन्हीं का उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में साधु सेवा भी भक्ति का ही एक अंग है।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८, पद १७६

२ प्रेम प्रीति त्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १२१

३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २४-३१

"कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठाहर लाइ।
कै सेवा करि साध की, कै गुण गोविंद के गाइ'॥"

भक्ति की आवश्यकता—कबीर को यह पूर्ण विश्वास है कि इस दुनिया में भगवान के सिवा सगा कोई नहीं है। यहां तो सब स्वार्थ के ही सगे हैं। कोई किसी का साथ नहीं देता। पुत्र-कलत्र तक स्वार्थ में बंधे हुए हैं। इन सबके प्रेम में स्वार्थ भरा हुआ है इसलिए इनके प्रेम को पवित्र प्रेम नहीं कह सकते। सम्पूर्ण मेदिनी पर स्वार्थ छा रहा है। जो भक्त दिखाई पड़ते हैं वे भी स्वार्थ के दास हैं। फिर उनके प्रेम को भक्ति का नाम देना भक्ति को बदनाम करना है। जिस प्रेम का मतलब राम के सिवा और किसी वस्तु या व्यक्ति से नहीं है वही भक्ति है। ऐसे प्रेम में विभोर होकर भक्त शरीर तक की चिन्ता और आशा छोड़ देता है—

"आप सवारथ मेदनीं, भगत सवारथ दास।
कबीर राम सवारथी, जिनि छाड़ी तन की आस'॥"

कबीर सच्ची भक्ति के क्षेत्र में लेशमात्र भी स्वार्थ स्वीकार नहीं करते, किन्तु भक्ति के कारण दुख स्वतः विलीन हो जाता है, ऐसा उनका विश्वास है।

यहाँ दोनों बातों की संगति बैठाना दुष्कर प्रतीत होता है, किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर असंगति नहीं दिखायी पड़ती। सच तो यह है कि सच्ची भक्ति अपने आप में मुक्ति है। मुक्ति भक्ति का फल है, उसका लक्ष्य नहीं है। इस फल को सामने लाने के लिए ही वे अनेक परिस्थितियों के चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे भक्ति को साधन बनाकर उसमें कामना निहित करने की (चाहे वह मुक्ति की ही कामना क्यों न हो) प्रेरणा नहीं देते। कबीर की भक्ति अनासक्ति भाव का प्रतिपादन करती है। जिसका खंडन भक्ति के फल या उसकी शक्ति का निरूपण करने से कदापि नहीं होता। प्रेमा-भक्ति का एक

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४१

अर्द्ध क्षण भी जीवन व लोह का कंचन बना सकता है किन्तु करोड़ों वर्षों तक भक्ति के बिना जीना व्यर्थ है —

> 'अरध दिन जीवन भला, भगवत भगति सहेत।
> कोटि कलप जीवन बिना नाहिन हरि सूं हेत'[१]॥

निष्काम भक्ति—कबीर ईश्वर भक्ति में आशा या कामना को कभी स्थान नहीं देते यह बात उनकी वाणी में पद पद पर व्यक्त होती है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि भगवान पर भरोसा करते हुए मनुष्य को न तो स्वर्ग की कामना करनी चाहिये और न नरक से भयभीत होना चाहिये। आशा व्यर्थ है जो हो रहा है सो हो रहा है और वह उसी की इच्छा से हो रहा है —

> "सरग लोक न बांछिये, डरिये न नरक निवास।
> हूणा था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजै झूठी आस'[२]॥"

सच्ची भक्ति जिस प्रकार आशा निराशा को कोई स्थान नहीं देती वैसे ही सुख-दुख को कोई स्थान नहीं देती। सुख दुख मन की अनुभूतियाँ हैं और वे तब तक होती हैं जब तक मन ईश्वर-लीन नहीं होता। मन के तल्लीन हो जाने पर सुख और दुख दोनों का ही भान नहीं होता। दुख और सुख की स्थिति का भक्त के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्राय लोग दुख में भगवान का स्मरण करते हैं और सुख में भूल जाते हैं। इसी से उन्हें दुख भोगना पड़ता है। यदि वे दुख-सुख दोनों दशाओं में विश्वासपूर्वक भगवान में मन लगाये रहें तो, कबीर का विश्वास है, दुख कदापि न हो —

> 'दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोइ।
> जो सुख में सुमिरन करैं, तो दुख काहे को होइ॥'

इतना ही नहीं वे तो भगवद्भक्त को अमर निवास की 'भारटी' कहते हैं —

---

१. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २२६, पद १२१
२. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १२८ पद १२१

'काम परे हरि सिमिरियै, एसा सिमरो नित्त।
अमरापुर बासा करहु हरि गया बहोरै वित्त[1] ॥'

काम पडने पर भगवान को याद करना तो लेन-देन या व्यवसाय की बात रही। उसे भक्ति नही कह सकते। जहा भक्ति में स्वार्थ मिला हुआ है वहाँ भक्ति का निर्मल रूप प्रकट नही होता। निर्मल एव निष्कलुष प्रेम तो वहाँ होता है जहा स्वार्थ का लेश भी नही होता। भक्ति का यह प्रमुख लक्षण है —

'स्वारथ को सबको सगा जग सगलाही जाणि।
बिन स्वारथ आदर करै सो हरि की प्रीति पिछाणि[2] ॥

भक्ति की प्रेरणा—भक्ति प्रेरणा[3] के अनेक सूत्रों में से भगवत्कृपा प्रमुख है। जिस पर भगवान का अनुग्रह होता है उसी को भक्ति का वरदान मिलता है और जिसको वरदान मिलता है वही भक्ति-मार्ग पर चल भी सकता है। वह अपने पथ को भूल नहीं सकता और कोई भी कारण उसे भ्रान्त नही कर सकता —

जिसहि चलावै पथ तू, तिसहि भुलावै कौण[4]।

हमारा कोई भी प्रयत्न सफल नही हो सकता जब तक कि भगवान का अनुग्रह न हो। अतएव भगवदनुग्रह न केवल प्रेरणा का काम करता है अपितु साधन भी बन जाता है, नही तो भक्ति का निभाना कोई सरल काम नहीं है —

एक खड़ ही लहै और खड़ा बिललाइ।
साईं मेरा सुलषना, सूता देइ जगाइ[5] ॥'

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २८० २३
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ८२ १९
३ अपनी भक्ति आप ही दृढाई।
—कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २६६ ९
४ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ६२ ६
५ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ६२ ४

भक्ति-प्रेरणा का दूसरा सूत्र गुरु है। प्रेम के भाव को जगाकर शिष्य को भक्ति मार्ग पर गुरु ही प्रेरित करता है। "सतिगुरु तें सुधि पाई"[1] कह कर कबीर ने भक्ति-प्रेरणा के स्रोत की ओर संकेत किया है और 'गुरदेव ग्यानी भयौ लगनियां सुमिरन दीन्हौं हीरा' से तो कबीर ने बड़ी दृढ़ता से घोषित किया है कि गुरु भक्ति का प्रेरक होता है।

भक्ति की प्रेरणा एक तीसरे स्रोत से और मिलती है और वह है जगत् की अनित्यता और व्यर्थता का सम्यक् ज्ञान। इसी के साथ ही सत्य की खोज भी प्रारंभ हो जाती है और जब अन्तिम एवं एकमात्र सत्य परमात्मा में मिल जाता है तो मनुष्य उसकी शक्ति और कृपा की ओर आकृष्ट होने लगता है। जगत् की व्यर्थता का ज्ञान वैराग्य पैदा करता है और परमात्मा की सत्ता और सामर्थ्य का ज्ञान परमात्मा की ओर आकर्षण पैदा करता है। विश्वास के साथ-साथ प्रेम के दृढ़ होने पर भक्ति अपने सच्चे रूप में प्रकट होती है। यही भक्त की मुक्ति है और यही आनन्द है। यहीं से आवागमन के बन्धन की शृंखला भंग हो जाती है।

इनके अतिरिक्त भक्ति-रस का माधुर्य भी भक्ति का प्रेरक होता है। मनुष्य के सामने प्रत्यक्षत: दो रस हैं—एक तो विषय-रस और दूसरा भक्ति-रस। विषयों का परिणाम कटु होता है और भक्ति का मधुर होता है। विषयों से क्षणिक सुख और अमित दुख उत्पन्न होता है, किन्तु भक्ति में दुख का नाम भी नहीं होता। वहां तो आनन्द ही आनन्द है। भक्ति की चरमावस्था में भक्ति, भक्त और भगवान् में अभेद हो जाता है। सब लोक प्रायः मधुर रस पसंद करते हैं किन्तु यहां एक विपरीत बात दिखायी पड़ती है। लोक परिणामकटु विषय रस में लीन हैं। अपने सामने जाने वालों की दुर्दशा को देखते हुए भी लोग विषयों से निर्विण्ण नहीं होते, कदाचित् इसलिए कि वे भक्ति के माधुर्य से अवगत नहीं हैं। इसलिए भक्ति की मधुरता का संकेत देते हुए कबीर कहते हैं —

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २२२, पद ६२

'राम की नाव अधिक रस मीठी,
बारंबार पीवै रे'।'

वे राम रस के पीने का ढंग भी बतलाते हैं —

"रसना राम गुन रमि रस पीजै'।"

जो मनुष्य राम रस के होते हुए भी विषय-लीन है उसको कबीर अभागा कहते हैं और फटकारते हैं कि विष तजि राम न जपसि अभागे'।' कबीर नारदी भक्ति में सम्पूर्ण शरीर को मग्न कर देने का उपदेश करते हुए कहते हैं —

'भगति नारदी मगन सरीरा,
इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा'।"

इससे वे देह नहिन भी मुक्त हो जाते हैं। यही जीवन-मुक्ति है। यही भक्ति का फल है और यही स्वयं भक्ति भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर नारदी भक्ति और भव-संतरण को सहचर मानते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य प्रेम प्रीति पूर्वक भगवद्भजन करना है। अन्य सब लक्ष्य व्यर्थ हैं। जिसका मन राम में लीन हो जाता है उसी को स्वरूप ज्ञान हो जाता है और स्वरूप-परिचय में ही भव बंधन में मुक्ति निहित है। इससे स्पष्ट है कि कबीर का लक्ष्य भक्ति है और साधन भी भक्ति है। यही भारतीय भक्ति का वास्तविक स्वरूप है। कभी कभी कबीर के शब्दों से ऐसी प्रतीति होने लगती है कि वे भव मुक्ति के निमित्त भक्ति को एक साधन मानते हैं। यदि भाव में प्रविष्ट होकर कबीर के अभिप्राय को खोजा जाय तो वस्तु स्थिति सामने आ जाती है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९३, पद ३१०
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१३, पद ३०५
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१३, पद ३७५
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८३, पद २७८
५. 'प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे॥"
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९७, पद २९०

कबीर की भक्ति के संबंध में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—एक तो यह है कि कबीर का वैराग्य भक्ति को प्रेरित करने के लिए है वह पलायनवादियों का निराशावाद नहीं है। वे संसार को छोड़ भागने का उपदेश नहीं देते वरन् उनकी नश्वरता को समझ कर उसके प्रति अनासक्ति-भाव से आचरण करने की बात कहते हैं। संसार के प्रति आसक्ति का अर्थ है व्यर्थ एवं अनित्य वस्तु के प्रति आकर्षण जो कभी भी ज्ञानजन्य नहीं हो सकता। इस आकर्षण को कबीर अनित्य से नित्य की ओर मोड़ कर जीवन को सार्थक एवं सफल बनाने की बातें कहते हैं। दूसरी बात यह है कि भक्ति के सिवा कबीर की भक्ति का कोई अन्य लक्ष्य नहीं है। उनकी प्रेमा भक्ति स्वतः आनन्दमयी है। वह साधक को दुःख से मुक्त कर देती है क्योंकि उसमें स्वरूप-ज्ञान हो जाता है जिससे अज्ञान या भ्रम से प्रतीत होने वाला दुःख विलीन हो जाता है। उस बात का समर्थन तुलसीदास के इन शब्दों में भी पाते हैं :—

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहि भगत भगत उर चन्दन'[१]॥"

इन चौपाइयों में दूसरी पद्धांलि 'जानत ... होइ जाई' ध्यान-पूर्वक देखने योग्य है। इसमें भक्ति के साधन और साध्य दोनों रूप निहित हैं। भक्ति साधन रूप में भगवान के स्वरूप का ज्ञान कराती है और साध्य रूप में वह स्वयं भगवान या भक्त से अभिन्न होती है'। 'तिनि तौ निज सरूप पहिचाना' कह कर कबीर इसी भाव को अभिव्यक्ति कर चुके थे।

भक्ति की भूमिकाएं

१. श्रद्धा और विश्वास—भक्ति ग्रन्थों में भक्ति की अनेक भूमिकाएँ बतलायी गयी हैं। कबीर ने भी उनका अपने ढंग से निरूपण किया है, शास्त्रीय ढंग से नहीं। मैं समझता हूँ श्रद्धा और विश्वास का अंकुरण भक्ति की पहली भूमिका है। श्रद्धा भक्ति में आकर्षण निहित करती है और विश्वास दृढ़ता प्रदान करता है। यहीं से भक्ति का बीज जमता है। 'भाव प्रेम की पूजा' में कबीर ने श्रद्धा और विश्वास दोनों का समावेश कर लिया है। विश्वास के

---

१ रामचरितमानस, अयो० का०, राम के प्रति वाल्मीकि की उक्ति।

जब तक मनुष्य का निवारण नहीं होता और जब तक सन्देह और भ्रम रहता है तबतक भक्ति भाव का उदय सभव नही है। इसलिए कबीर कहते ह —

> पद गाये लैलीन ह्वै कटि न सस पास।
> सबै पिछाड़े थोथरे एक बिना बेसास॥[1]

कबीर तो विश्वास म ही राम का निवास मानते ह —

> गाया तिनि पाया नहीं अण गाया थ दूरि।
> जिनि गाया बिसवास सू तिन राम रह्या भरपूरि[2]॥

विश्वास के बिना भक्ति म अनन्यता नहीं आती। जिस प्रकार यहा जाऊँ, वहा जाऊ कहाँ जाऊ के चक्कर मे पडा हुआ पथिक कही जाने का निणय न कर सकने के कारण कही नही पहुच पाता इसी प्रकार विश्वासहीन मनुष्य की कोई स्थिति नहीं बन पाती। कबीर ने ठीक ही कहा है —

> वार पार की खबरि न जानीं फिरयौ सकल बन एस।
> यहु मन बोहिथ के कडवा ज्यों रह्यौ ठग्यौ सो बैस[3]॥

सूरदास ने भी जस उडि जहाज कौ पछी पुनि जहाज पै आवै कहकर भक्ति म विश्वास की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। अविश्वास अनिष्टकारी एव दुखद होता है और विश्वास का फल मधुर होता है इसलिए कबीर विश्वास पर जोर देते ह। भक्ति म जबतक दढता नही आती तबतक अनन्यता भी नही आती और दढता का मूल विश्वास है। इसलिए कबीर को कहना पडा है —

> तजि बावै दाहिणै बिकार हरिपद दिढ करि गहिये[4]।

कबीर ने भाव भक्ति पर जोर देने के साथ-साथ विश्वास पर भी बहुत जोर दिया है सच तो यह है कि विश्वास भक्ति का अनिवाय अग है और इसके

---

१ कबीर ग्रथावली पष्ठ ५९ १६
२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ५९ २१
३ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १३१ पद १३३
४ कबीर ग्रथावली पष्ठ १३१ पद १३३

बिना भक्ति चल नहीं सकती है। यही बात कबीर ने इस पंक्ति में प्रकट की है —

'नाव भगति बिसवास बिन, कटै न ससै मूल'।[1]

विश्वासमय भक्ति का अभिप्राय है अनन्य भक्ति। विश्वास का विभाजन प्रेम का विभाजन कर देता है और विभक्त दशा में प्रेम अपनी गंभीरता और दृढ़ता छोड़कर व्यभिचार बन जाता है। अतएव कबीर कहते हैं कि 'एक राम की ही उपासना करो' वही दयाविदेव है क्योंकि एक हि साधै सब सधै सब साधे सब जाहि।[2]

२. साधु-सेवा—भक्ति की दूसरी भूमिका साधु-सेवा है। साधु-संगति भक्ति को प्रेरणा[3] ही नहीं देती अपितु उसे दृढ़ भी करती है। साधु लोग अपने साथ में रहने वाले को अपना जैसा ही बना लेते हैं —

आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास।[4]

कबीर साधुओं से मिलने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं क्योंकि उनकी संगति के बिना इस लोक में कहीं चैन नहीं है —

'कबीर सास मिलाइ, जास हियाली तू बसै।
नहि तर बेगि उठाइ, नित का गजन को सहै'॥[4]

कबीर राम और भक्तों में कोई भेद[5] नहीं समझते। राम या राम-भक्त, किसी के भी मिल जाने से भक्ति सिद्ध हो जाती है —

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४५, पद ४
२. वो है दाता मुकति का वो सुमिरावे नाम।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-५
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५०-७
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५०-१०
५. 'संत राम है एको'—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २७३-३०

'कबीर बन बन में फिरा, कारण अपणे राम ।
राम सरीखे जन मिले तिन सारे सब काम' ॥"

कबीर को जिस प्रकार यह विश्वास है कि राम-भक्ति में अमोघ शक्ति है उसी प्रकार यह विश्वास भी है कि साधु-संगति और साधु-सेवा में भी अमोघ-शक्ति है। साधु-संगति कभी निष्फल नहीं जाती —

'कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बावना, नींब न कहसी कोइ' ॥"

जिस प्रकार भगवान् की कृपा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है वैसे ही साधु-जनों की प्राप्ति भी भगवत्कृपा से ही होती है। साधु-संगति को ही कबीर बैकुंठ मानते हैं। उनके ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं —

'साध संगति बैकुंठ आहि' ।"

वे साधु-संगति के महत्त्व को भली भाँति जानते हैं। उनके पावन प्रभाव से वे अच्छी तरह परिचित हैं और तभी वे कहते हैं —

"साध की गैल न छाडिये, मारगि लागा जाउ।
पेखत ही पुन्नीत होइ, भेटत जपिये नाउ' ॥"

साधु की सेवा के बिना हरि-सेवा भी नहीं बन पड़ती। जिस घर में साधु की सेवा और हरि की सेवा नहीं होती वह श्मशान से कम नहीं है —

"जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नाहि।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसहिं तिन माहि' ॥"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४९-५
२. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ४९-२८१
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९३, पद ९८
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६०-१४२
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५५-८४

यह तो अभी कहा गया है कि गुरु भी साधुओं में से एक है। जिस प्रकार साधु और राम में भेद नहीं है उसी प्रकार गुरु और भगवान् में भी अभेद है। जिस प्रकार कबीर ने 'सत राम है एको' कहा है उसी प्रकार 'गुर गोविंद तौ एक है'[१] भी कहा है। गुरु-सेवा भी भक्ति की ही एक भूमिका है।

३. नाम-स्मरण—भक्ति की तीसरी भूमिका नाम-स्मरण है। कबीर उसको 'ततसार' कहते हैं और 'सततिलक'[२] बतलाकर उसके महत्व को प्रतिष्ठित करते हैं। यह 'राम' नाम दो अक्षरों से मिलकर बना है। कबीर इन दोनों में बावन अक्षरों[३] का तत्व निहित मानते हैं। अलह, अलख, निरंजन विष्णु, कृष्ण आदिक भगवान् के अनेक नाम हैं। इन सबको कबीर भगवद्गुणों का प्रतिनिधि[४] बतलाते हैं। वह 'अपरंपार' है और उसके अनन्त नाम हैं। उसका बोध किसी भी नाम से हो सकता है :—

"अपरंपार का नाउ अनन्त, कहै कबीर सोई भगवन्त।"[५]

'हरि का नाम विज्ञान-तत्व का सार है। जो इसमें लीन हो जाते हैं उनका उद्धार हो जाता है'[६] और 'जिसका मन इसमें लीन हो जाता है वही आत्म स्वरूप से परिचित हो जाता है। राम-नाम के कहने से भक्ति दृढ होती है और सहज ही में राम-नाम में मन लीन हो जाता है'[७]। सच तो यह है कि "भगवान् का नाम संसार-सागर से तरने के लिए उसमें जलयान है। परमात्मा की बड़ी कृपा हुई जो उसने संसार के लोगों को यह जलयान दिया अन्यथा बड़ी दुर्दशा होती। जिन लोगों ने इस बेड़े को दृढता से पकड़ा है वही

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३-२६
२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५-२
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५-३
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३६-१४८ तथा पृष्ठ १८३-२७२
५ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९९-३२७
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९९-३२७
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१४-३८०
८ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२७, पद ६-७

भव-सागर से पार होकर आनंद को प्राप्त हो गये हैं किन्तु जिनके मन की अस्थिरता के कारण यह हाथ से छूट गया है वे बुरी तरह से दबे हैं। यह बेड़ा सबसे पहले संतो के हाथ लगता है जो इसे स्वयं दृढ़ता से पकड़ते हैं और दूसरों को इसका आश्रय प्रदान करते हैं[1]।"

कबीर को राम नाम में पूर्ण विश्वास है। वे 'वे हरि-नाम-भजन को ही भक्ति बतलाते हैं'[2] और केवल उसी के[3] जाप के लिए आदेश करते हैं। "राम-नाम में लगी हुई लौ आवागमन से मुक्ति प्रदान कर देती है[4]।" वे राम-नाम को सर्वोत्तम वस्तु मानते हैं और उसीमें वे परमात्म-तत्त्व की ऊँचाई पर पहुँचने की घोषणा करते हैं। यह उत्तम वस्तु कबीर को अपने गुरु से मिली है और उसे वे बहुत सँभाल कर रखते हैं[5]। कहने की आवश्यकता नहीं कि राम-नाम कबीर का सर्वस्व है —

"सो धन मेरे हरि का नाउ, गांठि न बांधौं बेचि न खाउ ॥
नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि-तुम्हारी ॥
नाउ मेरे सेवा नाउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ॥
नाउ मेरे बंधव नाउ मेरे भाई, अंत की बिरियां नाउ सहाई ॥
नाउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई[6]" ॥"

कबीर नाम को एक ऐसा हीरा मानते हैं जिसको हृदय में धारण करने से न केवल अज्ञान तिमिर नष्ट हो जाता है वरन् त्रिविध ताप भी विनष्ट हो जाते हैं। साथ ही तीनों लोकों में उससे शोभा बढ़ जाती है —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४१, पद १६-२४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९६-३२८
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२२-१०८
६. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १२२-१०८
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१-३३३

राम नाम हिरदै धरि निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूँ लोक तिमर जाय त्रिविध पीरा'॥'

राम रस अति मधुर है। इसके समान मधुर और कोई वस्तु है ही नहीं'
इसी कारण वे उसी रस के पान करने का उपदेश देते हैं —

ईहि चिति चाखि सब रस दीठा।
राम नाम सा और न मीठा ॥

कबीर राम नाम की प्राप्ति को बड़े भाग्य की बात मानते हैं और उसे
वे चिंतामणि की उपाधि देते हैं क्योंकि उसको प्राप्त करके और कुछ प्राप्तव्य
नहीं रह जाता। इससे वे बार बार राम जपने के लिए ही उपदेश देते हैं —

'राम भणि राम भणि राम चिंतामणि।
भाग बड़े पायो छाड़ै जनि' ॥

जिस प्रकार राम विश्व में व्याप्त है उसी प्रकार नाम भी विश्व में
व्याप्त' है। उसे खोजने के लिए फिरने की आवश्यकता नहीं है। इसके जपने के
लिए एक विशेष ढंग की आवश्यकता है। राम का जाप इस प्रकार करना चाहिए
जिससे जीवन के अन्त की परिणति उद्धार में हो। मन वाणी और कर्म से राम
का स्मरण ही साधक होता है। सब चिंताओं को छोड़कर भक्त तो एक हरि नाम
का ही चिंतन करता है। अभ्यास से नाम में अविरल प्रीति हो जाती है। इस
अविरल प्रीति में विश्वास अनिवार्य है जो राम-नाम के स्मरण का स्वतः फल है'।'

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १८७ ३२७
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १३६ १४८
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १२७ १२०
४ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ८२ ८
५ राम नाम सींचा अमी, फल लागा वे सास ॥
—कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ७ ३३
६ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ५६ २६

प्रीतिपूर्वक मन लगा कर जपने से राम का नाम जपने वाले को राम बना देता है। कबीर ने कहा भी है —

'तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूं।'

'राम-नाम का स्मरण करने से राम से वियोग नहीं होता[१]।' राम-नाम के संबंध में कबीर दो बातें कहते हैं जो देखने में विरोधी लगती हैं—एक तो यह है कि 'राम का नाम लूट का माल है और जिसमें लूटने की शक्ति है वह लूट सकता है[२]।' दूसरी बात यह है कि 'राम-नाम के स्मरण में एक कठिनाई भी होती है और वह है बिल्कुल उस नट की रस्सी के समान जो सूली के ऊपर उसका प्रदर्शन करता है[३]।' जिस प्रकार पतन की दशा में उसका बचना कठिन है उसी प्रकार जो राम-नाम से पतित हो जाता है उसकी भी रक्षा संभव नहीं है। वह भी विनाश को प्राप्त हो जाता है। ये दोनों बातें एक दूसरी की संगति में हैं। राम के नाम की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु उसके स्मरण का समुचित निर्वाह बहुत कठिन है। कबीर एक रूपक में 'नाम' को जहाज बतलाकर और उसका केवट साधुओं को कह कर नाम-स्मरण एवं साधु-संगति के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालते हैं।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि नाम के प्रति कबीर का बड़ा आग्रह है अतएव वे लोगों को उपदेश देते हुए कहते हैं—'आप लोगों का कर्तव्य केवल अपने आप 'राम-राम' कहना नहीं है[६]।' कबीर को विश्वास है कि राम-नाम से मनुष्य का उद्धार होता है और जितने अधिक लोगों का उद्धार हो उतना

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५-६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२८
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२१
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-२६
५. 'नाव जिहाज खेवाइया साधू।'

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९२-१८६

६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६-२३

ही अच्छा है। "यह शरीर तो कच्चे घड़े के समान है और किसी ओर से चोट खाकर नष्ट हो सकता है। ऐसी चोटों का इस पर आघात न हो, इसके लिए कबीर एक ही उपाय समझते हैं और वह है राम-नाम[१]।" अशुभ कर्मों को नष्ट करने की और साधक के रक्षण की जितनी अमोघ शक्ति राम नाम में है उतनी और किसी में नहीं है। अनेक पुण्य कर्म भी मनुष्य का उद्धार करने में समर्थ[२] नहीं होते। क्षण भर का राम-नाम स्थिति को बिल्कुल बदल देता है। इसीलिए कबीर कहते हैं कि राम-नाम के बिना मुक्ति का कोई सहारा नहीं है,[३] किन्तु विवेक स्मरण का सहचर होना चाहिए। कबीर का यह कहना है कि 'कोटि क्रम पेलें पलक में, जे रचक आवें नाउ', किन्तु वे यह भी कहते हैं कि 'उस कीर्तन का जिससे विवेक नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। वह तो केवल दिखावा है[४]।' इस कारण 'राम' मंत्र के जाप के साथ उसके ध्यान[५] पर भी जोर देते हैं जिससे मन राम में रम जाय। भक्ति की यह भूमिका भी बड़ी मोहक है क्योंकि कबीर को नाम[६] के सिवा और किसी का अस्तित्व ही दिखायी नहीं देता। नाम का मर्म परिचय के बिना ज्ञात नहीं होता। "कहने के लिए तो कोई भी राम-नाम कह सकता है किन्तु जो उसके मर्म को जानते हैं ऐसे व्यक्ति थोड़े ही हैं[८]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४-३८

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६-२०

३. "मुकति नहीं हरि नाव बिन, यों कह दास कबीर।"

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३७-१६

४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६-२०

५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८-५

६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७-३०

७ "आसति कहूँ न देखिहू बिन नाव तुम्हारे।"

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५२-१६०

८. 'राम नाम सब कोई बखानें, राम नाम का मरम न जानें।
कहै कबीर कछू कहत न आवे, परचै बिना मरम को पावै।।"

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६१-२१८

५ **गुण-कीर्तन**—भक्ति की चौथी भूमिका हरि-गुण-कीर्तन है। कबीर के राम सिद्धान्ततः निर्गुण एवं निराकार हैं, किन्तु भक्ति क्षेत्र में सगुण-कल्पना करनी पड़ती है। उस निर्गुण में वे गुणों का आरोप करते हैं। गुणों के उस आरोप से परमात्मा का निर्गुणत्व समाप्त नहीं कर दिया जाता। वह अपने आप में माया के तीनों गुणों से परे है और आरोपित गुणों से उसमें किसी विक्रिया के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी आरोपित गुण भक्त को भगवान् के सान्निध्य में ले जाने में बड़े सहायक होते हैं। भगवान् के हम जैसे गुणों का भजन करते हैं हमारे भीतर भी वैसे ही गुणों का विकास होता चला जाता है। एक समय ऐसा आता है जब कि हमारे भीतर विकसित सात्त्विक गुण भी विलीन हो जाते हैं और हम तद्रूप हो जाते हैं। इसी का परिचय कबीर ने यह कह कर दिया है—

"गुण गायें गुण ना कटै, रटै न राम वियोग'।"

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति एक भाव है जो हृदय की तरंग है। इसी तरंग से प्रेरित होकर कबीर 'राम' के रिझाने तक की बात कह जाते हैं। यही 'अलौकिक' में 'लौकिक' का आरोप है। जिस प्रकार हम अपने गुणों को किसी गायक से सुन कर उस पर रीझते हैं उसी प्रकार परमात्मा भी उपासक के मुख से गुण-वर्णन सुन कर रीझता है। हम अपनी प्रशंसा के कारण रीझते हैं जो दुर्बलता है, किन्तु वह गायक पर इसलिए रीझता है कि वह उसमें मुक्ति की प्रवृत्ति देखता है। परमात्मा के गुणों में 'अमृतत्व' बतलाकर कबीर ने इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। कबीर के निम्नलिखित शब्द इसी रहस्य को स्पष्ट करते दीख पड़ते हैं—

"कबीर राम रिझाइ लै मुखि अमृत गुण गाई'।"

भाव की लहर में किन्तु भाव ही की रक्षा के लिए कबीर 'निर्गुण' में गुणों का आरोप अवश्य करते हैं, किन्तु वे संख्यातीत हो सकते हैं। क्योंकि परमात्मा अनन्त और असीम है। इसलिए उसमें अनन्त गुणों की कल्पना उसके

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७ २८

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-३१

मनुष्य ही है। भावना अपने किसी कारण से भगवान् में गुण देख सकती है और भावुक उसी गुण के साथ में ढलता जाता है। इसी बात की पुष्टि कबीर की इस उक्ति में मिलती है—

"जिहि हरी जैसा जाणिया तिनकूं तैसा लाभ।[1]

कबीर की भावना परमात्मा की अनन्तता से अभिभूत है इसीलिए उन्होंने उसमें अनन्त गुणों का वैभव देखकर विस्मय भरे शब्दों में कहा है—

'सात समंद की मसि करौं, लेखन सब बनराई।
धरती सब कागद करौं तऊ हरि गुण लिख्या न जाई'[2]॥'

भक्त परमात्मा के जिन गुणों का गान करे इस विषय में कबीर किसी प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते। जिसको जो गुण अच्छा लगे वह उसे अपना सकता है क्योंकि मीठे की कोई परिभाषा नहीं है। जिस को जो मिठाई भाती है उसके लिए वही मिठाई है—

'मीठो कहा आहि जो भावै।
दास कबीर राम गुन गावै[3]॥

राम गुण की मिठाई हर किसी को अच्छी नहीं लगती। "कामी को तो राम बिल्कुल ही अच्छा नहीं लगता। वह तो विषय विकारों में ही लीन रहता है[4]।" किन्तु 'साधु उसके गुणों को कभी नहीं भुला सकता क्योंकि वह परमात्मा का बड़ा आभारी है जिसने उसे नेत्र, नासिका, दान आदि अमूल्य वस्तुएं प्रदान की हैं और जिसने उसको भोजन वस्त्र दिए हैं[5]।' वह तो उसके गुणों का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझता है। ऐसे शब्दों से कबीर परमात्मा में 'कर्तृत्व' की भी कल्पना कर लेते हैं और यह कल्पना उनकी भक्ति भावना की एक दृढ़ भूमिका

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-४
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६-१४७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२०-३३८
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७ २६१

को तैयार करती है। कबीर का विश्वास है कि जो हरि-भजन करने वाले हैं वे विकारो का परित्याग कर देते हे क्योकि उनमे भगवद्गुणो का उदय हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य वास्तव मे पवित्र होते हैं। कबीर उन लोगो को पवित्र नही मानते जो 'छूग्रा-छूत' का विचार करते हैं[1]।"

कबीर उस एक को अनेक भावो मे देखते हैं। बीज एक है किन्तु उससे वृक्ष की अनेक शाखा प्रशाखाएँ प्रकट हुई हैं। वह मूल बीज सामान्य मनुष्यो की दृष्टि से परे है। उसे तो विवेकी ही समझ सकता है। इस के अतिरिक्त मनुष्य के अनेक भाव परमात्मा को उसके हृदय मे अनेक रूपो मे प्रतिष्ठित कर लेते हैं। परमात्मा के गुणो के ध्यान मे सेवा भाव परमावश्यक है। जहाँ सेवा का भाव है वही मुरारी की सत्ता है। सत लोग सेवा भाव से ओतप्रोत होते हैं अतएव इसके प्रादुर्भाव के लिए सत्सग की उपेक्षा कदापि नही की जा सकती[2]।"

जो लोग भगवान् के गुणो को भूल गये हैं वे कबीर की दृष्टि मे भगवान् के चोर है क्योकि भगवान् की दी हुई नियामतो का वे उपयोग न करके उनको व्यर्थ कर रहे हैं। ऐसे मनुष्यो की तुलना वे चमगादडो से करते हैं[3]। कबीर तो उसी को गुणी और पण्डित कहते हैं जो दूसरो के साथ मिल कर हरि-गुणगान करता है[4]।

५ विनय-दैन्य-प्रकाशन—यह है कबीर भक्ति की पाँचवी भूमिका। इस भूमिका पर स्थित भक्त अपनी दुर्बलताओ को भगवान् के सामने खोल कर गिडगिडाता प्रतित होता है। वह अपने को किसी भी हीनावस्था मे प्रकट करने के लिए उद्यत रहता है। कबीर के शब्दो मे उनकी एक ऐसी ही अवस्था का अवलोकन कीजिये —

> "कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउ।
> गलै राम की जेवडी, जित खैंचे तित जाउँ[5]॥"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७३-२५१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७ १२१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३-२८
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८६
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०-१४

इस साखी से यह स्पष्ट है कि जो कबीर साधारणतया रूखे-सूखे से प्रतीत होते हैं वही विनय की चरम सीमा पर आ पहुँचे हैं। ऐसा विनय प्रधान कबीर हर किसी के सामने नहीं करते। किसी भी राजा को वे खोरी-खरी सुना देते हैं किसी भी अभिमानी के अभिमान पर वे वाणी का कठोराघात कर देते हैं किन्तु भगवान् और भगवद्भक्तों के संबंध में वे बड़े नम्र हो जाते हैं। जिसके मुख से राम का नाम निकल पड़ता है उसको वे बहुत पवित्र मानते हैं और अपने शरीर के चम को उसके पैरों की जूती बना देने तक के लिए तैयार हो जाते हैं[1]।"

कबीर आवागमन के नाच से परेशान हो गये हैं। वे जानते हैं कि नृत्य वाद्य के अनुरूप होता है। परमात्मा के वादन (इच्छा) के अनुरूप नाचते-नाचते कबीर बहुत दुखी हो चुके हैं। अतएव वे उससे अधिक न नचाने की प्रार्थना करते हैं और कहते हैं—हे राम! मेरी इतनी सी विनय है कि अब नचाना बन्द करके मुझे अपने चरणों का दर्शन देने की कृपा कीजिए[2]।'

विषय वासनाएँ मेरा पीछा नहीं छोड़ रही हैं। मैं उन को छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु छोड़ नहीं पा रहा हूँ। चाहे घर छोड़ दूँ, वनखंड में जा रहूँ और कन्द मूल पर निर्वाह करता रहूँ फिर भी मन गन्दगी से मुक्त नहीं हो रहा है। मैं जितना सुलझाने के लिए प्रयत्न करता हूँ उतना ही उलझता जाता हूँ। हे केशव! आप तो घट घट वासी हैं और सब कुछ जानते हैं। मैं पापी हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु आप जैसा कोई दाता भी तो नहीं है। अब तो आप को ही मेरी रक्षा करनी होगी[3]।'

कबीर कहते हैं—'हे दामोदर! मैं नहीं जानता कि मैंने इस संसार में किस कारण से जन्म लिया है और मैं यह भी नहीं जानता कि पैदा होकर मैंने कोई सुख भी पाया है, किंतु मुझे अपना अपराध अवश्य ज्ञात है। मैंने प्रेमपूर्वक आप की भक्ति नहीं की। आप तो बड़े कृपालु हैं, और भवहारी भक्तवत्सल हैं।

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६१-१५६
२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११३-७८
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १४८-१७८

अब आप कृपा करके मेरी बुद्धि को प्रेरणा दीजिये और उसे दृढ़ता प्रदान कीजिये[1]।" 'गायत्री मंत्र में वैदिक ऋषि की भी इसी प्रकार की प्रार्थना है[2]।'

कबीर सांसारिक पीडाओं से बड़े आर्त हो रहे हैं। वे साफ-साफ स्वीकार कर लेते हैं कि उनका मन राम की ओर इसलिए मुड़ा है कि लोक में उन्हें दुख ही दुख दिखाई दिया है और उससे वे बड़े भयभीत हैं। जननी के जठर में जन्म से पहले ही दुख भोगना पड़ा। वह भय अब तक उनके ऊपर सवार है। काया दिन-दिन क्षीण हो रही है, जरा प्रकट हो रही है और काल बैठा पकड़ कर अपना मृदंग बजा रहा है। इस विपत्ति से वे अपनी मुक्ति उस समय तक संभव नहीं समझते जबतक कि भगवान् की कृपा न हो। इसलिए वे यह प्रार्थना करते हैं—'हे करुणामय ! इतनी कृपा कीजिये कि मैं आप को भूल न जाऊँ[3]।'

कातर कबीर माधव से बड़े परिचित स्वर में पूछते हैं—"हे माधव ! मेरे ऊपर आपकी दया कब होगी जबकि मैं काम, क्रोध, अहंकार आदि से मुक्त होकर माया के चंगुल से छूट जाऊँगा। इस दुख को किससे कहूँ, कोई समझ नहीं सकता। आप से तो यही प्रार्थना है कि मेरे विकारों को दूर करके मुझे अपना दर्शन दीजिये[4]।'

कबीर के विनय में निश्छलता की भावना है। ऐसा प्रतीत होता है कि राम से कबीर का परिचय बढ़ गया है। वे उसके सामने अधिक स्पष्ट हो गये हैं। "यदि लोग मुझे नहीं समझते तो मुझे चिन्ता नहीं है। वे मेरे संबंध में कुछ भी कहें। वे मुझे पागल कहते हैं तो कहते रहें। यदि मैं पागल हूँ तो भी आपका हूँ[5]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५३-१६१
२. 'धियो योनः प्रचोदयात्'।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६४-२२३
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६२-३०८
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०४-३४३

कबीर की गुप्तवादिता राम के साथ भी प्रखरता धारण कर लेती है और यहाँ तक वह कहते हैं— हमहिं तुमहिं क्या तुम्हहिं अजाना[1]। विनय की लहरों में उछलते डूबते कबीर इन शब्दों के साथ राम की शरण में आ पड़ते हैं —

राम राई मेरा कहूया सुनीजै
पहले बकसि अब लेखा लीजै।
कहै कबीर बाप राम राया
अबहू सरनि तुम्हारी आया[2]॥

६ शरणागति एवं आत्मसमर्पण—यह कबीर की भक्ति की अन्तिम भूमिका है। इस पर कबीर अपनी समग्र दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए अपनी समग्र शक्ति और सामर्थ्य को भगवदर्पण कर देते हैं। इस भूमिका के हम पाँच पहलू पड़ते दिखायी हैं। इन का प्रथम पक्ष वह है जिसमें कबीर अपनी विवशता का अनुभव करते हैं और अपनी सम्पूर्ण विवशता के साथ वे भगवान् की शरण में आ पड़ते हैं —

कहै कबीर नहीं बस मेरा,
सुनिये देव मुरारी।
इत भैभीत डरों जम दूतनि,
आये सरनि तुम्हारी[3]॥

इस भूमिका के दूसरे पहलू में कबीर राम में अनन्याश्रय की भावना करते हैं। इस पर उन्हें परमात्मा के सिवा अपना और कुछ नहीं दिखायी पड़ता और वे कह भी देते हैं —

'तारण तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौं आन देव नहीं मानौं'॥[4]

---

१. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २०७-३५८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७-३५७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६-२६६
४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२३-११२

शरणागति के तीसरे तल पर कबीर का मोह माया से छुटकारा हो जाता है क्योंकि उसका झूठा रूप उनके सामने आ जाता है और माया के मिथ्यात्व की भावना उन्हें परमात्मा की शरण में आने के लिए प्रेरित करती है। वे भगवान् की शरण में आकर अपनी प्रभुत्व-भावना का विसर्जन करके अपना सर्वस्व उसी को समर्पित करते हुए कहते हैं —

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सौंपता, क्या लागै मेरा[1] ॥"

इस तल पर कबीर को ममत्व (शरीर तक) के प्रति अनासक्ति हो जाती है और उसे भगवान् को सौंपने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती ।

इस भूमिका के चौथे तल पर कबीर अपने ऊपर परमात्मा का पूर्ण अधिकार स्वीकार करके अपने को उसकी इच्छा को सौंप देते हैं—

'मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं ।
तन मन धन मेरा रामजी कै ताईं॥
आनि कबीरा हाटि उतारा।
सोई गाहक सोई बेचनहारा[2] ॥''

भूमिका के अन्तिम तल पर कबीर विस्मयाविष्ट हो जाते हैं। वे परमात्मा के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानते हुए भी न जानने का अनुभव करते हैं और यह कहते हुए मौनाश्रय लेते प्रतीत होते हैं—

'तेरी गति तूही जानै, कबीरा तो सरना[3] ।'

इस प्रकार कबीर की भक्ति की छः भूमिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैराग्य न केवल भक्ति को प्रेरित करता है अपितु स्वयं

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९-३
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२४-११३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-२१६

ा का काम करता है। वैराग्य के साथ ही श्रद्धा और विश्वास की स्थिति ता है अतएव इसको भी उसी भूमिका का अंग मान सकते हैं।

कबीर ने 'दशधा' की बात कह कर भक्ति के आचार्यों के लिए एक या प्रस्तुत कर दी है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'नवधा भक्ति' के -पिटे रूप को कबीर ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसमें अंधविश्वास के ा के लिए अधिक अवकाश था। कबीर की दशधा भक्ति 'भावभक्ति' है में किसी कामना को स्थान नहीं है, विश्वास सहित भावभक्ति ही उनकी न का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करती है। हमारे सामने कबीर अपने ही शब्दों ाथ भक्ति का रूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

नैन निहारौं तुझकौं स्रवन सुनहुँ तुव नाउ।
बैन उचारहु तुव नाम जी, चरन कमल रिद ठाउं॥[1]

कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि विश्व के कण-कण में भगव-ाप्ति दिखायी पड़े, प्रत्येक ध्वनि में भगवन्नाम सुनायी पड़े, वाणी पर उसका ।रूढ़ हो जाय और हृदय में उसकी स्थिति हो जाय तो समझिए कि भक्ति द्ध हो गयी। 'नैन निहारौं तुझकौं' का अभिप्राय यह नहीं है कि कबीर ने साका-ासना को मान्यता दी है, अपितु इसका अर्थ 'उसकी व्याप्ति की अनुभूति' है। ी प्रकार 'चरण कमल' का अर्थ भी हृदय में भगवान् की स्थिति की अनुभूति ही है।

कबीर की भक्ति में भावों की प्रतिष्ठा स्पष्टतः दिखायी पड़ती है :— १) शिष्य भाव, (२) वत्सभाव, (३) दास-भाव, तथा (४) कान्ता-भाव।

(१) कबीर ने गुरु और गोविन्द में न केवल अभेद माना है, अपितु गोविंद गुरु का दर्शन भी किया है। आस्तिकों ने परमात्मा को परम गुरु माना है। बीर भी 'गोविंद को जगद्गुरु'[2] कहते हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५१-८८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१८-३६०, 'जगत गुर गोविंद रे।'

अपने दूसरे भाव के अन्तर्गत कबीर परमात्मा को माता पिता के रूप में देखते हैं। परमात्मा को माता मानते हुए कबीर विनयपूर्वक कहते हैं—'हे हरि रूपी माता, मैं तेरा बालक हूँ। फिर मेरे अवगुणों को क्या नहीं क्षमा करती ? लौकिक माता के सामने पुत्र न जाने कितने अपराध करता है किन्तु माता उन में से किसी पर ध्यान नहीं देती। बालक का अपराध कभी-कभी तो इस सीमा तक पहुँच जाता है कि माँ के केश पकड़ कर उस पर आघात तक कर देता है, फिर भी उसके प्रति माता का प्रेम कम नहीं होता। इतना ही नहीं वरन् बालक को दुखी देख कर माता को भी दुख होता है।'

जिस प्रकार माँ के सामने कबीर अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते हैं। उसी प्रकार पिता (परमात्मा) के सामने भी वे अपने अपराध स्वीकार कर लेते हैं। पिता के प्रेम को अपनी ओर खींचने के लिए कबीर उसी प्रकार का उपाय करते हैं जिस प्रकार का कि वे माँ के प्रेम को खींचने का प्रयत्न करते हैं। भूल से उन्होंने कुछ काम ऐसे कर दिये हैं जिनके कारण उनका हृदय भय से काँपता है। फिर भी वे राम पिता से कुछ कहने का अवसर प्राप्त करते हैं और अपराधों का विवरण माँगने से पूर्व क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करते हैं। यह कबीर की घरेलू युक्ति है। क्षमा कर देने पर पिता का लेखा लेना कुछ अर्थ नहीं रखता। राम के प्रति कबीर द्वारा यह एक निकट संबंध की स्थापना है।

तीसरे भाव से कबीर भगवान् को स्वामी या प्रभु के रूप में देखते हैं। इस भाव के अन्तर्गत कबीर राम को राजा भी मान लेते हैं और स्वामी भी। राम राजा ही कबीर की 'नव निधि'[1] है। अपने ठाकुर (स्वामी) की प्रकृति का संकेत देते हुए कहते हैं—

"दास कबीर को ठाकुर ऐसो,
भगति करै हरि ताकी रे[2] ॥"

चौथा भाव पति-भाव है। कबीर की भक्ति में यह भाव अधिक प्रबल दिखायी पड़ता है। इसमें माधुर्य की बड़ी सरस लहरें उमड़ती दीख पड़ती हैं।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३००-१२४
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०४-४८

इसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।

भक्ति के अन्तराय—जिस प्रकार सत्संग, वैराग्य आदि भक्ति के साधन हैं उसी प्रकार कुसंगति, विषयरति, संशय, राग-द्वेष, आशा, स्वार्थ आदि से भक्ति में बाधा पड़ती है। भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु कुसंग है। नारद ने भक्ति-सूत्र में दुःसंग को सर्वथा त्याज्य कहा है।[1] कबीर भी कुसंगति को विनाशक बतलाते हैं। उनका कहना है— कुसंगति में पड़ कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारों में मिल कर आकाश की बूंद अपनी निर्मलता खो बैठती है। विषय रति और हरि प्रेम में विरोध है। जबतक मन में विषय रहते हैं तबतक उसमें हरि का निवास नहीं होता और जब उसमें हरि का निवास हो जाता है तब विषय निकल भागते हैं—

> "जब बिषै पियारी प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नांहि ।
> जब अन्तर हरि जी बसै, तब बिषिया सूं चित नांहि[2] ॥"

जिस हृदय में संशय रहता है उस हृदय में भी हरि-प्रेम नहीं रह सकता क्योंकि संशय विश्वास को नहीं ठहरने देता। संशय के कारण उपासक उपास्य का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकता और जहाँ राम का प्रेम होता है वहाँ उपासक और उपास्य में अन्तर रह ही नहीं सकता—

> "जिहि घट मैं संसौ बसै तिहि घटि राम न होइ ।
> राम सनेही दास बिचि, तिणा न संचर होइ[3] ॥"

राग आसक्ति और भय को जन्म देता है और जबतक मनुष्य के हृदय में इनका आसन रहता है तबतक वह भगवत्प्रेम का आसन नहीं बन सकता इनका आसन तभी उखड़ता है जब परमात्मा में विश्वास जमता है, उसके प्रति प्रेम होता है। राम का स्मरण ही भय को भगा सकता है। उसमें दृढ़ता चाहिये। जब तक स्मरण दृढ़ नहीं होता तबतक भय का अड्डा नहीं उखड़ता और भय के

---

१ ना० भ० सू० ४३
कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१३

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१४

साथ क्रोधादि भी जमे रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि राग-द्वेष को हृदय से निकालने का उत्कट प्रयत्न किया जाये।

भक्ति-मार्ग मे आशा भी एक प्रबल विघ्न प्रस्तुत करती है। कबीर लोक से कोई आशा करना व्यर्थ समझते हैं। लौकिक आशाएँ उपास्य को राम के समीप नही जाने देती और राम में विश्वास नही जमने देती और न वे अनन्य भाव की प्रतिष्ठा होने देती हैं। राम के उपासक को किसी से आशा नही करनी चाहिये क्योकि उसको आवश्यकता ही नही रहती। जो पानी में रहता है वह भी प्यासा मरे तो बड़े आश्चर्य की बात है[१]।" हरि-भक्त को तो शरीर की भी आशा नहीं करनी चाहिये क्योकि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति रहती है तब तक भक्ति-भाव नहीं आता[२]। कबीर का विश्वास है कि आशा मनुष्य-विश्वास को नही जमने देती और मन को चचल बनाती है। आशा चिन्ता को भी बढ़ाती है। इसलिए कबीर कहते हैं :—

> "सरग लोक न बाछिये, डरिये न नरक निवास।
> हूणा था सो ह्वै रह्या, मनहु न कीजे झूठी आस[३]॥"

"जिस हृदय से आशा विसर्जित हो जाती है तब हरि स्वय भक्त की सेवा करता है कि कही भक्त को दुख न हो[४]।"

स्वार्थ भी भक्ति पथ मे आनेवाला एक भीषण अन्तराय है। आशा का जनक ही वास्तव मे स्वार्थ है। स्वार्थ मनुष्य को अधा करके उसके विवेक को छीन लेता है। स्वार्थ ही प्रेम की पावनता को कलुषित करता है। "स्वार्थ से तो सभी लोग प्रेम करते दिखायी पड़ते हैं, किन्तु वह भक्ति नही है। जहा नि:स्वार्थ प्रेम है वही भक्ति होती है[५]।"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-११
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४०
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२१
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-१५

:२१:

कबीर का योग-दर्शन

कबीर की साधना म योग का स्थान—जिस प्रकार सामाजिक पक्ष में कबीर ने कुछ दृष्टिकोण बना लिय थ उसी प्रकार व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र म भी उन्होंने कुछ सिद्धान्त निर्धारित कर लिय थ। उनम स उनके अपने सिद्धान्त यद्यपि कम थ, किन्तु जो थ व अपने मौलिक अस्तित्व के प्रतिपादक थ और जो सिद्धान्त उन्होंने दूसरे धर्मों से ग्रहण किय थ व उनके विवेक की कसौटी पर कसे हुए थ। उनका चयन चेता की क्षमता को प्रमाणित करता है। कबीर के सिद्धान्तो म प्रेम का प्रमुख स्थान है। जहा कहीं सैद्धान्तिक मौलिकता का दर्शन होता है वहा प्रेम का समावेश अवश्य हुआ है। सच तो यह है कि प्रेम कबीर की साधना और उनके सिद्धान्तो का मूल आधार है। यही कारण है कि उनका अद्वैत दर्शन तक प्रेमानुरजित दिखायी पडता है। उन्होंने योग की स्थूलता को प्रेम से भावित करके सूक्ष्मता म पर्यवसित कर दिया है। प्रेमातिरेक से योग और अद्वैत-दर्शन भक्ति-क्षेत्र के अधिवासी हो गय ह। फिर भी योग और अद्वैत दर्शन में ही नहा, कबीर की भक्ति म भी एक दृष्टिकोण है।

योग और प्रेम—ऊपर यह कहा जा चुका है कि कबीर की योग-साधना उनकी प्रेम-साधना का ही एक अग है। जिस प्रकार सिद्धो ने योग को कायिक सिद्धियो के आडम्बर म लपट दिया था उसी प्रकार कबीर ने उसे परपरा की शृखला म नहीं जकडा। 'सिद्ध और नाथो की परपरा मे कबीर' क अन्तर्गत यह बतलाया जा चुका है कि कबीर किसी परपरा को वहा तक ही पुरस्कृत करत थ जहा तक वह कल्याणकारी सिद्ध होती थी। इसके आग वे उसको स्वीकार नहीं करते थ। कबीर योगी थ, इसमे तो सन्देह की कोई बात नहीं है किन्तु सिद्धो और नाथो के ढग के योगी नहीं थ। उन्होने योग को स्वार के लिए नहीं अपनाया था और व उसको योग म प्रविष्ट ही होने या। व अपने ढग के योगी थ। उन्होने योग को 'मध्यम मार्ग' की सीमाओं

म स्वीकार करते हुए उसके मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया था।

कहने की आवश्यकता नही कि योग को कबीर ने एक माग के रूप मे ही स्वीकार किया है। वह सिद्धो की भाति उनका लक्ष्य नही बन गया है। उन्होने साधन रूप में भी योग की उन्ही बातो को स्वीकार किया है जो उनकी अध्यात्म सिद्धि म भी सहायक होती हैं, अतएव कबीर के योगी के लक्षण परपरागत योगी के लक्षणो से भिन्न हैं। उसकी मुद्रा, सींगी आदि में विशेषता है। "जोगी" क लक्षण बताते हुए कबीर कहते हैं—

'अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा।
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढि अकास आसण नहीं छाडै, पीवै महारस मींठा।
परगट कथा माहै जोगी, दिल मे दरपन जोवै।"

× < ×

"ब्रह्म अगनि में काया जारै, त्रिकुटी सगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै'।"

परम पद के मार्ग—वास्तव म कबीर का लक्ष्य उस परम पद को प्राप्त करना है जिसे विरले ही पा सकते है। 'परम पद' के गढ पर वे एक मार्ग से नही वरन् एक ही साथ अनेक मार्गों से धावा बोलते हैं। योग भी उनमे से एक है। जिस प्रकार से अन्य मार्गों मे उसी प्रकार योग म भी मन एक विशेष व्यवधान है। जब तक इस व्यवधान का निवारण नही होता जब तक वह गढ विजित नही हो सकता। इस व्यवधान के निवारण के दमन और शमन, दो ही उपाय हैं। कबीर ने 'मन' को मारने की बात कही है, किन्तु 'विष' देकर मारने की नही, वरन् मधु देकर मारने की। कहने का तात्पर्य यह है कि वे मन को वश म करने के लिए कृत्रिम उपायो का उपदेश नहीं देते क्योकि वे सब दमनोपाय हैं। वास्तव म वे उसे शमनोपाय मे वश मे करना चाहते हैं जिसे वे 'सहज

---

१. कबीर ग्रथावली पद ६९

मार्ग' भी कहते हैं। कबीर का यह 'सहज मार्ग' ज्ञान, भक्ति और योग, इन तीनों के सामंजस्य से निर्मित हुआ है। इसलिए कबीर उसको वास्तविक योगी नहीं मानते जो आसन, मुद्रा, खपरा, सींगी, बेन आदि को योग के उपकरण के रूप में ग्रहण करता है। इन वस्तुओं को तो वे एक दिखावा समझते हैं। इन सब का विनिवेश वे मन में करके वास्तविक योगी का रूप-चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'ऐसो जोगी जाके मन में मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा॥
मन में आसण मन में रहणा, मन का जप तप मनसूं कहणा॥
मन में षपरा मन में सींगी, अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूला, कहै कबीर सो लहसै लंका'॥"

कबीर एवं योग संबंधी रूढ़ियाँ—योगियों में जो आडम्बर प्रचलित हो गये थे, कबीर ने उनको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने आडम्बरों की बड़ी निन्दा की है। वे यह मानते हैं कि योग के लिए किसी बाहरी उपकरण की अपेक्षा नहीं है। योग के लिए जो उपकरण आवश्यक हैं वे सब इसी शरीर में उपलब्ध हैं। बेन बटुवा, मेखला, भस्म, सिंगी आदि बाह्य वस्तुएं योगी के दंभ की सूचक हैं। वस्तुतः इनको मन में ही खोजा जा सकता है, अतएव वे योगी को संबोधित करते हुए उपदेश देते हैं —

'जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ,
ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ।
तत करि ताति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसण निहचल, रसना रस उपजाइ॥
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमै भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पांच करि निग्रह, खोजि परमपद राइ॥
हिरदै सींगी ग्यान गुणि बांधौ, खोजि निरंजन साचा।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिना प्यंड काचा'॥"

१ कबीर ग्रंथावली, पद २०६
२. कबीर ग्रंथावली, पद २०८

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर योग की रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करते। उनकी वाणी में अष्टांग-योग की सभी अनिवार्य बातें मिल सकती हैं, किन्तु हम कबीर की योग-साधना को किसी परंपरा के अन्तर्गत रख कर नहीं देख सकते क्योंकि उनकी दृष्टि योग के आवरण पर निहित नहीं है, वरन् उस के प्राणों पर निहित है। मनको उलटा चला कर उसे एकाग्र एवं निश्चल करना तथा उसके भीतर अथवा उसके प्रकाश में 'परम पद राइ' की खोजना ही कबीर के योग का लक्ष्य है। कबीर का योग राजयोग के अन्तर्गत रखा जा सकता है, फिर भी उसकी अपनी विशेषताएं हैं जिनमें प्रेमाभिषेचन प्रमुख है। सिद्धियों और चमत्कारों की अभिलाषा से विनिर्मुक्त कबीर परम्परागत योग-शृंखला से केवल उन कड़ियों को स्वीकार करते हैं जो मन को बांध कर प्रियतम तक पहुंचाने में सफल सिद्ध होती हैं। इसीलिए उन्होंने सिद्धों और नाथों की योग-पद्धति की उन सब मान्यताओं का तिरस्कार कर दिया है जो अनिवार्य नहीं है।

यम-नियम—जो यम-नियम किसी भी साधना के लिए आवश्यक हैं वे कबीर की दृष्टि में योग-साधना के लिए भी आवश्यक हैं, इसलिए उन्होंने पृथक् रूप में उनका निर्देशन नहीं किया किन्तु वे आसन की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं करते। इसी से उसकी दृढ़ता के लिए बार-बार सचेत करते हैं—

"सहज लछिन लै तजौ उपाधि, आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि।
पुहप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहा त्रिभवन धणीं[1] ॥"

आसन—जहां सिद्धों और नाथों ने चौरासी प्रकार के आसन बतला कर योग के कायिक पक्ष को महत्व दिया है, कबीर ने वहां केवल आसन को दृढ़ करने की बात कही है। आध्यात्मिक वातावरण के निर्मित करने में भी शरीर के अनुदान को भुलाया नहीं जा सकता। किसी न किसी प्रकार का आसन (Pose) अवश्य चाहिये, किन्तु वह दृढ़ होना चाहिये। दृढ़ आसन दृढ़ साधना की भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कबीर ने आसन की दृढ़ता और रक्षा[2] की बात पर विशेष जोर दिया है। वे आसन के प्रकारों के पीछे नहीं पड़े।

---

१ कबीर ग्रंथावली, पद ३२५
२ कबीर ग्रन्थावली, 'आसन राखि…', पद ३१६

प्राणायाम—आसन के पश्चात् योग का अन्य अंग 'प्राणायाम' है। योग दर्शन में प्राणायाम तीन[1] प्रकार का माना गया है—बाह्यवृत्ति, आभ्यान्तरवृत्ति और स्तंभवृत्ति। बाह्यवृत्ति का दूसरा नाम 'रेचक' है। आभ्यन्तर वृत्ति को 'पूरक' नाम से भी अभिहित किया जाता है। पहली प्रक्रिया में प्राण को बाहर ले जाकर रोक दिया जाता है और दूसरी में प्राण को भीतर ले जाकर रोका जाता है। तीसरे प्रकार का प्राणायाम स्तंभवृत्ति है। इसको 'कुम्भक' भी कहते हैं। इस प्रक्रिया में अन्दर गए हुए प्राण को यथाशक्ति रोकना पड़ता है। वास्तविक प्राणायाम कुम्भक ही माना गया है। यह दो प्रकार का होता है। जब रेचक और पूरक की सहायता ली जाती है तब इसे 'सहित' कहते हैं, पर जब उन दोनों की सहायता के बिना ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तब यह 'केवल' कहलाता है। इसी की सहायता से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। हठयोग प्रणाली में जिस प्रकार सिद्धासन, खेचरी मुद्रा और नाद-लय का महत्व है उसी प्रकार 'केवल' प्राणायाम का भी महत्त्व है।

प्राणायाम और मन—कबीर प्राणायाम का उतना विशद विवेचन नहीं करते जितना कि योगमार्ग में प्रायः किया गया है। फिर भी कबीर-वाणी में उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। योग की जटिलताओं की विवेचना करना कबीर का लक्ष्य नहीं था और न जटिल कायिक साधनाओं में ही वे योग को निहित मानते थे। वे तो योग को आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए उपयोगी मान कर उसके उपयोगी अंश तक ही अपनी वाणी को सीमित रखते थे। वे योग का उपयोग मन के दमन के लिए करते थे क्योंकि मन ही द्वैत की प्रतीति का कारण है। 'हीरा' की निष्पत्ति 'मानस' में होती है अतएव कबीर का योग-दर्शन मन पर विशेष जोर देता है। मन की विकृति का निवारण करने और उसे स्वस्थ बनाने के लिए कबीर प्राणायाम के उपयोग को नहीं भुला देते।

---

१. हठयोग प्रदीपिका, पृष्ठ ५५, श्लोक २२-३२
२ "आसन सिद्धि सदृशं न कुम्भ केवलोपम।
न खेचरी-समा मुद्रा न नादसदृशो लय॥"
—हठयोग प्रदीपिका १-४५

पच बाइ"[1] के खाजन की जो बात वे कहते हैं उसका अवश्य ही कोई महत्त्व है। रवि ससि पवना भलो बधि[2] कहकर भी वे प्राणायाम प्रक्रिया की ओर सकेत करते हैं। अतएव कबीर की वाणी मे नाडियो का मूल्य प्राणायाम के सबध से है।

नाडियाँ—कहने की आवश्यकता नही कि नाडियाँ प्राण वाहिनी हैं। इनके द्वारा शरीर मे प्राण-सचार होता है। इनकी सख्या के सबध मे शास्त्रो मे मत भेद है। भूतशुद्धि तत्र में इनकी सख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है प्रपचसार तत्र मे तीस हजार तथा शिवसहिता मे पैंतीस हजार कही गयी है"[3]। इनकी सख्या कितनी भी हो, इनमे से थोडी सी ही नाडियाँ महत्त्व की हैं जिनमे से तीन ही का नाम बार बार आया है। नाडियो की अनेकता उनकी दृष्टि मे है, यह स्पष्ट है।

जो हो कबीर यह मानते हैं कि नाडियाँ वे मार्ग हैं जिनमे प्राण शक्ति प्रवाहित होती है। यद्यपि कबीर शारीरिक शोध को विशेष महत्त्व नही देते, किन्तु मानसिक शोध मे शारीरिक शोध अपने आप समविष्ट हो जाती है। नाडी शोध योग की प्रारभिक सीढी है क्योकि मन का सबध वायु से है और वायु का नाडियो से[4]। नाडियो की अशुद्धता कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्व-गमन को रोकती है और शुद्धि उसमे सहायक होती है।

---

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १६८ पद ३२५
२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६८, पद ३२५
३ आर्थर एवेलन—सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १३०—तु०की०हृ० यो० प्र० ४ १८, तथा गोरक्ष पद्धति १ २५
४ मलाकलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यग ।
कथ स्यादुन्मनीभाव कार्यसिद्धि कथ भवेत् ॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्र मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसग्रहणे क्षम ॥'
—हठयोग प्रदीपिका २-४५

प्रमुख नाड़ियां—नाडियों मे इडा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इडा और पिंगला श्वास-वाहिनी नाडियाँ हैं। इनके द्वारा क्रम-क्रम से श्वास-प्रवाह होता रहता है अतएव ये काल की सूचना देती हैं बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चन्द्र और सूर्य काल की सूचना देते हैं। "इडा को चन्द्रा नाडी और पिंगला को सूर्या नाडी"[1] भी कहते हैं। 'ससिहर सूर' कह कर कबीर इन्ही नाडियों की ओर संकेत करते हैं। जिस प्रकार चन्द्र-सूर्य शब्द क्रमश इडा-पिंगला के प्रतीक हैं उसी प्रकार अग्नि सुषुम्ना का प्रतीक है। यह नाडी इडा और पिंगला के बीच मे स्थित है। यह 'काल का भक्षण'[2] करती है क्योंकि सुषुम्ना मार्ग मे वायु का प्रवेश तभी होता है जब इडा और पिंगला दोनों के मार्ग को रोक दिया जाता है। इन दोनों नाडियों का सबध अथवा ऐक्य सुषुम्ना मे होता है। इस प्रकार वायु के सुषुम्ना मे आने पर चन्द्र और सूर्य—रात और दिन अर्थात् काल का अन्त हो जाता है। यही योगी की अमरता है और इसी को उन्मनी अवस्था कहते हैं। जब सुषुम्ना में चन्द्र और सूर्य मिल जाते हैं तब प्राण सुषुम्ना के मार्ग मे ऊपर को चढते हैं। इसको कबीर 'उल्टी गंगा' बहना भी कहते हैं—

'उलटी गंग मेर कू चली'[3]।

इसी समय चक्रभेदन होता है और इसी समय अनाहत नाद सुनाई पड़ता है—

"प्रकट प्रकास ग्यान गुर गमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससिहर सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेरडंड सर पूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांना, बाजे अनहद तूरा[4]॥"

---

१. हठयोग प्रदीपिका २-७
२ आर्थर एवलेन—सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १३१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००, पद ३२९
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९०, पद ७

अथवा —

"ससिहर सूर मिलावा,
तब अनहद बेन बजावा[१] ॥"

नाडी-प्रतीक—जिस प्रकार इडा, पिंगला और सुषुम्ना को प्रतीक रूप में क्रमश चन्द्र, सूर्य और अग्नि कहते हैं उसी प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहते हैं। कबीर ने 'सरस्वती' का प्रयोग शायद कहीं नहीं किया। वे इसे बकनालि, सुषुमन नाडी, उलटी गंग आदि नामों से इंगित करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार 'गंग जमुन उर अतरै'[२] कह कर इडा[३] और पिंगला की ओर संकेत किया है उसी प्रकार 'बंक नालि[४] की डोरि' कह कर सुषुम्ना की ओर इंगित किया है।

त्रिवेणी—मूलाधार इन तीनों नाडियों की मिलन-स्थली है। इसको योग की भाषा में 'युक्त-त्रिवेणी' भी कहते हैं। आधार कमल से प्रारम्भ होकर इडा और पिंगला क्रम-क्रम से सुषुम्ना के दांये-बांये होती हुई ब्रह्म-रन्ध्र तक जाती हैं और आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में प्रवेश करती हैं। इस संगम को 'मुक्त-त्रिवेणी' कहते हैं क्योंकि यहां से निकलकर इडा और पिंगला पृथक् होकर क्रमश बांये और दांये नासिका रन्ध्र में चली जाती हैं। कबीर ने 'युक्त त्रिवेणी' को त्रिवेणी नाम से अभिहित कभी नहीं किया। इस स्थल की ओर उन्होंने जहां कहीं भी संकेत किया है 'मूल कमल'[५] नाम से किया है। हाँ, 'युक्त त्रिवेणी' को उन्होंने 'त्रिवेणी'[६] 'त्रिकुटी-संगम'[७], 'त्रिकुटी संधि'[८], 'तीरथ राज'[९] एवं

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १७३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-१८२
३ कबीर इडा को 'इला' कहते हैं।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४, पंक्ति १३
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४, पद १८
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति ११
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६०, पद ७
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४७, पद २०२
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४४, पद १७१

'त्रिकुट कोट' आदि संज्ञाएं प्रदान की हैं। कबीर ने योग के पारिभाषिक शब्दों से अनेक सुन्दर रूपक तैयार किये हैं। उनमें से नमूने के लिए एक दोहा सकते हैं जिसमें इडा, पिंगला, त्रिवेणी और षट् चक्रों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

'अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल को घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट'॥¹

जिस प्रकार धार्मिक लोग त्रिवेणी-स्नान का माहात्म्य बतलाते हैं उसी प्रकार कबीर भी त्रिवेणी-स्नान के माहात्म्य का वर्णन करते हैं, किन्तु कबीर की 'त्रिवेणी' में केवल मन ही स्नान कर सकता है और उसमें उसको 'सुरति' की प्राप्ति हो सकती है—

'त्रिवेणी मनहिं न्हवाइये।
सुरति मिलै जो हाथि रे'॥²

काशी—आज्ञाचक्र से गुजरती हुई इड़ा को 'वरणा' और पिंगला को 'असी' भी कहा गया है और उनके संबंध से चक्र को 'वाराणसी' कहते हैं। कबीर ने इन नदियों का नाम कहीं नहीं लिया और न चक्र को ही वाराणसी कहा है, किन्तु उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है। उन्होंने इस स्थल को कभी 'काशी' और कभी 'शिव की पुरी' कह कर उसी आशय की पूर्ति की है—

"काया कासी खोजै बास,
तहा जोति सरूप भयौ परकास"॥³

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८, पद २०४
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४, पद १८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति ११
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१३, पद २७३

षट्चक्र—योग शास्त्र में सुषुम्ना के मार्ग में अनेक चक्रों[1] की स्थिति बतलायी गयी है। इनमें से प्रथम मूलाधार है जो सुषुम्ना का मूल होने के कारण इस नाम से अभिहित किया गया है। यहीं कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। यह चक्र अधोमुख है और चतुर्दल कमल के आकार का है। यह गुदा और लिंग के मध्य स्थित है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो ऊर्ध्वमुख षड्दल कमल के आकार में लिंगमूल में स्थित है। नाभिमूल में तीसरा चक्र मणिपूर स्थित है जो दशदल कमल के आकार का है। इसके ऊपर हृदय में चौथा चक्र है जो द्वादशदल कमल के आकार का है जो हृदय चक्र या अनाहत चक्र के नाम से आख्यात है। पाचवाँ चक्र कंठस्थान में स्थित है। इसका नाम विशुद्ध चक्र है और यह षोड्शदल कमल कहलाता है। छठा चक्र आज्ञाचक्र या आकाश चक्र है। यह द्विदल कमल है और इसकी स्थिति भ्रूमध्य में है।

कबीर ने इन षट्चक्रों को स्वीकार किया है और उनके भेदन का महत्त्व पर जोर दिया है —

> "षट चक्र कवल बेधा, जारि उजारा कीन्हा।
> काम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हा[2]॥"

इन चक्रों का भेदन पवन को उलटने पर तथा सुषुम्ना में वायु के प्रविष्ट होने पर होता है—

> "उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सर पूरा[3]।"

सहस्रार चक्र और उसकी विशेषता—इन षट् चक्रों के अतिरिक्त ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र है जो सहस्रदलकमल कहलाता है। इसकी त्रिकोण-कर्णिका में पूर्ण चन्द्रमण्डल है। इसके मध्य में बिजली के समान परमानन्द रूप देदीप्यमान ज्योति है। इसमें चिदानन्दस्वरूप परमशिव विराजमान हैं। इनके

---

१ गोरक्ष पद्धति, पृष्ठ १४-१२ तथा पृष्ठ १५-१६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५६, पद २१०
३ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९०, पद ७

पार्श्व में सहस्र सूर्य के समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्द्धचन्द्राकार निर्वाणकला विराजमान है। इसके मध्य में कोटि सूर्यों के समान तेजोमय एवं रोम के समान सूक्ष्म निर्वाण-शक्ति की स्थिति है। इसके मध्य में मन-वाणी से परे, केवल योगगम्य, परमशिवपद है, इसी को परब्रह्म पद भी कहते हैं।

सहस्रारचक्र के समान अन्य चक्रों में भी देवस्थिति स्वीकार की गयी है। मूलाधार में ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान में विष्णु, मणिपूर में महारुद्र, हृदय में ईश्वर, विशुद्ध में सदाशिव तथा आज्ञाचक्र में शिव की कल्पना की गयी है।

चक्राधिदेव—इन चक्र-कमलों के दलों और अधिदेवों के संबंध में कबीर ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। कबीर ने एक अष्टदल-कमल भी माना है जो परंपरा से भिन्न है। किस कमल की स्थिति कहाँ है, इस संबंध में कबीर की वाणी स्पष्ट नहीं है। अधिदेवों के संबंध में कबीर ने जो स्वतन्त्रता ली है उसका कारण यह है कि वे अनेक देवों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उन्हें तो केवल एक ही देव मान्य है जिसे वह किसी भी नाम से अभिहित कर देते हैं। वह कहीं श्रीरंग, कहीं श्रीगोपाल, कहीं कमलाकान्त और कहीं ज्योति-स्वरूप है। निम्नलिखित उद्धरणों से उक्त कमल-दलों और अधिदेव-नामों का परिचय हो सकता है—

"षटदल कवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
दहुं के बीचि समाधिया, तहां काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।

× × ×

कदली कुसम दल भीतरा, तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मीच रे॥

× × ×

त्रिवेणी मनहिं न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे।

× × ×

गगन गरजि मघ जोइये, तहा दोसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषि है, तहा भीजत है सब सत रे।
षोडस कवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारी रे[1]।"

तथा

"आगम दुर्गम गढ रचियो वास, जामहि जोति करै परगास।
बिजली चमकै होइ अनद, जिहि पोडे प्रभु बाल गुबिंद॥

× × ×

अनहद सबद होत झनकार, जिह पौडे प्रभु श्री गोपाल।

× × ×

द्वादस दल अम्यतर मत, जह पौडे श्रीकमलाकन्त।

× × ×

जहा सूरज नाही चद, आदि निरंजन करै अनद[2]॥"

इन उद्धरणो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने योग-क्षेत्र में भी अपनी स्वतन्त्रता को अपहृत नही होने दिया। कबीर का लक्ष्य योग का विस्तृत एव विशद विवेचन करना नही था, अपितु अनन्य प्रेम की सिद्धि एव अद्वैत तत्त्व के साक्षात्कार के निमित्त मन को तद्नुरूप बनाने के लिए योग के उपयोग की ओर सकेत करना था। इसीलिए कबीर की वाणी म योग सबधी विस्तारों का अभाव है।

कुण्डलिनी—कबीर ने कुण्डलिनी के जागरण पर भी पर्याप्त जोर दिया है। इसके जागरण के लिए इडा-पिंगला के प्रवाह को रोकना आवश्यक है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पद ४
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६६, पद १६

इसके जागते ही सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और उसमे प्राणवायु ऊर्ध्वगामी हो जाती है —

"ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी ।

× × ×

उलटी गंग नीर बह आया, अमृत धार चुवाई ॥

× × ×

प्रेम पियालैं पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी[1] ॥"

"यह कुण्डलिनी मूलाधार के अधोभाग में स्थित है । कहते हैं कि वहाँ एक त्रिकोण चक्र मे स्थित स्वयंभूलिंग है । उसे साढे तीन वलया मे परिवेष्टित करती हुई कुण्डलिनी सुषुप्त सर्पिणी की भाँति स्थित है । सहस्रार चक्र मे नित्य पुरुष का निवास है । कुण्डलिनी की प्रसुप्तावस्था म बाह्य सृष्टि चलती रहती है, किन्तु योग द्वारा उसके जाग्रत हो जाने पर बाह्य सृष्टि पुरुष में विलीन हो जाती है[2] ।"

अमृत—सहस्रार म स्थित चन्द्र स अमृत स्रवित होता रहता है जो इडा नाडी से प्रवाहित होता रहता है जिसे मूलाधार मे स्थित सूर्य भस्म करता रहता है और उसके स्थान पर विष उत्पन्न करता है जो शरीर मे व्याप्त होता रहता है जिससे असामयिक जरा एव मृत्यु का सामना करना पडता है । योगी लोग उपाय से उस अमृत का सदुपयोग करके विष-प्रभाव से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं । इस अमृत-स्राव को कबीर निर्झर-रस भी कहते हैं —

"नीझर झरै रस पीजिये, तहा भवर गुफा के घाट रे[3] ।"

तथा

"नीझर झरै अमीं रस निकसै, तिहि मदिरावल छाका[4] ॥"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४

२. लययोग महिमा तत्र, पृष्ठ २

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति १०

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६, पद १५५

उद्बुद्ध कुण्डलिनी क्रमश षट्चक्रो का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र म शिव से जा मिलती है। इसको शिव-शक्ति सयोग भी कहते हैं। कबीर शिव शक्ति को ईश्वर-गौरी[1] भी कहते हैं।

कबीर की योग-साधना का स्वरूप— कबीर की योग-साधना मे अनेक साधनाओं का मिश्रण है। उनके समय मे योग के भी अनेक रूप प्रचलित थे। हठयोग मे उनमे से बहुतसी बातो का समावेश कर लिया गया था। फिर भी कबीर ने उन सब बातो को अपने ढग से ही स्वीकार किया। जिस प्रकार उन्होने कुण्डलिनी-योग की उपयोगी बातो को स्वीकार कर लिया उसी प्रकार मत्रयोग, लययोग और शब्द-योग की सारभूत बातो को भी अपना लिया। कहने की आवश्यकता नही कि नाम-सुमिरण जिसको हम मत्रयोग भी कह सकते हैं, सुरति शब्द-योग का ही रूप है। इसका लक्ष्य मन को नाम स्मरण मे इस प्रकार लगा देना है कि उसका अपना पृथक् अस्तित्व ही न रह जाये। लययोग का लक्ष्य भी यही है। इसमे साधक अपने को साध्य में विलीन कर देता है। इसको कबीर 'लौ' या 'लिव' कहते हैं। सुरक्षित-शब्द योग मे मत्र-योग और लययोग, दोनो का मिलन हो जाता है। बाह्य शब्द अन्तर्मुख होकर उच्चरित से अनुच्चरित एव अनाहत नाद मे परिवर्तित होकर शून्य रूप म परिणित हो जाता है। परमात्मा का नाम ही योग की चरम दशा मे परमात्मा हो जाता है और उसमे साधक डूब जाता है।

सहजयोग—सक्षेप म यह कहा जा सकता है कि कबीर का योग मनो-योग है जिसका वे सहजयोग भी कहते हैं। इसको न तो अष्टाग योग ही कह सकते है और न षडग हठयोग ही, क्योकि इसम किसी श्रम, श्रम, या कृत्रिमता के लिए अवकाश नही है। यद्यपि कबीर ने यम-नियम की कोई चर्चा नही की, किन्तु उनका कहीं खडन भी नही किया। हाँ, उनके सहजयोग म कठोर नियमो का, जिनम श्रम एव दिखावा अधिक है, समावेश नही है। आसन की दृढता पर जोर देकर कबीर न उनके भेद-विस्तारो को छोड दिया है। वे प्राणायाम और उसके महत्त्व को अच्छी तरह समझते हैं, किन्तु कुम्भक को अधिक अनुकूल समझते है —

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ११०, पद ७१

"अब कुम्भकु भरिपूरि जीता, तब बाजे अनहद बीना[१]।"

अनेक नाड़ियों की ओर संकेत करते हुए भी कबीर ने इडा, पिंगला और सुषुम्ना का ही नाम लिया है। इडा पिंगला से तो उन्होंने भाटी का काम लिया है। कबीर के सहजयोग में सहयोग देने वाली नाड़ी सुषुम्ना है। इसी के मार्ग से वे वायु को उलटते हैं और इसी के मार्ग से वे सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं जहाँ वह शक्तिरूपिणी कुण्डलिनी शिव से मिलती है। इस दशा में परमानन्द की प्राप्ति होती है। षट् चक्रों का भेदन भी सुषुम्ना के मार्ग के खुलने पर ही होता है। सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र का मार्ग है और ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ब्रह्मरन्ध्र और सुषुम्ना में विशेष अन्तर नहीं मानते[२]। 'भवर गुफा' सुषुम्ना और ब्रह्मरन्ध्र, दोनों की एक साथ संकेत करती है। इस ब्रह्मरन्ध्र में कबीर को आराध्य परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। इस 'दरीबे' में आकर मन पवन के साथ विलीन हो जाता है। इस अवस्था को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

> "उनमन मनुवा सुनि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी।
> कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, राम नाम लिव लागी[३]॥"

इसको कबीर मन की निर्वाण अवस्था भी कहते हैं —

> "कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालि।
> डूगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवाणा चालि[४]॥"

योगियों का कहना है कि 'सहस्रार' में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता है जिसे मूलाधार में स्थित सूर्य सोखता रहता है। योगी लोग उसे उपाय से पीकर अजर अमर हो जाते हैं। कबीर उस चन्द्र का वर्णन तो नहीं करते जिससे अमृत स्रवित होता है, किन्तु वे वहाँ एक निर्झर अवश्य मानते हैं जहाँ

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८, पंक्ति ५
२. आर्थर एवेलन सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ ५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१, पद ९१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२
५.

से अमृत झरता रहता है[1] और कबीर का अनुभव है कि उसे पीकर साधक 'मतवाला' हो जाता है। कबीर का यह अमृत, मैं समझता हूँ, कायिक रस नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आनन्दमात्र है।

मुद्रादि—कबीर ने किसी विशेष मुद्रा का उल्लेख नहीं किया, किन्तु विभिन्न चक्रों में आराध्यदेव के ध्यान की बात अवश्य कही है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। मूलबंध[2] पर कबीर ने विशेष जोर दिया है क्योंकि इसका प्रभाव प्राणायाम की दृढ़ता पर भी पड़ता है।

ध्यान और नाद—ध्यानबिन्दूपनिषद योगी को अनाहतनाद सुनने की प्रेरणा देता है। साथ ही वह ध्यान के संबंध में भी निर्देशन करता है। पूरक के साथ नाभिकमल में स्थित चतुर्भुज रूप देव एवं सन के फूल के रंग का ध्यान करना चाहिये, कुम्भक के साथ कमलासन ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये तथा रेचक के साथ आज्ञाचक्र में स्थित त्रिलोचन रुद्र का ध्यान करना चाहिये[3]।

ध्यान की दृष्टि से कबीर अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—इन तीन चक्रों का विशेष उल्लेख करते हैं, यद्यपि 'कदली कुसुम दल'[4] का उल्लेख करके वे सर्वदेवमय 'नाभिकमल' का भी ध्यान रखते हैं। कमलाकान्त, श्रीरंग, श्रीगोपाल आदि नामों से कबीर किसी आकार की ओर इंगित नहीं करते किन्तु 'कदली कुसुमदल' आदि से वे ध्यान के लिए आश्रय अवश्य खोज लेते हैं। जब सालंब मन निरालंब होकर विलय को प्राप्त हो जाता है तभी आत्मदशा प्राप्त हो जाती है।

वायु और मन—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राण के साथ

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४
तथा पृष्ठ १३८, पद १५३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८, पद ३१
३ ध्यानबिन्दूपनिषद, ५-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, प० ७

मन का गहरा संबंध है बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि मन का वासना के साथ है। इसीलिए हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—'चित्त की प्रवृत्ति में दो कारण हैं —एक वासना और दूसरा प्राणवायु। इन दोनों में से एक भी क्षीण हो तो दोनों ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् वासना का क्षय होने पर प्राण और चित्त दोनों क्षीण हो जाते हैं और प्राण क्षीण होने पर चित्त और वासना दोनों नष्ट हो जाते हैं।'[1] 'जो पवन को बांध लेता है वही मन को भी बांध लेता है और जो मन को बांध लेता है वही पवन को भी बांध लेता है'।[2] कबीर भी मन-पवन के संबंध को भली भांति समझते हैं। वे यह जानते हैं कि जहाँ पवन लीन होता है वहीं मन भी लीन होता है[3]।

वायु अपने ऊर्ध्वगमन के साथ मन को भी ले जाता है और मन के ऊर्ध्वगमन में वायु का ऊर्ध्वगमन भी सन्निहित रहता है। मन के स्थैर्य और विलय का एक ही अर्थ है। जबतक मन में वृत्तियाँ रहती हैं तबतक उसकी चंचलता या अस्थिरता सिद्ध है। मन के स्थिर होने पर प्राण स्थिर हो जाते हैं और प्राण (वायु) स्थैर्य से बिन्दु (वीर्य) स्थिर होता है जिससे शरीर को सत्त्व एवं स्थैर्य प्राप्त होता है —

> 'मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
> बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते'।।[4]

कबीर मन के मारने की बात पर बहुत जोर देते हैं। इसी को सूफी 'फना' की स्थिति बतलाते हैं। कबीर जहाँ मन की स्थिरता पर जोर देते हैं वहाँ बिन्दु की स्थिरता पर भी जोर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इससे सत्त्व की प्राप्ति होती है जिससे मन स्थिर होता है। इसीलिए वे कहते हैं —

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४ २२
२ हठयोग प्रदीपिका, ४ २१
३ हठयोग प्रदीपिका पृष्ठ १५७, पद २०२
४ हठयोग प्रदीपिका, ४ २३
५ हठयोग प्रदीपिका, ४-२९

"सुष्पनै बिंद न देई झरना,
ता काजी कू जुरा न मरणा'।'

श्रोत्रादि इन्द्रियों का प्रेरक मन है, मन का प्रेरक मारुत है और मारुत का नाथ लय (मनोलय) है। वह लय नादाश्रित है अर्थात् नाद में मन लय को प्राप्त हो जाता है —

"इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रित.' ॥"

मन, मारुत और नाद—कबीर भी इन्द्रियों को अधिकृत करने के लिए मन को अधिकृत करने की बात कहते हैं। जबतक मन काबू में नहीं होगा तब तक इन्द्रिया भी काबू में नहीं आती —

"मन न मार्‌या मन करि, सके न पंच प्रहारि'।"

इन्द्रिय-विषयों मे रमा हुआ मन उस समय तक वश मे नहीं आ सकता जबतक कि उसको विषयों से विमुख न किया जाये। इस अभिप्राय से कबीर कहते हैं :—

"कबीर मन विकरै पड्या, गया स्वादि कै साथि।
गलका खाया बरजता, अब क्यूं आवै हाथि' ॥"

साधना की सफलता मन रूपी मृग को मारने में है। जिस प्रकार नाद-मुग्ध हरिण मारा जाता है उसी प्रकार नाद-लग्न मन भी मारा जाता है। यों तो कबीर ने मन मारने के अनेक साधन बतलाये हैं, किन्तु उनमें से एक साधन नादानुसन्धान भी है जो योग मे सबधित है। इसीलिए वे सुरति-निरति के साथ नाद की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहते हैं —

---

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २००, पद ३३०
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-२९
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९-१५
४. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २९-१६

"मुद्रा निरति सुरति करि सिगी, नाद न षंडै धारा[1]।"

मन और नाद—मन के विजय के लिए जिस प्रकार ज्योति का ध्यान आवश्यक है उसी प्रकार नाद-श्रवण भी आवश्यक है। राजा राम की ज्योति पर कबीर की अन्तर्दृष्टि लग जाती है और 'अनाहत नाद' में उनकी अन्तःश्रुति लग जाती है। यह अन्तर्दृष्टि और अन्तःश्रुति मन की ही एक स्थिति है। धीरे-धीरे मन इन्हीं में लीन हो जाता है —

"राजा राम अनहद किंगुरी बाजै,
जाकी दृष्टि नाद लव लागै[2] ।।"

तथा—

"जगत गुर अनहद कींगरी बाजै,
तहा दीरघ नाद ल्यौ लागै[3] ।।"

नाद की अवस्थाएँ—अनाहत नाद की चार अवस्थाएं होती हैं—(१) आरंभावस्था, (२) घटावस्था, (३) परिचयावस्था, और (४) निष्पत्ति-अवस्था। निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

"आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्[4] ।।"

"जब प्राणायाम के अभ्यास से अनाहत चक्र में वर्तमान ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तो हृदयाकाश में उत्पन्न आनन्दजनक, झनकार-झंकृति के समान अनाहत ध्वनि देह के भीतर सुनायी पड़ती है।

घटावस्था में प्राणवायु अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को एक

---

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०६-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६५, पद ४
३ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १३०-१५३
४. हठयोग प्रदीपिका, ४-६६

करके मध्य चक्र में स्थित होती है जो कंठ-स्थान में है। यहां कुम्भक द्वारा विष्णु-ग्रन्थि के भेदन से अतिशून्य (कंठाकाश) में भेरी-नाद जैसा विविध-नाद-सम्मर्द श्रवणगोचर होता है।

तीसरी अवस्था में भ्रू-मध्याकाश में मर्दल-वाद्य की सी ध्वनि होती है जो प्राणवायु के महाशून्य (भौंहों के बीच के अवकाश) में स्थित होने पर सुनायी पड़ती है। इस अवस्था में अनेक सिद्धियां मुग्ध करने आती हैं, किन्तु उनके तिरस्कृत होने पर सहज आत्मानन्द का उदय होता है और योगी दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा, निद्रा आदि से मुक्त हो जाता है। यहाँ आज्ञाचक्र है जिसकी ग्रंथि का नाम रुद्र-ग्रन्थि है। इसी ग्रंथि के भेदन के उपरान्त प्राण-वायु भ्रकुटि-आकाश में प्राप्त होती है इस स्थान को सर्वपीठ या शिवालय भी कहते हैं।

चौथी अवस्था में प्राणवायु ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है। इस अवस्था में वंशी और वीणा का शब्द सुनायी पड़ता है। इस अवस्था में सुनाई देने वाले नाद के भी अनेक भेद किये गये हैं। कहते हैं कि आदि में समुद्र, मेघ, भेरी और डमरू का सा शब्द सुनाई पड़ता है। अन्त में किंकिणी, वेणु, वीणा, अलि-गुञ्जन जैसा शब्द सुना जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मतर नाद को सुनता हुआ योगी का मन भी झीना (क्षीण) होता चला जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नाद के विलय के साथ मनोविलय भी हो जाता है[1]।

अनाहत नाद के अन्य नाम—अनाहत नाद के कबीर ने भी अनेक नाम बतलाये हैं। वे उसको कहीं गगन-गर्जना, कहीं 'अनहद तूरा', कहीं अनहद बैन, कहीं अनहद कीगुरी और कहीं 'अनहद बाजा' नाम से अभिहित करते हैं। 'अनहद झकार' का प्रयोग भी उन्होंने अनाहत नाद के लिए ही किया है किन्तु कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने किसी भेद-दृष्टि से किया है

"गुण और गुणी में अभेद है। आकाश का गुण शब्द है। जबतक शब्द सुनायी पड़ता है तबतक आकाश की कल्पना है। मन के साथ शब्द

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-७०,७७

के विलय हो जाने से जिस निःशब्द परब्रह्म की अनुभूति होती है उसे ही परमात्मा भी कहते हैं[1]।" कबीर का लक्ष्य भी 'अनाहत नाद मात्र' का सुनना नहीं है। उनका लक्ष्य उससे आगे असीम का साक्षात्कार करना है। वे ध्वनि के मार्ग से सहज में मिलने की बात कहते हैं —

> "स्वादि पतंग जरै जरि जाई,
> अनहद सौं मेरौ चित न रहाई[2]।"
> "कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी,
> सहजि मिलैगा सोई[3]॥"

लय—मनोविलय की स्थिति को कबीर 'शून्य' की स्थिति भी कहते हैं। जिनकी 'लौ' शून्य मे है वे उसी को 'जोगेस्वर' बतलाते हैं —

> "कहै कबीर सोई जोगेस्वर,
> सहज सुनि ल्यौ लागै[4]।"

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि 'लय' का तात्पर्य मन को वृत्तिहीन कर देना है। 'सुनि मडल में धरो धियान[5]' कह कर कबीर इसी अवस्था की ओर निर्देश करते हैं। इस अवस्था म जीव की क्या स्थिति होती है, इसका परिचय कबीर अपनी इस पंक्ति से देते हैं —

> "प्यंड परै जीव जैहै जहां,
> जीवत ही ले राखौ तहां[6]।"

इस अवस्था म शरीर और मन दोनों से सबंध नहीं रहता। जब मनो-वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं तो शरीर की सत्ता भी साधक के लिए नहीं रहती

---

१ हठयोग प्रदीपिका, ४-१०१
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २११, पद ३६६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०, पंक्ति ५
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद ६६
५. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६८, पंक्ति २३
६ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६८-३६

और मन इस समय नहीं रहता जब वह ब्रह्ममय हो जाता है। कबीर ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

तन नाहीं कब ? जब मन नाहि
मन परतीति ब्रह्म मन माहिं[1]।

मन ब्रह्ममय उस समय होता है जबकि वह गंगा यमुना के संगम पर जो दसवें द्वार पर स्थित है स्नान करके पावन हो जाता है—

तन मज्जन करि दसवें द्वारि,
गंगा जमुना संधि विचारि।

संभवतः वहां कुछ न देखकर साधक को निराशा हो इसलिए कबीर सचेत करते हैं —

नाहीं देखि न जइये भागि जहां नहीं तहां रहिये लागि[3]।

और समझाते हुए कहते हैं कि जहां आप लोगों को कुछ नहीं दीखता वहीं आपका आराध्य है। आप उसे पहिचानने का प्रयत्न कीजिये —

जहां नहीं तहां कछू जाणि
जहां नहीं तहां लेहु पछाणि[5]।

इस अवस्था को कुलार्णव तंत्र ने ध्यान का वह रूप बतलाया है जो विलक्षण है और जिसमें न अत्र है न अन्यत्र है जहां प्रकाश-पुञ्ज की सी

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १९८ पंक्ति २१
२ कबीर ने ब्रह्मरन्ध्र को दसवां द्वार कहा है—
दसवं द्वार लागि गई तारी पृष्ठ १८१ पद २७३
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १९८ पंक्ति १७
४ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १९८ पंक्ति १६
५ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १९८ पंक्ति १५
६ कुलार्णव तंत्र ९ ९

दीप्ति, सागर की सी गंभीरता तथा आकाश की सी व्याप्ति है।

"इस सकल्प-विकल्पहीन स्थिति को योग की भाषा मे अनेक नाम दिये गये हैं। समरसत्व, सहजावस्था, राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्य, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरजन, जीवन्मुक्ति, तुरीयावस्था आदि से एक ही अवस्था का द्योतन होता है। इस अवस्था म चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से सुख-दुख से मुक्ति हो जाती है। यह निर्विकार अवस्था होती है। इसीके अत म देह-त्याग के उपरान्त विदेह कैवल्य अथवा परममुक्ति की प्राप्ति हो जाती है जिसे स्वरूपावस्थान भी कहते हैं[1]।"

कबीर ने उन्मनी, मनोन्मनी, शून्य, परमपद, अद्वैत, निरालंब, निरजन, जीवनमुक्ति आदि नामों से इसी अवस्था की ओर सकेत किया है, किन्तु इस अवस्था को वे सत्ताहीन नहीं मानते। उन्मनी अवस्था मे समग्र ब्रह्माड पिंड मे आभासित होने लगता है।

निष्कर्ष—कबीर ने योग को प्रेम से आसिक्त किया है। जिस निरजन को हठयोगियो ने अवस्था माना है उसको कबीर ने प्राय एक सत्ता के रूप मे ही स्वीकार किया है। इसका कारण उनका प्रेमातिरेक है। इस प्रेम के अतिरेक से वे योग, ध्यान और तप को विकार कह डालते हैं। वे सर्वत्र निरजन राम को देखते हुए उसी का आश्रय ले लेते है :—

> "अजन आवै अजन जाइ, निरजन सब घटि रह्यौ समाइ।
> जोग ध्यान तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे राम अधार[2]।।"

'राम रसायन' के सामने वे सिद्धियों को हेय समझकर तिरस्कृत कर देते है। और तो और, ज्ञान तक को वे विकारों का कारण कह कर हरि-प्रेम को उत्कृष्ट बतला देते हैं —

---

१ आर्थर एवेलन, सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १९९

२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २०२, पद ३३७

"का सिधि साधि करौं कुछ नाहीं, राम रसाइन मेरी रसना माहीं।
नहीं कुछ ग्यान ध्यान सिधि जोग, ताथैं उपजैं नाना रोग।
का बन में बसि भये उदास, जे मन नहीं छाडै आसा पास।
सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार[1]।"

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान और योग को कबीर अपने में पूर्ण नहीं मानते, हरिप्रेम में ही उनकी पूर्णता सिद्ध होती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३०, पद १३०

: २२ :

कबीर का चिन्तन-पक्ष

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर का साधना-पक्ष बड़ा प्रबल है। कबीर योगी भी है और भक्त भी, किन्तु योग को व प्रेम सिद्धि का ही एक साधन मानते हैं अन्यथा हरि प्रेम के सामने वे योग को व्यर्थ न कह डालते। इतना ही नहीं, हरि प्रेमी कबीर ने ज्ञान तक को व्यर्थ कह दिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि योग और ज्ञान का उनके लिए कोई उपयोग ही नहीं है। वे योग को वृत्तियों के दमन के लिए और ज्ञान को तात्त्विक बोध के लिए भक्ति का सहयोगी मानते हैं।

योग उनकी व्यक्तिगत साधना है जिसका सम्बन्ध केवल उन्हीं से है, किन्तु प्रेम में उनकी व्यक्तिगत साधना होती हुई भी उसका उदय प्रसार से होता है जहाँ योग का कोई काम नहीं है, किन्तु ज्ञान उस प्रसार के विश्लेषणात्मक बोध के लिए भी आवश्यक रहा है। जैसे-जैसे उन्होंने प्रसार को समझा है वैसे-वैसे उनका प्रेम व्यापक एवं गहन होता गया है। यहाँ तक कि उनका सुधारवादी दृष्टिकोण भी उनके ज्ञान से प्रेरित है। उनके इस दृष्टिकोण में जहाँ ज्ञान की प्रेरणा है वहाँ प्रेम का आश्लेष भी है। ज्ञान ने उनके प्रेम को मार्जित करके चमका दिया है जिससे उन्हें समदृष्टि प्राप्त हुई है। ज्ञान सत्य का उद्घाटन करता है जिसे कबीर श्रेय और प्रेय, दोनों रूपों में देखते हैं।

कबीर के ज्ञान की दो भूमिकाएँ हैं जो उनके चिन्तन पर आधारित हैं। एक भूमिका पर वे लोक कल्याण में प्रवृत्त होते हैं जहाँ वे सुधार के प्रस्ताव एवं कुत्साओं की भर्त्सना करके विषमता को समता से पाटना चाहते हैं। दूसरी भूमिका पर वे परमात्मा के प्रेम में निमग्न होते चले जाते हैं। उनके प्रेम की चरम परिणति प्रिय, प्रेम और प्रेमी की एकता में होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर का ज्ञान क्षेत्र अद्वैतपरक है, किन्तु प्रेम क्षेत्र के पथिक कबीर का प्रस्थान बिन्दु द्वैतपरक है। प्रेम दो के बीच का

भाव है अर्थात् आश्रय और आलम्बन के बीच मे प्रेम पुल का काम करता है किन्तु प्रेम की एक विशेषता है कि वह अपनी अनन्यता की दशा मे प्रेमी को प्रियमान कर देता है। इस तथ्य की पुष्टि कबीर के ही शब्दो से की जा सकती है —

"तू तू करता तूं भया, मुझ में रही न हू।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं[1] ॥"

अतएव प्रेम अपने प्रारम्भ मे द्वैतपरक तथा परिणति मे अद्वैतपरक है। उस अद्वैत की विवेचना कबीर के चिन्तन-क्षेत्र की वस्तु है। वह अद्वैत तत्त्व क्या है, इसका उत्तर कबीर ने अनेक प्रकार से दिया है।

अद्वैत तत्त्व—"वह अद्वैत तत्त्व अद्भुत है, कहने मे नही आ सकता और हो सकता है कि कहे हुए पर सुनने वाले को विश्वास न हो क्योंकि सुनने वाले की अनुभूति भिन्न हो सकती है[2]।" इसीलिए कबीर कहते हैं —

"पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान[3] ॥"

उस अद्वैत तत्त्व को कबीर ने अनेक नामो से अभिहित किया है। पारब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, हरि, निरंजन, अलख, खालिक, निर्गुण, भगवान, राम, पुरुषोत्तम आदि अनेक नामो से वे उसी अद्वैत तत्त्व की ओर सकेत करते हैं। वह गुण विहीन है। उसका न कोई रूप है, न रंग है। उसमे देखने की कोई चीज नही है। उसका कोई नाम भी नही रखा जा सकता क्योकि वह निर्गुण और निराकार है। इसीलिए कबीर अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं —

"अब गति की गति क्या कहूं, जस कर गाव न नाव।
गुन बिहून का पेखिये, काकर धरिये नांव[4] ॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२-३
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३८, पंक्ति १४-१५

सामर्थ्य एवं शक्ति—उस अद्वैत तत्त्व के सम्बन्ध में कबीर की अनुभूति अद्भुत है। वहाँ कारण के बिना ही कार्य हो जाता है। "वह मुख के बिना खा सकता है, चरण के बिना चल सकता है, जिह्वा के बिना बोल सकता है, स्थान को छोड़े बिना ही दसों दिशाओं में फिर सकता है, हाथों के बिना ताली बजा सकता है, बाजे के बिना संगीत प्रस्तुत कर सकता है और शब्द के बिना अनाहत् नाद ध्वनित कर सकता है। उसे कोई बिरला ही जान सकता है[1]।" यह वर्णन उस अद्वैत तत्त्व की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतक है। इस प्रकार का वर्णन कबीर की कोई विशेषता नहीं है। उपनिषदों ने भी उसकी शक्ति एवं प्रभुता का वर्णन इसी प्रकार किया है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'[2] आदि शब्दों में श्वेताश्वतर उपनिषद ने उसकी महिमा का प्रतिपादन किया है तथा "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः"[3] कहकर कठोपनिषद् ने परमात्मा की महिमा के वर्णन करने की उसी शैली का उपयोग किया है।

देश-काल—कोई कृति उसके लिए असम्भव नहीं है किन्तु वह किसी कृति में आबद्ध भी नहीं है। देश और काल की सीमाएं भी उसे आबद्ध नहीं करतीं। 'न वह दूर है न निकट है।[4]' 'जिसके सम्बन्ध में न उदय का प्रश्न उठता है और न अस्त का[5]।' 'न उसका आदि है और न अन्त है[6]।' वह काल के विकारों से परे है। "न वह बाल है, न युवा और न वृद्ध ही।[7]" वह अजर-

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०, पद १५६
२. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-१९
३. कठोपनिषद् १-२-२१
४. 'नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पंक्ति २१
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, पंक्ति १६
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२, पंक्ति ७

अमर कहा जाता है।[1] न वहाँ दिन है न रात है, समय का कोई चिह्न वहाँ नहीं है—

"तहा न ऊगे सूरज चन्द, आदि निरंजन करै अनन्द[2]।"

एक अन्य स्थान पर 'जाकै सूरज कोटि करै परकास' तथा 'कोटि चन्द्रमा गहै चिराक' कहकर उस अद्वैत तत्त्व को सूर्य और चन्द्रमा का कारण भी सिद्ध कर दिया है। कबीर की इस उक्ति को मुण्डकोपनिषद् का समर्थन प्राप्त है —

"न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति[3]॥"

अवस्था—वह तत्त्व किसी अवस्था को प्राप्त नहीं होता। वहाँ न संयोग है और न वियोग है, न धूप है और न छाया है। उसे न शीतल कह सकते हैं और न तप्त ही। वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। इसलिए कबीर उसे 'सत्य' कहते हैं।

सत्य—सत्य वह है जो स्थिर रहता है। जो विकार को प्राप्त नहीं होता। जहाँ विकार होता है वहां विनाश की स्थिति भी निश्चित है और जहाँ विकार और विनाश है वहाँ सत्य नहीं है। जो उत्पन्न और विनष्ट होता है वह असत्य (झूठ) है।[4]

सत्य की खोज—उस सत्य की विवेचना वे औपनिषदिक ढंग से 'नेति-नेति' की शैली मे करते हैं। उस अद्वैत तत्त्व को 'इत्यमिदं' कहकर सीमित नहीं किया जा सकता। अतएव वे उसकी विलक्षणता को 'ऐसा भी नहीं', 'ऐसा भी नहीं' कहकर ही प्रतिपादित करते हैं —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पंक्ति ४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, पंक्ति २२
३ मु० उप० २-२-१०,
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२, पंक्ति २१

"देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप[1]।"

× × × ×

"अमिलन मिलन घाम नहीं छाहा, दिवस न राति नहीं है ताहा[2]॥"

× × × ×

"धुनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिस्टि, अद्रिस्टि छिप्यो नहीं पेखा।
बरन अबरन कथ्यों नहीं जाई, × × ×
आदि अंति ताहि नहीं मधे, कथ्यो न जाई आहि अकथे[3]।"

वह सत्य अखंड एवं पूर्ण है। वह सर्वव्याप्त एवं निर्विकार है। उसको किसी विशेष व्यक्ति वस्तु या स्थान में देखना अनुचित है क्योंकि उसकी अखंडता अक्षुण्ण नहीं रहती। किसी प्रकार की सीमा उस अखंड अनन्त एवं पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं कर सकती। इस कारण कबीर उपनिषद् के स्वर में उस सत्य की व्यक्तिगत सीमा का विरोध करते हुए कहते हैं —

'ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव सतावा।
देवै कूंखि न औतरि आवा, ना जसवै लै गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन लै न कर धरिया।
बावन होइ नहीं बलि छलिया, धरनी बेद लेन उधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा, परसराम ह्वै खत्री न संतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ लै प्यंड न गाड़ा।

कहै कबीर बिचारि करि, ये ऊले व्योहार।
याही थैं जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि[4]॥"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८, पंक्ति १६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, पंक्ति २१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२-२४३

इसी शैली में वे और भी आगे कहते चले जाते हैं —
"ना इहु मानुष ना इहु देव, ना इहु जती कहावै सेव।
ना इहु जोगी ना अवधूता, ना इसु माइ न काहू पुता।

× × ×

ना इहु गिरही ना ओदासी, ना इहु राज न भीख मँगासी।
ना इहु पिंड न रक्तू राती, ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावै सेख, ना इहु जीवै न मरता देख[1]॥"

यह सत्य 'अनुभवैकगम्य' है। न उसको "भावरूप कह सकते हैं न अभावरूप"[2]। 'वह न तो जलाने से जल सकता है, न काटने से कट सकता है और न सुखाने से सूख सकता है'।[3] कबीर की इस उक्ति का समर्थन गीता के ये शब्द करते हैं —

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यापो नैनं शोष्यति मारुत[4]॥'

कबीर उसे भारी या हल्का कहने में डरते हैं क्योंकि उसको उन्होंने नैनों से कभी नहीं देखा[5]। वह सत्य बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा है[6]। फिर उसको कैसे व्यक्त किया जाये।

सत्य और नानात्व—जगत् के नानात्व को देख कर प्रायः सत्य में भी नानात्व का आरोप कर लिया जाता है किन्तु कबीर इस नानात्व को स्वीकार नहीं करते। अतएव 'नानात्व' का खंडन करते हुए वे 'एकत्व' का प्रतिपादन करते हैं —

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०१, पद १२१
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पंक्ति २०
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६, पंक्ति १८
४ देखिये, गीता, अध्याय २-२३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७-१
६. देखिये, कठोपनिषद् :—'अणोरणीयान्महतो महीयान्' १-२-२०

"कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष।
भरम करम सब दूरि करि, सबही माँहि अलेल[1]॥[2]

कबीर ने अपनी इस साखी में बृ० उप०[2] के स्वर का ही समर्थन किया है। कबीर का विश्वास है कि द्वैतानुभूति दुःख का कारण है। जिसको अद्वैतानुभूति हो जाती है उसी को शान्ति मिलती है और वह अनुभूति प्रेम से होती है —

'एक एक जिनि जाणिया तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया[3]॥"

कबीर को सर्वत्र एक ही तत्त्व या सत्य की प्रतीति होती है। उसी से पिंड और उसी से ब्रह्माण्ड पूर्ण है किन्तु वह सब को नहीं दीखता, केवल उसी को वह दिखायी देता है जिसको समदृष्टि प्राप्त है —

"ए सकल ब्रह्मण्ड ते पूरिया, अरु दूजा माँहि थान जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैन समान जी[4]॥"

अद्वैत तत्त्व की सम्प्राप्ति—यह अद्वैत तत्त्व उन लोगों को प्राप्त नहीं होता जिनकी दृष्टि विकृत है। दृष्टि विकार का कारण भ्रम है। जबतक भ्रम रहता है तबतक द्वैत की ही प्रतीति होती है किन्तु ज्ञानोदय होने पर द्वैत तिरोहित हो जाता है। ज्ञान भ्रम को नष्ट करके समदृष्टि प्रदान करता है और 'समान नैन' से देखने पर वही अद्वैत तत्त्व सर्वत्र दिखायी पड़ता है। जिसको भ्रम निर्मित नानात्व के पीछे अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता वह आवागमन से मुक्त नहीं होता और भव-क्लेश उसे पीडित करता रहता है —

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-१८
२ बृ० उप० ४४ १६
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १८१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८, पद ३०
५ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६८ ३०

"दोई कहै तिनहीं कौं दोजग,
जिन नाहिन पहिचाना[1] ॥"

इस उक्ति को कठोपनिषद् ने भी अपना समर्थन प्रदान किया है —

"मृत्योः स मृत्यु गच्छति,
य इह नानेव पश्यति[2] ।"

वह तत्त्व न तो नेत्रों के द्वारा प्राप्तव्य है, न वाणी, तप और कर्म द्वारा ही उपलब्ध है। वह उसी को मिलता है जिसका अन्तर ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित हो गया है। जबतक अन्तर प्रकाशित नहीं होता तबतक द्वैत का आभास होता है किन्तु ज्ञान-ज्योति के कारण अन्तर के अंधकार के मिट जाने पर एक परमात्मा की ही प्रतीति होती है —

"जब मैं था तब हरि नहिं, अब हरि हैं मैं नाँहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि[3] ॥"

आत्मा—आत्मा ही परमात्मा है। राम को कबीर आत्मा से अभिन्न मानते हैं[4]। एक अन्य पद में कबीर कहते हैं कि—"उस (परमात्मा) और इस (आत्मा) में एकता है।"[5] उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी इसी आशय की सिद्धि होती है। लोग भ्रम के कारण पिंड और ब्रह्मांड में भिन्न-भिन्न सत्ताओं की प्रतीति करने लगते हैं। सत्य तो एक ही है। जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है —

"ब्रह्मण्डे सो प्यंडे जानि[6]।"

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५, पंक्ति १८
२. कठोपनिषद् २-१-११
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३५
४. "आतम राम अवर नहिं दूजा।"
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३१, पद १३५
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५, पद ५३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-३२८

जिस प्रकार घड़े के भीतर भी आकाश होता है और बाहर भी। उसी प्रकार इस शरीर के भीतर भी वही परमात्मा है जो इसके बाहर है। सच तो यह है कि इस शरीर की स्थिति भी उसी परमात्मा के अस्तित्व में है —

"आकाश गगन पाताल गगन है चहु दिसि गगन रहाइले।
आनन्दमूल सदा पुरुषोत्तम, घट बिनसै गगन न जाइले॥"[1]

× × ×

"हरि मंहि तन है तन महि हरि है सर्व निरन्तर सोइ रे[2]।"

जिस प्रकार जल और तरंग में कोई भेद नहीं होता, केवल एक विशेष रूप में जल को ही तरंग कह दिया जाता है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है। आत्मा को शरीर के सबंध से परमात्मा से पृथक् समझ लिया जाता है। जिस प्रकार तरंग का रूप मिथ्या है उसी प्रकार यह शरीर भी मिथ्या है।

भेद की प्रतीति का कारण कबीर ने भ्रम में देखा है। जिस प्रकार काली, गोरी धौरी आदिक गायों के भेद से दूध में भेद नहीं हो जाता उसी प्रकार शरीर-भेद से आत्मा की अनेकता सिद्ध नहीं होती।

सत्य और जगत्—इस अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर अनेक सिद्धान्तों को एकत्र करते हैं उनमें से विवर्तवाद, परिणामवाद एवं प्रतिबिंबवाद प्रमुख हैं। विवर्तवाद के अनुसार रज्जु में सर्प और सीप में रजत का भ्रम हो जाता है और रज्जु और सीप को भूल कर भ्रान्त मनुष्य सर्प और रजत को सत्य मान बैठता है। इसी प्रकार भ्रम के कारण लोग जगत् को सत्य मान बैठते हैं। उसके मूल में निहित सत्य को भूल जाते हैं। वह सत्य परमात्मा या ब्रह्म है। उसी की सत्ता के कारण इस जगत् की प्रतीति होती है जो नाना रूपों में दिखायी पड़ता है —

'झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई[3]।"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९८-९५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३५, पंक्ति २३

जिस प्रकार रस्सी के सबंध से सर्प की उत्पत्ति केवल मन म होती है उसी प्रकार सत्य को लेकर झूठे नाम रख लिये जाते हैं —

"झूठें नाउ साच ले धरिया[1]।"

भय, माया, मोह आदि का कारण सत्य ज्ञान का अभाव है। इसीलिए जीव झूठी आशा मे अटका रहता है—उस आशा म जो उसको उसी भाति पीडित करती हैं जैसे निदाघ म तृष्णा मृग को पीडित करती है। यह मिथ्या जगत जीव को भयभीत करता रहता है और रज्जु-सर्प के दश से वह उस समय तक मुक्त नही होता जबतक कि सत्य का परिचय प्राप्त नही होता —

"झूठ देखि जीव अधिक डराई,
बिना भवगम डसी दुनियाई।
झूठें झूठ लागि रही आसा,
जेठ मास जैसें कुरग पियासा[2]॥"

जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सत्य और झूठ को परखने के लिए कबीर के पास एक कसौटी है और वह है :—

"सॉच सोई जे थिरह रहाई।
उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई[3]॥"

इस कसौटी पर जगत् असत्य ही ठहरता है क्योंकि वह स्थिर नही है। वह उत्पन्न और नष्ट होता है।

अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर 'परिणामवाद' के सिद्धान्त का भी प्रयोग करते हैं। इसके अनुसार जगत्, ब्रह्म या परमात्मा का परिणाम

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पक्ति २१
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पक्ति १५-१६
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२, पक्ति २२

शरीर भी नष्ट हो सकता है[1]। कबीर इस शरीर को धूलि की पुड़िया कहते हैं जो कुछ दिन तो दिखलायी देती है और अन्त में मिट्टी में मिल जाती है[2]। यह शरीर रूपी कागज की पुड़िया तभी तक उड़ती है जब तक प्राण-पवन का सचार होता है[3]।

मनुष्य समझता है कि उसका शरीर अमर है[4]। इसीलिए वह इस पर गर्व करने लगता है। वह नहीं जानता कि यह झूठा है[5]। वह आगे के लिए अनेक साज सजाता है, किन्तु खबर उसे पल भर की भी नहीं है। जिस प्रकार तीतर पर बाज कभी भी आ झपटता है उसी प्रकार काल मनुष्य पर कभी भी आ झपट सकता है।

मृत्यु—मृत्यु ध्रुव है। हर किसी को मरना पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि रोगी ही मरता है वरन् वैद्य भी मरता है[6]। जिस प्रकार हमारे पूर्वज मर चुके हैं, उसी प्रकार हम और हमारे परवर्ती भी मरेंगे[7]। मृतक को रोने वाले, जलाने वाले और हा-हा करने वाले—सभी मरते हैं। अतएव मृत्यु के सबध म किसी को कुछ कहना सुनना व्यर्थ है —

"रोवणहारे भी मुए, मुए जलावणहार।
हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार[8]॥"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२-२०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११७-६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१-१०४
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२०-१०२
६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७२-६
७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-६
८ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६-३२
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६-३१

यह कहा जा चुका है कि शरीर पच तत्व के मिलने से निर्मित हुआ है और पचतत्त्व अविगत से उत्पन्न हुए हैं। जब वे एक दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं तब उस अवस्था को दुनिया वाले मृत्यु कहते हैं —

पचतत अविगत थ उतपना एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिर सहज समाना रेख रही नहि आसा[1]॥

यहा एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि मरने वाला कौन है ? इस प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण मान कर वे पूछते हैं —

कौन मरै कहु पडित जना
सो समझाइ कहौ हम सना[2]।

इस के उत्तर मे व स्वय कहते हैं— मिट्टी मिट्टी म मिल जाती है और पवन पवन में मिल जाता है और दुनिया देखती है कि मृत्यु रूप की होती है —

माटी माटी रही समाइ
पवन पवन लिया सगि लाइ।
कह कबीर सुनि पडित गुनी
रूप मुवा सब देख दुनी[3]॥

जन्म—एक अन्य रूपक मे कबीर कहते हैं कि काायिक रूप का निर्माण मिट्टी से हुआ है और वह पवन के बल से खडा है। बिन्दु के सयोग से उसकी उत्पत्ति हुई है[4]। देह मिट्टी है और पवन बोलने वाला है[5]। इस मिट्टी के शरीर का ही नाम रखा जाता है। यह जन्म के पहले और मृत्यु के पश्चात और दोनो के बीच म भी मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है।

---

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १०२ ४४
२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १०३ पक्ति ५
३ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १०३ पक्ति ६ ७
४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७२, पक्ति २२
५ देही माटी बोल पवना।
—कबीर ग्रथावली पृष्ठ १०२ पक्ति ४४

पंचीकरण का कारण ब्रह्म की माया है। अपनी माया के बल से ब्रह्म ही इन शरीरों को बनाता है और वही बिगाड़ता है —

"भाने घड़े सँवारे सोई, यहु गोव्यंद की माया'।[1]"

वियुक्त होकर पंचतत्त्व कहां चले जाते हैं? यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में कबीर कहते हैं — पृथ्वी तत्त्व जल में, जल तेज में, तेज पवन में और पवन-तत्त्व शब्द में जो आकाश का गुण है विलीन हो जाता है[2]।

कबीर का विश्वास है कि यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है। यह बार-बार नहीं मिलता, किन्तु जीवन मरण को समान समझ कर पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये[3]।

जगत्—यह जगत भी जल की बूंद के समान नश्वर है। इसकी उत्पत्ति और नाश में देर नहीं लगती —

'ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा उपजत बिनसत लगै न बारा'[4]।"

यह जगत् उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। उत्पन्न होकर आँखों के सामने ही यह जगत् नष्ट भी हो रहा है —

"उपजै निपजै निपजिस भाई,
नयनहु देखत इहु जग जाई'[5]।"

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२-२१४

२ पृथ्वी का गुण पाणीं सोष्या, पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७-१५०

३ ज्यूं जामण त्यूं मरणा, पछितावा कछू न करिआ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४५-१७३

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१-१०४

५ कबीर ग्रन्थावली, २७१, पद २५

"उसने त्रिगुणात्मिका माया से इस जगत् की सृष्टि की है और अपने मध्य ही अपने को छिपा लिया है। इस जगत् को उस परमात्मा ने कहने-सुनने के लिए बनाया है। लोग जगत् मे ही भ्रान्त हो गये हैं, उस स्रष्टा को किसी ने नही पहिचाना[१]।" एक सुन्दर रूपक म इस जगत् रूपी वृक्ष का रूप-चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

> "एक बिरख यहु जगत् उपाया, समझि न परै बिखम तेरी माया।
> साखा तीनि पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुनि अधिकारी[२]।।"

त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न "यह जगत् चार प्रकार का है—स्वेदज, अण्डज, जरायुज तथा उद्भिज[३]।"

एक अन्य स्थान पर कबीर ने सृष्टि का मूल कारण ओकार को बतलाया है। 'ऊ कारे जग ऊपजे", 'ऊकार आदि है मूला[४]' तथा 'ओंकार आदि मे जाना[५]' वाक्यो से कबीर इसी मत की पुष्टि करते हैं।

कबीर ने माया और ओकार का सबध कही नही दिखलाया। अवश्य ही जगत् के इन दो नाम वाले कारणो मे कोई सबध होना चाहिये। शायद मायामय शब्द ब्रह्म ही ओकार है।

जीव, जगत् और ब्रह्म का सबध—कबीर नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहते हैं। इसकी प्रतीति मनोभ्रम के कारण होती है। मोह, ममता, सुख, दुख सब मन के विकार हैं। जबतक मन मे विकार रहते हैं तबतक ससार नही छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है तब उसकी स्थिति निर्मल, निरजन से पृथक् प्रतीत नही होती —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२५, पक्ति १-२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६-२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३, पक्ति २३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१०, पक्ति १३

जब लग मनहि विकारा, तब लगि नहीं छूटै ससारा
जब मन निमल करि जाना, तब निमस माहि समाना[1] ॥

मन के स्थिर होने पर स्थिति आत्मसत्ता या सत्य का साक्षात्कार हो जाता है —

मन थिर भयो तबै थिति पाई[2] ।"

अतएव आत्मा, परमात्मा और जगत का भेद केवल मन म है वास्तव म वह भेद नही है । वस्तुत आत्मा और परमात्मा म कोई भेद नही है —

आतम राम अवर नहिं दूजा[3] ।"

इसी प्रकार जगत् अपनी नामरूपात्मक स्थिति म असत्य एव मिथ्या है । उसके मूल म निहित सत्य न तो नामरूपात्मक है और न नानात्वमय है । जिस प्रकार स्वप्न दृश्य सत्य नही होता उसी प्रकार दृश्य जगत भी सत्य नहा है । 'एकमेक रमि रह्या सबनि मैं'[4] अथवा 'सबौ मिट्यौ एक कौ एकै' यह कह कर कबीर ने सत्य के स्वरूप एव ब्रह्म जीव और जगत के सबध पर एक ही साथ प्रकाश डाला है ।

सुख दुख का कारण—इस जीवन का कबीर ने एक हाट बतलाया है । जिस प्रकार वणिक हाट म किराना बेचने आता है और किराने के अभाव में उसे वहा नही आना पडता उसी प्रकार जीव को अपने कम समाप्त करने क लिए इस ससार मे आना पडता है । जबतक कम समाप्त नही होते तबतक आवागमन से मुक्ति नहीं होती । यह जगत् पर घर है और परमात्मा स्व घर है । प्रत्यक वणिक का लक्ष्य स्वगृह है । वह वहीं लौटना चाहता है किन्तु जब

---

१ कबीर ग्र थावली पृष्ठ १७८ २६३
२ कबीर ग्र थावला, पृष्ठ ९४ १७
३ कबीर ग्र थावली पृष्ठ १३१-३५
४ कबीर ग्र थावलो पृष्ठ १०५ ५२
५ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०५-५४

तक उसका किराना नही बिक जाता तबतक उसे हाट मे ही ठहरना पड़ता है। इसी प्रकार जबतक पाप-पुण्यो मे से कुछ भी अवशिष्ट रहता है तबतक जीवात्मा को ब्रह्म या परमात्मा की प्राप्ति नही हो सकती। इसी भाव को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

"इत प्रघर उत घर, बणजण आये हाट।
करम किराणा बेचि करि, उठि जो लागे बाट[1] ॥"

जीव नाम ही उसका है जो कर्मों के वश मे है :—

"करमों के बसि जीव कहत हैं[2] ।"

पाप और पुण्य, दोनो को कबीर भ्रम मानते हैं और इसी से जीव को आगे जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जब भ्रमजन्य पाप-पुण्य जल जाते हैं तब ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है।

"जाथैं जनम लहत नर आगे,
पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागे[3] ।"
× × ×
"जब पाप पुंनि भ्रम जारी,
तब भयो प्रकास मुरारी[4] ।"

जिस प्रकार पाप-कर्म बंधन हैं उसी प्रकार पुण्य-कर्म भी बंधन हैं। ये दोनो समवेत रूप मे तथा पृथक् रूप में भी आवागमन[5] का कारण बनते हैं।

फल—जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है। जो पुण्य कर्म करता है उसे सुख मिलता है जो पाप-कर्म करता है उसे दुःख मिलता है —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-२७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८७-२६३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८४-२८३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७८-२६३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२८-२

जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा राम निमाई[1]।"

यहा कबीर ने 'राजा राम निमाई' कह कर 'अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्'[2] एव 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' दोनो का भाव एक ही पंक्ति म एक साथ भर दिया है।

कुछ लोग भ्रमवश यह सोच लेते हैं कि वे धर्म करते हैं अतएव उनकी मुक्ति हो जायगी। ऐसे लोगो को कबीर व्यग्यात्मक ढग से चेतावनी देते हुए कहते हैं —

'कबीर मन फूल्या फिरै, करता हू मैं ध्रम।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम'[3]।"

कहने की आवश्यकता नही कि कबीर पर 'कर्मवाद' और 'पुनर्जन्मवाद' के सिद्धान्तो का पूरा प्रभाव है। इसका एक प्रौढ प्रमाण उन्ही की यह उक्ति है —

'पूरब जनम हम बाम्हन होते, बोछे करम तपहीना।
राम देव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा।।"

इससे कबीर संचित एव क्रियमाण कर्मों की ओर संकेत करते हैं। उन्होने प्रारब्ध कर्म की ओर भी संकेत किया है। विषय-रत मन पल भर मे करोडो कर्म कर डालता है :—

"कोटि कर्म पल में करै,
यहु मन बिषया स्वादि।"

कर्म और कामना—जबतक कर्म कामना से किया जाता है तबतक वह दुख-सुख का कारण बनता है किन्तु जब वह निष्काम रूप से किया जाता

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९६-२००
२. सु० की० गीता
३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३८-२१

है तब दुख सुख दोनो ही व्याप्त नहीं होते। दुख-सुख वहीं होते हैं जहाँ फलासक्ति होती है। विवेकी लोग आसक्ति का परित्याग करके निष्काम कर्म करते हैं और उन्ही को आत्म-साक्षात्कार होता है। अतएव वे निष्काम[1] कर्म पर ही विशेष जोर देते हैं।

माया—कबीर ने सुख-दुख, आवागमन एव जगत् का मूल कारण माया को माना है। जहा शास्त्रो ने माया को विद्या और अविद्या के भेद से दो प्रकार की माना है वहाँ कबीर ने उसे अविद्या स्वरूपा ही माना है। साथ ही उन्होने उसको असत्य भी कहा है। एक उपदेश मे उन्होने माया को मिथ्या कह कर छोडने का आदेश दिया है —

"मिथ्या करि माया तजो सुख सहज बीचारि[2]।"

एक अन्य स्थान पर वे माया के बन्धन को झूठा कह कर उसका सबध भ्रम या अज्ञान से जोड़ते हुए कहते हैं —

"झूठी माया आप बधाया ज्यों नलनी भमि सूआ[3] ॥"

ब्रह्म और माया—इस माया को कबीर रघुनाथ या ब्रह्म की मानते हैं। 'तू माया रघुनाथ की, खेलण चढी अहेडै[4]' कह कर उन्होने माया का सबध स्पष्टत परमात्मा से जोडा है। वह माया सत्व, रजस् एव तमस् तीनों गुणो में व्याप्त है —

"राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया[5]।"

परमात्मा की त्रिगुणात्मका सृष्टि इसी माया से होती है और वही इसका पालन एवं सहार भी करती है —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-१०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२७-२०५
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६-७४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८७
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५०-१८४

"भावै घड़ै सवारै सोई, यहु गोब्यद की माया[1]।"

सच तो यह है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है। उसी की प्रेरणा से वह अपना काम करती है। वह माया की शक्ति को समझते हुए भी उसके प्रेरक की ही बलिहारी जाते हैं क्योंकि जो माया को प्रेरित करता है वही उसका संहार भी करता है। अतएव वे कहते हैं —

"बलि जाऊं ताकी जिनि तुम पठई[2]।"

उस माया से रक्षा केवल परमात्मा ही कर सकता है। इसीलिए वे भक्ति के स्वर में उससे प्रार्थना करते हैं —

"मोहनी माया बाघनीं थैं राखि लै राम राइ[3]।"

इससे यह विदित होता है कि कबीर ने माया के दो रूप माने हैं—एक मोहक और दूसरा भयकर। 'मोहनी' और 'बाघनी' दोनों शब्दों का प्रयोग माया के विशेषणों के रूप में एक ही साथ करके कबीर ने माया की मोहकता में भयकरता और भयकरता में मोहकता की स्थिति प्रकट की है।

माया का ज्ञान—माया को हर कोई नहीं जानता और जो इसको जानता नहीं है उसी को यह सताती है। त्रिलोक विजयिनी इस माया को कोई नहीं खा सकता—

"मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अग्यानीं पुरिष कौं भोलि भोलि खाई।"
× × ×
"कीड़ी कुंजर में रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहू न खाई[4]॥"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८३-३०९
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-२३१-२३२

माया को या तो परमात्मा जानता है या परमात्मा के भक्त जानते हैं —

"बाजी की बाजीगर जानै, कै बाजीगर का चेरा[1]।"

जिस मनुष्य के अन्तर में परमात्मा का अथवा ज्ञान का प्रकाश हो जाता है वहीं से माया किनारा कर जाती है —

"घट की जोति जगत प्रकास्या,
माया सोक बुझाना[2]।"

जिनको परमात्मा का आश्रय मिल जाता है अथवा जिन पर उसकी कृपा हो जाती है वे माया को तोड कर फेंक देते हैं —

"दास कबीर राम कैं सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी[3]।"

जिनको आत्मज्ञान या परमात्म-ज्ञान हो जाता है उनको माया का ज्ञान भी हो जाता है। फिर उनके लिए माया न तो भयकर लगती है और न मोहक ही। इतना ही नहीं उनके लिए उसकी सत्ता तक आभासित नहीं होती। इसी कारण जो मनुष्य माया के बंधन में बंध कर नाचता-फिरता है वही परमात्मा को जानकर परमात्मा हो जाता है और उसका वह नाच बंद हो जाता है और वह स्वस्थ या परमात्मस्थ हो जाता है। इसीलिए शिवजी ने उमा को समझाया है —

"उमा दारु-योषित की नाई,
सबहि नचावहि राम गोसाई।"
—(रामचरित-मानस)

किन्तु वाल्मीकि व तुलसीदास की उक्ति में माया से मुक्ति पाने की दशा का भी संकेत किया है —

"जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।"
—(रामचरित-मानस)

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-२३८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०-१५७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८७

इससे भी यही सकेत मिलता है कि ब्रह्म या परमात्मा माया के स्वामी हैं और जीव माया का दास है। जीव का दासत्व उस समय तक नहीं छूटता जबतक कि वह माया को नहीं छोड़ देता और माया बड़ी मधुर प्रतीत होती है। सहज ही छोड़ी नहीं जा सकती —

"कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाड'।"

ब्रह्मज्ञानी ही माया से बच सकते हैं, इस आशय की अभिव्यक्ति कबीर ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा इस प्रकार की है —

"जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया वेसा लाइ।
राम चरन नीका गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ'॥"

माया का प्रसार—माया सर्वव्यापिनी है। यह परमात्मा की ठगौरी' है। इसके प्रभाव से जीव को स्वरूप विस्मरण हो जाता है और वह चौरासी लाख योनियों मे भ्रमण करता फिरता है जगत् में कोई भी तो इससे नहीं बच पाया :—

"कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाणि'।"

मीर मलिक, छत्रपति राजा आदि सभी माया के अधीन हो चुके हैं। इसने किसी को नहीं छोड़ा है।

यह माया मनुष्य को ही नहीं सताती अपितु पशु-पक्षियों तक को पीड़ित करती है। जल की मछली, आकाश का पतंग, पृथ्वी का हाथी और भुजग आदि सभी माया से छिदे हुए हैं। माया के प्रसार का एक विशद् चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-३११
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११६-८६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-८

"जल महिं मीन माया के वेधे।
दीपक पतग माया के छेदे ॥
काम माया कुंजर को व्यापे।
भुअगम भृग माया महिं खापे ॥
माया ऐसी मोहनी भाई।
जेते जीव तेते डहकाई ॥
पखो मृग माया महिं राते।
साकर माखी अधिक सतापे ॥
तुरे उष्ट माया महिं भेला।
सिध चौरासी माया महिं खेला ॥
छिय जती माया के बन्दा।
नवै नाथ सूरज अरु चन्दा ॥
तपे रखीसर माया महिं सूता।
माया महिं काल अरु पच दूता ॥
स्वान स्याल माया महिं राता।
बंतर चीते अरु सिंघाता ॥
माजार गाडर अरु लूबरा।
बिरख मूल माया महिं परा ॥
माया अन्तर भीने देव।
सागर इन्द्रा अरु धरतेव ॥
कहि कर जिसु उदर तिसु माया।
तब छूटे जब साधू पाया[1] ॥"

माया की परिधि इन्द्रिय-विषय ही नहीं है, अपितु मन भी है। मन के सारे व्यापारों में माया की चेष्टाएं हैं। आशा, तृष्णा, मोह, ममता, मान, अपमान आदि अनेक मनोवृत्तियों में माया का प्रसार अभिलक्षित होता है। कबीर शायद यह भी मानते हैं कि शरीर के मर जाने पर भी मन और उस

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८७-२८८, पद ७८

पर बने हुए संस्कार नहीं मरते। जिसको लिंग शरीर कहते हैं वह मन के संस्कारों के रूप में दूसरे जन्म में भी जाता है।

"माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णा ना मुई, यौं कहि गया कबीर[1]॥"

माया के अनेक आत्मजों में अहंकार प्रमुख है। 'मान' उसी का एक अंग है जो बड़े बड़े मुनियों तक को निगल चुका है —

'मानि बड़े मुनियर मिले मानि सबनि कौं खाइ[2]।'

मोह भी अहंकार का ही एक अंग है। यह आत्म-ज्योति को आच्छादित करता है —

'कबीर माया मोह की भई अंधारी लोइ[3]।'

इस प्रकार कबीर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को माया का ही प्रसार बताते हैं। धन धाम, अर्थ, काम, परिवार आदि का संबंध ही नहीं, अपितु शरीर का सम्बन्ध भी माया का ही बन्धन है —

"सकल ही तें सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यू छूटें बापुड़े, बाधे सिरजनहार[4]॥"

स्रष्टा ने माया में लोगों को क्या बाँध रखा है? यह एक प्रश्न है जो गम्भीरता से विचार करने योग्य है। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है। उसी को भक्त लोग उसकी लीला भी कहते हैं। वे उसकी लीला को नित्य मानते हैं, किन्तु कबीर माया को मिथ्या मानते हैं क्योंकि ज्ञान का उदय होने पर अथवा परमात्मा को समझ लेने पर, माया आभासित नहीं होती। जिस प्रकार जादूगर को न समझने वाला ही जादू से

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-१५
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-१७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-२४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-२५

विस्मित या मुग्ध होता है उसी प्रकार परमात्मा को न समझने वाला ही माया से प्रभावित होता है जो परमात्मा को समझता है उस पर माया का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि उसको उसका मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। माया का प्रसार क्षेत्र अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश में माया की ग्रन्थि सुलझ जाती है। ज्ञानदीपक में महात्मा तुलसीदास ने भी इस ओर संकेत किया है। कबीर ने इस माया के झूठे बन्धन को तोड़ डाला। कैसे ? क्योंकि उन्हें मायापति का ज्ञान हो गया। वे माया की असलियत को समझ गये। इसलिए वे कह उठे :—

"कबीर माया पापणी फध ले बैठी हाटि ।
सब जग तौ फंधै पड्या, गया कबीरा काटि[1] ॥"

कबीर ने माया की 'आवरण' शक्ति को ही विशेष रूप से देखा है। उसकी विशेषता यह है कि वह 'सत्य' को आवृत करती है जिससे मनुष्य सत्य को सत्य न समझ कर झूठ को ही सत्य मान बैठता है। भ्रम की उत्पत्ति माया का प्रथम पुरस्कार है इसलिए कबीर के मुख से माया के संकेत में बड़ी कटूक्तियाँ निकल पड़ती हैं। यथा —

"कबीर माया पापणीं, हरि सूं करै हराम ।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम[2] ॥"

विवेक और वैराग्य से माया के उच्छेदन में बड़ी सहायता मिलती है। सब लोग माया के दास हैं किन्तु वह स्वयं सन्तों की दासी है। उनके ऊपर माया का कोई प्रभाव नहीं होता। साथ ही सन्त माया की दुर्गति करके छोड़ते हैं —

"माया दासी संत की, ऊंची देइ असीस ।
बिलसी अरु लातौं छडी, सुमरि सुमरि जगदीस[3] ॥"

इस साखी से यह स्पष्ट है कि परमात्मा के बल से माया को सन्त लोग त्याग सकते हैं, केवल विवेक और वैराग्य की शक्ति से नहीं।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०६
2. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०८
3. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-१०

माया को कबीर एक दलदल के समान बतलाते हैं। इसमें पैर पड़ा कि फिर मनुष्य फँसता ही चला जाता है। माया मोहती है आकृष्ट करती है और साथ ही बाँध भी लेती है। जो माया से बाहर रहते हैं उन्हीं का उद्धार होना है। इस प्रपंच में जिनकी प्रवृत्ति है उनके उद्धार का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि उन पर आशा सवार रहती है। जो निवृत्तिपरक होकर रहता है वही माया से मुक्त हो सकता है। सच तो यह है कि एक ही म्यान में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों तलवारें नहीं रह सकती —

> 'सब आसण आसा तणा निर्वति कै को नांहि।
> निवरति कै निबहे नहीं परवति परपंच मांहि' ॥[1]

मुक्ति—सत्य और झूठ का ज्ञान ही मुक्ति है। सत्य परमात्मा का स्वरूप है। अतएव वह आत्मीय है और झूठ परकीय है। मनुष्य बन्धन में इसलिए पड़ा रहता है कि वह 'अपने' और 'पराये' को नहीं समझता। जिसको वह अपना और पराया समझता है वह उसकी असलियत को नहीं जानता। माया परकीय है और आत्मा स्वकीय है। इनके समझने के लिए उनके प्रसार को समझना भी आवश्यक है। इस रहस्य का उद्घाटन कबीर एक ही साखी में इस प्रकार करते है —

> 'आप आपयें जानियें, है पर नाहीं सोइ।
> कबीर सुपिनें करे धन ज्यूं, जागत हाथि न होई ॥'[2]

इससे स्पष्ट है कि भ्रम बन्धन है और ज्ञान ही मुक्ति है। ज्ञान के अरुणोदय में अज्ञानजन्य कर्म रुक जाते हैं और जब पूर्ण कर्म क्षय हो जाता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। जबतक कर्म बने रहते हैं तबतक आवागमन भी बना रहता है। कर्म का फल भोग है और भोग भोगने के लिए ही आवागमन है। इसी आवागमन के सिद्धान्त में चौरासी लाख योनियों की कल्पना हुत है। जब कर्म कर्म को काटन लगें तो समझिए ज्ञानोदय गया।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५-२७
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-६४

कर्मनाश और कर्म सन्यास निर्वृत्तिमार्ग की पगडन्डिया हैं। यही निष्काम कर्म होता है। जिस प्रकार कल अनासक्ति भाव से अपना काम करती रहती है उसी प्रकार अनासक्त मनुष्य के शरीर से निष्काम कर्म होते रहते हैं। मन की वृत्तियो के शमन से प्रारब्ध कर्म भी रुक जाते हैं अतएव भोगो की सृष्टि समाप्त हो जाती है। इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं। दूसरी अवस्था विदेह मुक्ति की होती है। यह देह के नष्ट होने पर होती है। इस दशा मे आवागमन रुक जाता है और जीव ब्रह्म रूप मे अवस्थित हो जाता है। इन दोनो अवस्थाओ को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

"बहुरि हम काहे आवहिंगे।
आवन जाना हुक्म तिसे का हुकमैं बुझि समावहिंगे।
जब चूके पंचधातु की रचना ऐसे भर्म चुकावहिंगे।
दर्शन छोड भए समदर्शी × × ।
× × ×
जीवत मरहु मरहु पुनि जीवहु पुनरपि जन्म न होई' ॥"

इस मुक्ति-सिद्धान्त मे भी कबीर का भक्ति भाव सनिहित है क्योकि मूलत कबीर दार्शनिक नही थे, प्रेमी थे।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१, पद २४

: २३ :

शून्य के विकास में कबीर का योग

कबीर के समय तक शून्य ने अनेक रंग बदले और अनेक अर्थ धारण किये। वह अनेक सिद्धांतों और मतों में जाकर मिला और स्थान स्थान पर अपने अर्थ को बदला। कबीर की वाणी में भी इस शब्द ने अपना विकास किया। यह कहना कदाचित अनुचित न होगा कि कबीर की वाणी में उसे समुचित सम्मान प्राप्त हुआ। एक कुशल राजनीतिज्ञ की भांति कबीर के "सुन्न" ने यथा-वसर अपना अभिप्राय बदल कर शब्द-समाज में अपनी स्थापना की। अनेक अर्थों से अपरिचित पाठक को वह आसानी से भ्रम में डाल सकता है। अतएव इसके इतिहास की खोज भी आवश्यक है।

वैदिक साहित्य में—'शून्य' शब्द के विकास का इतिहास हमें वेदों तक ले पहुँचता है। ऋग्वेद में यह शब्द तो नहीं मिलता किन्तु इसके अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द अवश्य विद्यमान हैं। उनमें से 'असत्' शब्द प्रमुख है। इस शब्द ने सृष्टि से पूर्व की अवस्था को व्यक्त करते हुए शून्य के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया है—

"उस समय न सत् था और न असत् था[1]।"

"उस समय न मृत्यु थी और न अमृत्यु ही[2]।"

"उस समय उसके अतिरिक्त और कुछ न था[3]।"

"कौन जान सकता है और कौन कह सकता है कि जो इस अद्भुत सृष्टि का स्रोत है, वह कहां से आया है[4]।"

---

१. ऋग्वेद १०-१२९-१

२. ऋग्वेद १०-१२९-२

३. ऋग्वेद १०-१२९-१

४. ऋग्वेद १०-१२९-६

इसके पश्चात् उपनिषदो का सचित ज्ञान आता है जिसकी ज्योति में उक्त अर्थ और भी आगे बढता है। उसने कुछ अन्य शब्दो की सहायता से अपनी अभिव्यजना की है। "अकाय होने के कारण वह व्याप्त था[1]।" "वह अवर्ण है इसलिए किसी भी वर्ण को धारण कर सकता है[2]।" "वह महान् आत्मा अज, अजर, अमर एव अभय है[3]।" "वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुश्रोत्रादि हीन है, एव जो अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अति सूक्ष्म और अव्यय है और जो सम्पूर्ण भूतो का कारण है, उसे विवेकी लोग सब ओर देखते हैं[4]।"

"यह अक्षर स्वय दृष्टि का विषय नही किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नही किन्तु श्रोता है; मनन का विषय नही किन्तु मन्ता है, स्वय अविज्ञात रह कर दूसरो का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नही है, इससे भिन्न कोई श्रोता नही है, इससे भिन्न कोई मन्ता नही है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नही है। हे गार्गि! निश्चय ही इस अक्षर मे ही आकाश ओतप्रोत है[5]।"

"उस (तत्त्व) तक न नेत्र पहुँचते है, न वाणी पहुचती है और न मन पहुचता है[6]।"

"उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बडा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, और न माप है। उसमे न अन्तर है, न बाहर है। वह न तो कुछ खाता है, और न उसे कोई खाता है[7]।"

---

१. ईशोपनिषद, ८
२. श्वेताश्वतर उप० ४-१
३ बृह० उप० ४-४-२५
४. मुण्ड० उप० १-१-६
५. बृह० उप० ३-८-११
६. केन० उप० १-३
७. बृह० उप० ३-८-८

"वह हृदय के आकाश में शयन करता है। सबको वश में रख कर सब का शासन करता है। जो 'नेति-नेति', इस प्रकार निर्दिष्ट किया जाता है। वह अग्रहणीय, अशीर्य और असंग है। वह न तो कहीं आसक्त है और न आबद्ध। उसको न तो व्यथा होती है और न उसका क्षय ही होता है। वह पाप-पुण्य—शोक-हर्ष को प्राप्त नहीं होता[1]।"

ऋग्वेद ने एक विलक्षण सत्ता को स्वीकार करके परवर्ती विचारकों के लिए एक मार्ग तैयार कर दिया था। उसी सत्ता को उपनिषदों ने ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया किन्तु उसका अनिर्वचनीय बतलाते हुए 'नेति-नेति' के द्वारा प्रतिपादित किया। इसी 'नेति-नेति' से बौद्धों का 'शून्य' सिद्धान्त विकसित हुआ।

बौद्ध धर्म में—उपनिषदों का नेति नेतिवाद महायान सम्प्रदाय में पहुँच कर अनात्मवाद में परिणत हो गया। वहाँ विशेष वस्तु की सत्ता का निषेध करके 'सर्वमनित्य, सर्वशून्य, सर्वमनात्मन्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

महायान अभिसमय[2] सूत्र में प्रतिपादित उक्त सिद्धान्त का आशय निम्नलिखित पंक्तियों में देख सकते हैं—

"रिक्त, शान्त अरु अह-रहित ही
सहज भाव सब चीजों का है।
व्यक्तिरूप से कोई प्राणी,
सत्य नहीं है यहाँ जगत् में।
आदि, मध्य अरु अन्त नहीं कुछ,
मिथ्या ही जग, सत्य नहीं है।
दृश्य मदय हैं, स्वप्नमात्र हैं,
घन-दामिनि को सी खेला है।
जल-बुद्बुद का यह मेला-सा,
क्षणिक लहर है यह पानी की।

---

१. बृह० उप० ४-४-२२
२. नजो, न० १६६ (अनु०)

कारण और परिस्थितियों ने,
यहां वस्तु को जन्म दिया है।
नहीं आत्मा किसी वस्तु में
चलती है या जो करती है।
ये अज्ञान और इच्छायें
कारण आती जन्म-मरण के।
सही ध्यान अरु संयम उर का
देता इनको मिटा सहज ही।
सभी वस्तुएं शून्यमात्र हैं
यही प्रकृति है अन्य न उनकी।'

—(शरण द्वारा अनूदित)

अंतिम दो पंक्तियां वस्तुमात्र की सत्ता का निषेध करती हुई भी सत्ता-मात्र का निषेध नहीं करतीं। इनसे परम तत्त्व की सत्ता का निराकरण नहीं होता।

महायानियों के अनुसार धर्मकाय मूल सत्य है जो प्रत्येक हृदय का आधार है। इसी के कारण व्यक्तिगत सत्ता संभव होती है। यह धर्मकाय वेदांतियों के ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि यह केवल निराकार सत्ता नहीं है। इसमें इच्छा शक्ति भी है और अपने को प्रतिबिंबित करने की क्षमता भी है। बौद्धों के शब्दों में वह करुणा और बोधिस्वरूप है।

प्रत्येक प्राणी में धर्मकाय की सत्ता है क्योंकि प्राणी धर्मकाय की अभिव्यक्तिमात्र है। जैसा कि बहुत से लोगों का विचार है व्यक्तियों का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। पृथक् होने पर वे कुछ नहीं रहते। वे साबुन के बुदबुद के समान नश्वर हैं जो क्रम क्रम से शून्य में विलीन होते चले जाते हैं। व्यक्तिगत अस्तित्व तभी सार्थक होता है जबकि उसको धर्मकाय की एकता में देखा जाता है।

धर्मकाय के व्यापक प्रकाश को देखने में माया का व्यवधान आ जाता है, किन्तु अब हमारी बुद्धि (बोधि), जो मानव मन में धर्मकाय का प्रतिबिम्ब है, पूर्ण प्रकाशित हो जाती है तो हमारी आध्यात्मिक दृष्टि के सामने अहंकार

का कोई कृत्रिम व्यवधान नहीं रहता। 'मैं और तू' का अन्तर विलीन हो जाता है और द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। मैं की 'तू' में और 'तू' की 'मैं' में प्रतीति होती है।

जो कुछ यहाँ, वहाँ भी है वह,
जो कुछ वहाँ, यहाँ भी वह है।
द्वैत दृष्टि से यहाँ धरा पर
सिवा मृत्यु के मिले न कुछ भी[1]।।

'जब अज्ञान और अहंकार का मघमाला विलीन हो जाती है तो विश्व करुणा और विश्व बुद्धि का पूर्ण प्रकाश होने लगता है और उस समय मनुष्य ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है जहाँ उसे कोई मित्र-शत्रु नहीं दिखाई पड़ता। और उसे यह चेतना तक नहीं होती कि वह 'धर्मकाय' से मिला हुआ है[2]।"

बौद्धों के शून्यवाद का उल्लेख करते हुए इस निर्वाण को भी नहीं भुला सकते। उसके दो पक्ष हैं—एक विपयात्मक और दूसरा विधेयात्मक। कलुषित मनोवेगों का विनाश प्रथम पक्ष से सम्बन्धित है और करुणा एवं महानुभूति का अभ्यास दूसरे पक्ष से सम्बन्धित है। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं और जब हम अपने को एक पक्ष में देखते हैं तो दूसरा भी साथ होता है क्योंकि जैसे ही हमारा हृदय अहंकार के आवरण से मुक्त हो जाता है तो वह (हृदय) जो अबतक निर्जीव एवं कठोर था, सजीवता प्रकट करता है और बन्धन को तोड़ कर धर्मकाय की गोद में मुक्ति प्राप्त करता है।"

निर्वाण में स्वार्थ भावनाएं नष्ट हो जाती हैं और मनुष्य अपनी सहज स्थिति में आ जाता है। इस भाव को 'उदान' के काव्यानुवाद में देखिये —

'दाता में गुण बढ़ जाता है।
दमितेन्द्रिय का गलित क्रोध हो,

१- मु० को० कठोपनिषद् २-१ १०
२- डी० टी० सुजुकी—आउट लाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ४८
३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५१

ज्ञानी दुष्कृति फाड फेंकता,
मिटा वासना, पाप, मोह को
पाता वह निर्वाण प्रकाशित[1] ॥

नागार्जुन क माध्यमिक मत के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं —संवृति सत्य तथा परमार्थ सत्य —

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना,
लोकसंवृतिसत्यञ्च सत्यञ्च परमार्थत ।
ये च ग्रनयोन जानन्ति विभागमत्ययोद्वयो,
ते तत्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने[2] ॥

संवृत्ति-सत्य म भ्रम (Illusion) तथा योगाचारमत का सापेक्ष ज्ञान भी समाविष्ट हो जाता है और परमार्थ सत्य निरपेक्ष ज्ञान होता है।

इन दो सत्यो की व्याख्या म माध्यमिको ने शून्य और अशून्य शब्दो का प्रयोग किया है जिनसे कुछ पाश्चात्य विद्वानो को भ्रान्ति हो गयी है। कहने की आवश्यकता नही कि निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) अपने मूल रूप मे शून्य है क्योकि इसम किसी वस्तु या व्यक्ति की सत्ता नही होती किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नही कि इसकी सत्ता ही नही है जैसाकि बहुत से आलोचको ने समझ रखा है। सापेक्ष सत्य की तुलना म माध्यमिको ने निरपेक्ष सत्य को शून्य कहा है। यह सत्य इसलिए नही है कि कोई विशेष वस्तु या व्यक्ति सत्य है वरन इसलिए कि वह विशेष से परे है और इसलिए उसे माध्यमिक मत म शून्य कहा गया है। निर्विशेष रूप मे वह न रिक्त है और न अरिक्त है न शून्य है न अशून्य है न अस्ति है न नास्ति न भाव है न अभाव और न सत्य है न असत्य। इन सभी शब्दो में सापेक्षता एव तुलनात्मकता निहित है जबकि परमार्थ सत्य इन सबसे ऊपर है। अतएव यह कहना

---

१ देखिये उदान अध्याय ८ पृष्ठ ११८ (जनरल स्ट्रोंग के अनुवाद म)
२ देखिये नागार्जुन माध्यमिक शास्त्र बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी पृष्ठ १८० १८१

अधिक समीचीन होगा कि सब भेद और विरोध इसकी अखण्ड एकता में विलीन हो जाते हैं। इसलिए इसके नामकरण से सत्य की वास्तविक प्रकृति के सम्बन्ध में भ्रम पैदा हो सकता है क्योंकि नामकरण का अर्थ है विशेषीकरण। प्रत्येक दृश्य पदार्थ के मूल में इसकी सत्ता है एवं किसी विशेष पदार्थ के रूप में इसका भेदीकरण नहीं हो सकता[१]।'

"अश्वघोष ने इस मूलतत्व को अनिर्वचनीय बतलाया है। उसका कहना है कि जब हम उसको सापेक्ष एवं ससीम वस्तुओं के गुणों से विलग होने के कारण शून्य कहेंगे तो लोग उसे असत् समझ लेंगे और जब हम उसे वास्तविक सत्य कहेंगे जो दृश्य से परे है तो वे उसे विश्व से परे किसी विशेष व्यक्ति के रूप में देखने लगेंगे। सच तो यह है कि वह शाश्वत सत्य कहने में नहीं आ सकता। इसके सम्बन्ध में किसी का कुछ कहना बिल्कुल वैसा ही होगा जैसा कि अन्धों द्वारा हाथी का वर्णन करना। उनमें से प्रत्येक हाथी के सम्बन्ध में अपना-अपना अनुमान तैयार करता है जो स्पष्ट और अपूर्ण होता है, फिर भी प्रत्येक यही सोचता है कि बस एक वही ठीक है[२]।"

इसी कारण नागार्जुन ने अपने शास्त्र में कहा है —

"अस्तीति शाश्वतग्राहो, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्;
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रियेत विचक्षण[३]॥"
"To think 'it is', is eternalism,
To think 'it is not, is nihilism,
Being and non being,
The wise cling not to either."

'अस्ति' 'नास्ति' और 'शुद्ध' 'अशुद्ध' द्वैतपरक हैं, इसलिए नागार्जुन का कहना है :—

१. देखिए, सुजुकी—आउट लाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ९५
२. देखिए, उदान, अध्याय ६
३ माध्यमिक शास्त्र, अध्याय १५

'अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता,
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्येऽपि स्थान न करोति पण्डित'[1]॥

नेति-नेति ही एक ऐसा मार्ग उपनिषदो ने निकाला जो उस सत्ता को व्यक्त करने में मनुष्य की अपूर्ण जिह्वा को सहायता दे सकता था। इसलिए महायानियो ने इस भूततथाता[2] (Absolute Suchness) को शून्यता का नाम दिया।

'अश्वघोष के शब्दो मे तथाता (Suchness) न तो सत्ता है न असत्ता न सत्तासत्ता और न अ सत्तासत्ता वह न एकता है न अनेकता न एकतानेकता है और न अ एकतानेकता है[3]।

मूल प्रकृति हानि या क्षय को प्राप्त नहीं होती। विशेष पदार्थों की सत्ता भ्रान्त (Confused) स्मृति (Sulyectivity) के कारण प्रतीत होती है। इस स्मृति से पृथक किसी बाह्य जगत की अनुभूति नहीं हो सकती। भेद ज्ञान का कारण भी यही स्मृति है।

जो स्मृति शब्द साधारण भाषा मे स्मरण के अर्थ मे प्रयुक्त होता है उसी का अश्वघोष ने अज्ञान (Ignorance) के समानार्थक के रूप मे प्रयोग किया है। और भी कई बौद्ध दार्शनिको ने इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग

---

१ माध्यमिक शास्त्र अध्याय १५

The dualism of 'to be' and 'not to be,'
The dualism of Pure' and 'not pure
Such dualism having abandoned,
The wise stand not even in the middle

२ माध्यमिक लोगो ने उस परमार्थ सत्य या परिनिष्पन्न को भूततथाता' कहा है।

३ देखिए अश्वघोष—धर्म जागरण

किया है। माध्यमिका का कहना है कि प्रयक पदार्थ जिसका उद्भव और विनाश होता है स्मृति और कम के कारण प्रतीत होता है।

इस विवेचना के आधार पर यह कहा सकता है कि उपनिषदों का नेति नेति-वाद ही धीरे धीरे बौद्धों के निर्वाण के रूप में विकसित हुआ। और निषेधिक वाद बौद्धिक सूत्र था जो बौद्ध धर्म में निर्वाण शब्द से आध्यात्मिक अनुभूति की एक अवस्था विशेष का बोध करने लगा। व्यक्तिगत अस्थिरता या अनात्मता के साथ-साथ बौद्ध दर्शन के मूलाधारों में निर्वाण का भी प्रमुख स्थान है।

बौद्धदर्शनगत शून्यता (Voidness) का अध्ययन और विवेचन विद्वानों ने इतनी विशदता से किया है कि यहां उसका दुहराना व्यर्थ एवं अनुपयुक्त होगा। महायान साहित्य ने इसको पर्याप्त महत्व दिया है। अश्वघोष ने अपने काव्य की सुषमा में और नागार्जुन ने अपने दार्शनिक गौरव में शून्य को अनावृत किया है। जो शून्य प्राण बन कर अपनी सत्ता को ही खो बैठा उसके बीज नागार्जुन ने बो दिये थे फिर भी यह कहना उचित न होगा कि नागार्जुन का शून्य केवल निषेध (Negation) नहीं है।

यह शून्य न सत है न असत है न सदसत् है और न अ-सदसत ही है।[1]

इस शून्यता के कारण ही प्रत्येक वस्तु की स्थिति संभव हुई है।[1]

वह व्यक्ति जो शून्य सपृक्त है सबसे सपृक्त है और जो शून्य से पृथक है वह सबसे पृथक है[1]।

कुछ मध्यकालीन दार्शनिकों ने शून्यवाद की विवेचना बड़े अद्भुत ढंग से की। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील एवं अस्थिर है इसलिए वह शून्य है। केवल यह शून्य ही सत्य है यही मूल सत्य है। आर्यदेव ने भी इस सिद्धान्त की विवेचना बड़ी सफलता से की है। इसके बिना न तो योगाचारियों के और न वज्रयानियों के दर्शन का ही निर्वाह हो सका। मैत्रेयनाथ तथा असंग जैसे

१ [illegible]

दार्शनिक योगाचारी ही थे। वास्तव में असग का परमार्थ लक्षण नागार्जुन का शून्य-सिद्धान्त ही है।

"न सत् और न असत्, न तथा और न अन्यथा"[1] शून्य की व्याख्या का सूत्र है।

तन्त्रों में—"गायत्री तन्त्र के अनुसार केवल शून्योपासना से, किसी ध्यान या प्राणायाम के बिना ही, प्रत्येक वस्तु निर्मल हो जाती है[2]।"

कामधेनु तन्त्र का कहना है, "शून्य-ज्ञान सर्व शून्य से परे है, वह परम शून्य है, वह पावन है और कलुष एवं असत्य से रहित है, उसकी दीप्ति कोटि सूर्य की दीप्ति के समान है[3]।"

"जो शून्य हृदयाकाश में प्रकाशित है उसका जप भी किया जा सकता है[4]।"

"ज्ञान सकलिनी तन्त्र का कहना है कि परमात्मा शून्य है और उसमें मन विलीन हो जाता है[5]।"

"शून्य तत्त्व जीवन है[6]।"

"ध्यान मन को शून्य में विलीन करने का उपक्रम है, कोई अन्य ध्यान इसकी तुलना नहीं कर सकता[7]।"

इस प्रकार शून्य को सर्व-चेतना-कोष बना दिया गया है। अतएव महादेव कहते हैं, "मैं रुद्र हूँ, मैं शून्य हूँ, मैं सर्वव्यापक हूँ और निर्विशेष हूँ[8]।"

---

१. महायान सूत्रालकार, (लेवी) VI I पृष्ठ० २२
२. गायत्री-तन्त्र, परिच्छेद १-१
३. कामधेनु तन्त्र, पटल ११
४ कामधेनु-तन्त्र, पटल २१
५. ज्ञान सकलिनी तन्त्र, ३३
६. ज्ञान सकलिनी तन्त्र, ३४
७. ज्ञान सकलिनी तन्त्र, ५४
८. ज्ञान सकलिनी तन्त्र, ८५

सिद्धों के मत में—सिद्धों की वाणी में शून्य शब्द का प्रयोग और प्रचार बहुत बढ़ गया। सिद्धों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में बौद्धों से था। इसलिए उनकी शून्य-भावना में बौद्धों की छाया का आना स्वाभाविक था। सिद्धों ने शून्य का प्रयोग 'द्वैताद्वैतविलक्षण'[1] एवं 'महासुख' के अर्थ में ही नहीं अपितु 'अस्थिर' एवं 'अगुण' के अर्थ में भी किया है।

धर्म सम्प्रदाय में शून्य—धर्म सम्प्रदाय के साथ बंगाल में शून्योपासना की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। शून्य पुराण[3] के अनुसार महादेव या परमदेव शून्य-रूप है।

हरिश्चन्द्र ने भी इसी शून्य की उपासना की है[4]। शून्य पुराण के अनुसार 'शून्य एक सरोवर है जो पवित्र जल से आपूर्ण है'।[5]

नाथ सम्प्रदाय में—आगे चलकर शून्य का और भी विकास हुआ। मध्यकालीन भक्तों ने शून्य को अपने ढंग से स्वीकार किया। साकारोपासकों द्वारा अनेक प्रकार की मूर्तियों और पाषाणों में इसकी पवित्रता की स्थापना की गयी और निराकारोपासकों द्वारा यह असीम की भावना को व्यक्त करने का साधन बताया गया। वह अभाव, अगुण, द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व, कैवल्यावस्था आदि रूपों के अतिरिक्त और भी कई रूपों में प्रयुक्त होने लगा। हठयोगियों की वाणी में शून्य के कई अर्थ दिखायी देने लगे। केवल हठयोग प्रदीपिका में ही यह शब्द ब्रह्मरन्ध्र[6], ब्रह्म[7], सुषुम्ना नाड़ी[8], अनाहत् चक्र[9], आदि अर्थों में प्रयुक्त

---

१ देखिये, दोहा-कोष, पृष्ठ १ तथा ८
२ देखिये, क्षितिमोहन सेन—दादू, पृष्ठ ७८—८०
३ शून्य पुराण—चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५२
४. शून्य पुराण—चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५२,३-१
५ शून्य पुराण, चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १७७, ५-१०
६ हठयोग प्रदीपिका, ४-१०,
७ हठयोग प्रदीपिका, ४-१०
८ हठयोग प्रदीपिका, ४।४४
९. हठयोग प्रदीपिका, ४-७२

हुआ है। सहज, समरस, एकरस, आदि सिद्धान्तों मे मिलकर इसने नये-नये अर्थ धारण किये। शून्य-सिद्धान्त का गोरखनाथ पर बहुत बड़ा प्रभाव था। उन्होने इस शब्द का प्रयोग द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व एव ब्रह्मरन्ध्र के लिये तो किया ही है साथ ही समाधि-अवस्था के लिए भी किया है। "समरसत्व का प्राप्त साधक शून्य मे स्थित हो जाता है[1]।"

रामानन्द के समय म शून्य-सिद्धान्त सहज-सम्प्रदाय मे आ मिला। 'ग्रन्थ-साहब' के अनुसार जयदेव और रामानन्द दोनो 'सहज' के उपासक थे। जयदेव कहते है, "मैं उसके प्रेम म डूब गया हूँ, मैंने अपने अस्तित्व को उसमे विलीन कर दिया है और मैंने 'ब्रह्म-निर्वाण' प्राप्त कर लिया है[2]।" ग्रन्थसाहब म सुरक्षित रामानन्द की वाणी[3] म सहज शून्य का सकेत करने वाली कई पक्तियाँ मिल जाती हैं।

जिस प्रकार सहजिया ने शून्य को अपने सम्प्रदाय मे प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार निरजनियों ने भी शून्य को समाहृत किया। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सहजियो का शून्य शायद अवस्था-द्योतक है तथा निरजनियो का शून्य सत्ता-द्योतक है किन्तु दोनो पर गभीरतापूर्वक विचार करने पर दोनो के बीच मे किसी भेद रेखा का खीचना कठिन होगा।

इस प्रकार कबीर के पहले शून्य-सिद्धान्त के विकास की एक बहुत लबी परम्परा रही है जिसको दो स्थूल रूपो मे देख सकते हैं। एक रूप आस्तिक्य से सम्बन्धित है और दूसरा नास्तिक्य से। वेदो से चली हुई परम्परा जो उपनिषदों में नेति-नेति से प्रतिपादित होती है आस्तिक्य से सम्बन्धित है। दूसरी परम्परा बौद्धो के द्वारा प्रेरित हुई उसी ने 'शून्य' शब्द का प्रचलन किया। उसम आत्मवाद का खडन है। व्यक्तिगत सत्ता जैसी कोई चीज शून्यवादियो ने स्वीकार नही की। कबीर का 'शून्य' कही भी 'अभाव' का समर्थक नही है। यह ठीक है

---

१. गोरक्ष-सहिता, प्रसन्नकुमार कविरत्न द्वारा सपादित, प्रथम सस्करण पचम अश, पृष्ठ १०५

२. ग्रन्थ-साहब, राग मारू

३. ग्रथ-साहब, राग बसत

कि उसमे अर्थ वैविध्य है और कई स्थानो पर उन्होंने उसका प्रयोग परिभाषिक रूप मे भी किया है किन्तु उनसे नास्तिक्य या अभाव का सकेत कहीं नहीं मिलता। यह तो माना जा सकता है कि कबीर का 'सुन' (शून्य) सिद्धो और नाथो के 'शून्य' से भी प्रभावित है किन्तु यह कहना अनुचित होगा कि कबीर ने 'सुन' का प्रयोग सिद्धो और नाथो के अनुकरण पर किया है। कबीर का शून्य यदि कहीं सुषुम्ना, ब्रह्मरन्ध्र और ध्यानावस्था का सकेत करता है तो कहीं वह अद्वैतवादियों के अद्वैत-तत्त्व का भावात्मक प्रतीक भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर का शून्य अभावात्मक कहीं नहीं है। कबीर ने 'सुनि' शब्द का प्रयोग कहीं व्यस्त रूप मे और कहीं समस्त रूप मे किया है। समस्त रूप मे वह 'सिषर',- 'सहज' एवं 'मडल' के साथ प्रयुक्त हुआ है यथा—

सिषर के साथ—

'सायर नाहीं सीप बिन, स्वाति बूद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजै, सुनि सिषर गढ माहिं'[1]।'

सहज के साथ—

'गग जमुन उर अतरे, सहज सुनि ल्यौ घाट।
तहा कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवै बाट'[2]।।"

मडल के साथ—

"ऐसा कोई ना मिलै, सब बिधि देइ बताइ।
सुनि मडल मे पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ'[1]।।"

कबीर ने 'सुनि' के अतिरिक्त उसके कुछ पर्यायियो का भी प्रयोग किया है। इनमे प्रमुख गगन मडल, निरजन, सहज, उनमनी और अलख शब्द है। इस अर्थ मे अनेक शब्दो का प्रयोग देखिये—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३८
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८-१८२

(ग) गगन मडल का प्रयोग—

"जब परतर खेल मचाया, तब गगन मडल मठ छाया ।[1]
गगन मडल रोकि बाग, तहा दिवस न राती ।
कहे कबीर छाडि चले, बिछुरे सब साथी ॥

(घ) निरजन का प्रयोग—

यह कबीर कोई बिरला जानै अजन छाडि निरजन मानै ।[2]
'सुम घरि जाहु हमारी बहुना, दिव लागे तुम्हरे नैना ।
अजन छाडि निरजन राते, ना किसही का देना[3] ॥'
"अजन आवै अजन जाइ निरजन सब घटि रह्यो समाइ[4] ॥"

(ग) सहज का प्रयोग—

"पच तत्त अविगत थै उतपना, एक किया निवासा ।
बिछुरे तत फिरि सहजि समाना रेख रही नहीं आसा[5] ॥'
'सुषमन नारी सहज समानी पीवै पीवनहारा[6] ।'
'टारी न टरै आवै न जाइ सुन सहज महि रह्यो समाइ[7] ।"

(घ) उनमनी का प्रयाग—

'उनमनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभवन भया उजयारा[8] ।"

---

१ कवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७ ७
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १७३
३ कवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद ३३६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०, पद २७०
५ कवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद ३३७
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२-१०३, पद ४४
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पंक्ति १८
८. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ २६६, पद १७
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पद ७२

उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुबिधा दुरमति भागी।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या राम नाम लिव लागी[1] ॥"

(ड) अलख का प्रयोग—

मुंडे मुंडे रह्यो उरझाई साचा अलख जग लख्या न जाई[2] ।"
अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोई[3] ॥"

यह तो प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि कबीर वाणी में 'सुंनि' (शून्य) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। कहीं वह ऊंचाई, कहीं गहराई, और कहीं स्थिति एवं अवस्था का सूचक है। भाव, रस (समरसता), वातावरण, अद्वैत, निर्गुण एवं निराकार सत्ता के अर्थों के साथ साथ कबीर का शून्य व्यापक, व्याप्य, व्याप्त सूक्ष्म एवं निरालंब का अर्थ भी द्योतित करता है। उसमें अमनस्ता भी सन्निहित है। इन सब अर्थों में वह अभाव-सूचक कहीं भी नहीं है। जहां अभाव की प्रतीति सी होती है वहां भी भाव निहित है—

सुंनि मंडल में मंदला बाजै तहां मेरा मन नाचै[4] ।"

यहां सुंनि मंडल एक भावात्मक स्थिति है जिसके सम्बन्ध से मन की एक अवस्था विशेष की सूचना दी गयी है।

कबीर का 'सुंनि' अभावात्मक नहीं है, इसका प्रमाण नीचे की वाणी में भी मिल जाता है—

सहज सुंनि में जिनि रस चाख्या,
सतगुरु थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता,
कबहूं उछकि न जाई[5] ।"

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २९१, पद ९१
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३१, पद २३
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३०, पद १३
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पद ६२
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४

यदि 'सुनि' अभाव द्योतक होता तो वह न तो रस का भंडार होता और न उसमें मदमस्त बनाने की क्षमता ही होती। यहाँ तो 'सुनि' में रस भरा पड़ा है। हाँ, वह रहस्यमय अवश्य था किन्तु गुरु ने उस रस का उद्घाटन कर दिया और कबीर ने उसको इतना पिया कि वह मतवाला हो गया। मादक होने के साथ-साथ वह रस मोहक भी है। इसीलिए कबीर उससे उकताते नहीं हैं।

कुछ लोग कबीर के निम्नलिखित प्रश्न के आधार पर उनके शून्य को अभावात्मक कह डालने की चेष्टा करते हैं—

"कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सुन्य'[1]।"

इस प्रश्न में 'सुन्य' शब्द सर्वथा निषेध करके भी निरंजन की स्थापना करता है, और कुछ हो न हो शून्य में निरंजन की व्याप्ति तो स्वयं सिद्ध है। यह निरंजनमय शून्य अद्वैतभाव का सूचक है, अभाव का सूचक कदापि नहीं है।

'सुनि मंडल' में कबीर ने एक पुरुष का ध्यान किया है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह पुरुष शून्य से भिन्न है। दोनों एक हैं। इसीलिये कबीर की 'लौ' 'सहज सुनि' में लगती है—

"सुंनि मंडल मैं पुरिस एक, ताहि रह्यौ ल्यौ लाई[2]।"

वह पुरुष ज्योतिस्वरूप है तथा दृश्यलोक के परे ही उसकी खोज की जा सकती है। उसको किसी अवलम्ब की अपेक्षा नहीं है। वह एक ऐसा आकाश-कुसुम है जो विकसित है किन्तु किसी रूप-रेखा के बिना ही—

"सुंनि मंडल मैं सोधि लै, परम जोति परकास।
तहू वा रूप न रेख है, बिन फूलनि फूल्यो रे अकास[3]॥"

उस 'सुनि' के साथ कबीर ने अपनी सम्बन्ध-भावना स्थापित कर रखी है। वह कबीर की उद्गम-स्थली भी है और विलय स्थली भी—वह श्रेय भी है और प्रेय भी—

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३, पद १६४
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२०-१२१

"सहज सुनि को नेहरो, गगन मंडल सिरि मौर ।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलें हिंडोल'[1] ॥"

जिस प्रकार बाज पक्षी आकाश में उड़ता रहता है उसी प्रकार हमारा मन शून्य में निवास कर सकता है किन्तु यह एक अवस्था विशेष है जबकि मन निरालंब हो जाता है। इसको सहजावस्था भी कह सकते हैं। आत्मा की वास्तविक अवस्था भी यही है। इस अवस्था में 'मैं' और 'तू' का भेद मिट कर लोक-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं और वह मन जो आत्मा और परमात्मा के बीच एक भेदक का काम करता है मिट जाता है तथा शून्य में हमारी स्थिति जल में तरंग के समान अभिन्न हो जाती है—

'सुनि मंडल में घर किया, जैसे रहा सिचाना'[2]।"

तथा

'ऐसे हम लोक के बिछुरे, सुनिहि माँहि समावहिंगे।
जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावहिंगे'[3]॥"

शून्य की यह अनुभूति अद्वैतानुभूति है। यहां भी शून्य सत्स्वरूप है, असत्स्वरूप नहीं है। वह असीम और गंभीर है। सीमा शून्य की अनुभूति नहीं हो सकती। असीम की प्राप्ति का तात्पर्य है शून्य में निमग्न होना। उसको प्राप्त करके यहां विश्राम करना दुष्कर है —

'हद छाड़ि बेहद गया किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई तहां किया बिश्राम'[4]॥"

शून्य में विश्राम करने या स्नान करने का एक ही अर्थ है। ध्यान द्वारा शून्य में निमग्न होने से सांसारिक विस्मरण हो जाता है, तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है और तपन के स्थान पर शीतलता आ जाती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८ पद १५४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७, १२०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-११

तत पाया तन बीसरयो जब मनि धरिया ध्यान ।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनाना[1] ॥'

कबीर के शून्य में व्याप्यता और व्यापकता, दोनों का समावेश है। वह निरालम्ब देवालय भी है और निराकार देव भी। वही कबीर का सेव्य है और उसी में कबीर की स्थिति भी है। उपनिषदों के स्वर में कबीर ने उस शून्य सत्ता को विलक्षण कहा है। वे कहते हैं—"न वह सूक्ष्म है, न स्थूल है। उसकी कोई रूप-रेखा नहीं है और न वह दृष्ट है न अदृष्ट है[2]।" वह एक विलक्षण सत्ता है।

उसके साथ मन का तादात्म्य हो सकता है किन्तु प्रत्येक दशा में नहीं केवल 'उनमन मन' ही शून्य को प्राप्त कर सकता है और वही शून्य में समाविष्ट हो सकता है —

"उनमन मनुवा सुन्नि समाना[3]।"

मन के शून्य में समा जाने पर ही अद्वैत स्थिति अथवा अद्वैतपद की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में जन्म-मरण का भ्रम दूर हो जाता है।

जीवित-दशा[4] शून्य-समावेश के मार्ग में बाधक नहीं होती। शून्य की सिद्धि के लिए साधना भी चाहिए। "सुषुम्ना-मार्ग से पवन को ऊपर चढ़ाना, षट्चक्र-भेदन और 'सुरत' को 'सुन्न' में लगा देना[5] शून्य-प्राप्ति का एक साधन है। शून्य मंडल[6] में ध्यान को भी शून्य की सिद्धि होती है। जो साधक 'नाम' लीन हो जाता है वह भी शून्य में लीन हो जाता है —

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३ पंक्ति १४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२१, पद ६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६-७३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२६
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८-३२६

'कहं कबीर जो नाम समाने सुन्न रह्या तब सोई'[१]।"

यह दशा सब सुलभ नहीं है। किसी जागरूक साधक को ही इसकी प्राप्ति होती है। जो शून्य में अजपा का जाप करता है वही शून्य तत्त्व को समझ सकता है[२]। 'शून्य-स्थिति प्राप्त करके साधक अटल हो जाता है। वह न कहीं आता है न जाता है[३]।" उसको सहज दशा प्राप्त हो जाती है और वह गुण-भ्रम जो उसके बंधन का कारण बनता है नष्ट हो जाने से वह जीवन्मुक्त हो जाता है[४]।

इसके अतिरिक्त कबीर ने शून्य का प्रयोग विशेषण के अर्थ में भी किया है। इस रूप में शून्य की पारिभाषिक विशेषता न रह कर उसका अर्थ 'सूक्ष्म' मात्र रह जाता है। अपने 'राम' का वर्णन करते हुए कबीर उनको स्थूल और शून्य दोनों रूपों से रहित मानकर 'शून्य' शब्द में 'सूक्ष्म' अर्थ की प्रतिष्ठा करते हैं —

"वेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पाप रु पुन्य
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सुन्य[५]॥"

जहां कहीं कबीर ने 'आकाश' के अर्थ में शून्य का प्रयोग किया है वहां भी वह सूक्ष्मता, निर्गुणता एवं निराकारता का संकेत देता है[६]।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है और वे हैं कायिक शून्य, वाचिक शून्य मानसिक शून्य एवं आध्यात्मिक शून्य। प्रथम तीन रूपों में सिद्धों और नाथों

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-२९९
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९९, पंक्ति १६
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८३-६३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-२२०
७. "जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुनि समानी त्यौरी।"
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९१-३०३

की छाया दीख पडती है किन्तु चौथा रूप औपनिषदिक परम्परा की एक कडी सा दीख पड़ता है। यह ब्रह्म या राम का परिचय देता है। वाचिक और मानसिक शून्य में भी कबीर आत्मा या ब्रह्म के लक्षण प्रस्तुत कर देते हैं।[1] उनमन मनुवा सुन्नि समाना म यौगिक एवं अद्वैतिक दोनो प्रकार की छाया की प्रतीति होती है। रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि सबद सुनि थिति माही कहकर कबीर ने शब्द की शून्य स्थिति भी प्रकट करदी है। अजपा जपत सुनि अभि अंतरि से भी यही रूप प्रतिपादित होता है।

वैसे तो मानसिक शून्य भी एक प्रकार से कायिक शून्य के अन्तर्गत समाविष्ट हो सकता है किन्तु अध्ययन की सुविधा एवं मान्यताओं के आग्रह से इनके अलग अलग भेद करने म ही औचित्य समझा गया है। कबीर का कायिक शून्य हृदयाकाश अथवा ब्रह्मरन्ध्र का परिचायक है। ब्रह्मरन्ध्र को तो कबीर ने और भी कई नाम दिये हैं जैसे भवर गुफा अथवा सुन्नि सिपरगढ आदि।

लय का घाट सहज शून्य[2] मानसिक एवं आध्यात्मिक शून्य का द्योतक है। इसमें योग अद्वैत और भक्ति तीनो का समन्वित रूप देखा जा सकता है। आध्यात्मिक शून्य निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की ओर संकेत करता है। जैसे तरगें जल म विलीन हो जाती है वैसे ही हम भी ससार मुक्त होकर शून्य म लीन हो जावग आदि वाक्यो से शून्य की आध्यात्मिकता स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार के शून्य भेद अन्य परवर्ती सन्तो की वाणियों म भी मिलते हैं जिनमें दादूदयाल का स्थान प्रमुख है। कबीर की भाति भावात्मक शून्य तो दादू ने भी स्वीकार नही किया है। इसीलिए वे कहते हैं।

कुछ नाहीं का नाव क्या ज धरिए सो झूठ।[3]

वे उस सहज को जो सूक्ष्म अनन्त एवं अरूप है और जिसको सामान्य मनुष्य अस्वीकार कर देता है स्वीकार करते है। वे शून्य के ध्यान के समर्थक

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १८ १८२
२ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२७ १२१
३ दादू साच कौ अग ७६५

है[1]।" प्रत्येक रूप, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक स्थान म उस सहज की व्याप्ति है। वहा निरजन का क्रीडा क्षेत्र है। कोई गुण उसका स्पर्श नहीं कर सकता[2]। 'पर्चा अग' मे दादू की चौदह बानियो म सहज शून्य की तुलना उस सरोवर या सागर से की गयी है जिसम महारस भरा हुआ है। शून्य को दादू ने सहज-सागर भी कहा है। उसीम से मन मुक्ता-चयन करता है। शून्य सरोवर म परमात्मा को कमल और मन को मधु मक्खिया कह कर दादू शून्य के अर्थ को कुछ और विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। दादू अपन मन की विश्रान्ति सहज शून्य मे चाहते है, "जो योग-समाधि और प्रेमानन्द के मध्य म स्थिति है[3]।" इस प्रकार दादू ने योग को प्रेम से सपुटित करके कबीर की परम्परा को ही आगे बढाया है।

कबीर की भाति दादू ने भी शून्य का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया है। पर्चा अग ५३ मे दादू ने शून्य के तीन भेदो की ओर सकेत किया है—(१) काया शून्य, (२) आत्म शून्य और (३) परम-शून्य। काया शून्य में पच तत्त्व का निवास है, आत्म शून्य म जीवन की अभिव्यक्ति होती है और परम शून्य म परमात्मा से मिलन होता है। दादू बानी म ब्रह्म शून्य का भी वर्णन आया है जिसम अनन्त, असीम एव अरूप ब्रह्म व्याप्त है। "प्रथम तीन शून्यो का सम्बन्ध रूपात्मक जगत् से है और चौथा शून्य निर्गुण है। वही सहज शून्य भी है जो प्रेम की केलि-स्थली है[4]।" पर्चा अग की ५४ वी और ५५ वी बानी मे दादू कहते है—"सहज शून्य सबका कारण है। सूर्य, चन्द्र और नभ का आविर्भाव इसीसे हुआ है। इसीम पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की अभिव्यक्ति हुई है। काल, मन, मनोवेग, मनोभ्रम रूप और प्राण का कारण भी वही है और वही ईश्वर का आवास है। वह सहजशून्य सब क साथ है[5]।"

---

१ दादू, राग बिलावल, ३४६
२. दादू, पर्चा अग ५६
३. दादू, पर्चा अग ५६-६८
४. दादू, लै अग ६
५. दादू बानी, पर्चा अग ५०

इस प्रकार दादूदयाल ने भी शून्य के चार भेद किये हैं और वे कबीर की परम्परा का निर्वाह करते हैं।

जिस प्रकार कबीर ने शून्य मंडल में एक पुरुष का आवास बतलाया है उसी प्रकार दादूदयाल ने भी ब्रह्म शून्य को ईश्वर का आवास कहा है। दादू के शिष्यों ने भी शून्य की इस परम्परा को चलाया। दादू के शिष्यों में रज्जब का प्रमुख स्थान है। उन्होंने भी शून्य को चेतनामय बतलाया है। उसी में सहज का निवास बतलाया है। उन्होंने शून्य को दो भेदों में प्रकट किया है—एक व्यष्टिगत शून्य और दूसरा अनन्त शून्य। व्यष्टिगत शून्य की चरम परिणति रज्जब ने अनन्त शून्य में मानी है अतएव व्यष्टिगत चेतना का परमानन्द अनन्त-चेतना में विलीन होने में है।[1]

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वेदों की अखंड चेतन सत्ता, जिसका उपनिषदों ने नेति नेति के द्वारा प्रतिपादन किया। महायानियों के दर्शन में शून्य में अभिहित हुई जिसके द्वारा अनात्मवाद का खंडन हुआ। सिद्धों की वाणी में भी शून्य के द्वारा इसी अनात्मवाद का प्रतिपादन हुआ किन्तु शून्य का अर्थ कुछ और विकसित हुआ और योग की पारिभाषिक शब्दावली में समाविष्ट होकर नाथों ने भी उसे सिद्धों से धरोहर रूप में प्राप्त किया किन्तु वह ब्रह्मरन्ध्र एवं समाधि अवस्था तक ही सीमित न रहा और द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व की ओर भी संकेत करने लगा। सहज, निरंजन, समरस आदि अर्थों में प्रयुक्त होकर शून्य ने अनेक सम्प्रदायों को अपना मार्ग बनाया किन्तु कोई भी अर्थ शून्य की सीमा न बन सका। कबीर और उनके अनुयायियों ने शून्य के जो भेद किये वे शून्य के अर्थ का विकास मात्र हैं सीमा नहीं है। विवेकानन्द का शून्य-संबंधी भाषण इसका प्रमाण है। इसमें अर्थ विकास की संभावनाओं के आगे पूर्ण विराम नहीं लगाया जा सकता।



---

१ देखिये, रज्जब बानी, गुरुदेव अंग, ८५

: २४ :

एक ही पथ के दो पथिक

यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मानव-जीवन में जिज्ञासा का प्रवेश कब, क्यों और कैसे होता है, परन्तु इसमें कदाचित् कोई मतभेद नहीं कि वह मानव स्वभाव का एक अङ्ग है। अबोध शिशुओं के अनेक प्रश्नों से यह प्रमाणित हो जाता है कि वह मनोवृत्ति छोटे-बड़े सब में पाई जाती है और उसका उदय मानव प्रभात में ही हो जाता है। मनुष्य में इस वृत्ति के उत्थान-पतन, दोनों पहलू देखे गये हैं। जीवन की सफलता और असफलता का अधिकांश दायित्व इसी पर होता है आध्यात्मिक जीवन में इसका परम गौरव है। जीवन का भौतिक पक्ष आध्यात्मिकता पर ही आधारित रहता है। अतएव जिज्ञासा जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप का सङ्गठन करती है। गांधी जी के अनुसार 'आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है 'नैतिक', धर्म का अर्थ है नीति[1], और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया हो वही धर्म है।'[2] जबतक जिज्ञासा का लक्ष्य धर्म नहीं होता तबतक उसमें आध्यात्मिकता नहीं आती और आध्यात्मिकता के बिना वह जीवन को बल नहीं दे सकती। भौतिक लक्ष्य के गुणीभूत होते ही जिज्ञासा में अध्यात्म प्रकाश प्रखर होने लगता है। वह जितनी दृढ़ और निर्मल होगी, उतनी ही त्वरित लक्ष्य के समीप पहुँचेगी। उसका चरम लक्ष्य सत्य है—वह सत्य जिसमें चित् और आनन्द का अनूठा संयोग है। वही सार है। उसके सिवा सब मिथ्या है। जो साधक सत्य पर विश्वास करते हैं, वे जगत् के मिथ्याडम्बर से खिंच बैठते हैं। उनकी दृष्टि निरन्तर सत्य पर लगी रहती है। उनके विषय में कबीर कहते हैं—

---

१ सृष्टि नीति के पाये पर खड़ी है, नीतिमात्र का समावेश सत्य में होता है। —आत्मकथा, पृष्ठ ४२

२. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृष्ठ ३

कबीर जिनि जिनि जाणियां, करता केवल सार ।
सो प्राणी काहे चल, झूठे जग की लार[1] ॥

पहले जिज्ञासु को सत्य स्पष्ट नही दीख पड़ता । वह तम-पटल से निकलता जाता है और सत्य की झलक देखता जाता है । इस अवस्था में जिज्ञासा इतनी प्रबल और बहुरूप हो जाती है कि जिज्ञासु स्वयं विस्मित होकर पूछने लगता है —

'प्रथमे गगन कि पहुमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पाणी ।
× × × ×
कहै कबीर जहा बसहु निरजन, तहां कछु आहि कि सुन्य ॥'

धीरे धीरे साधना का सहारा लेकर जिज्ञासा दृढ और स्थिर होती चली जाती है । साधक अपने पथ पर तत्पर और स्थिरमति होकर बढता रहता है और उसका लक्ष्य पद पद पर उसके निकट आने लगता है । वह उसे स्पष्ट दीखने लगता है । सत्य की गवेषणा आग्रह ही से सम्भव है । सत्य के प्रति आग्रह में अदम्य भावना क्रियाशील रहती है । दुराग्रह में यह बात कभी नहीं होती जो सत्याग्रह में परन्तु आत्म निराकरण और आत्म-संयम सत्याग्रह के प्रधान अङ्ग हैं । वास्तव में सत्याग्रह साधना मार्ग है । उसके बिना सत्य की प्राप्ति असम्भव है परन्तु सत्याग्रह का मार्ग सरल नहीं है, वह तलवार की धार के समान दुर्गम पथ है । हां अभ्यास और अनुभव उसे सरल बना देते हैं । गाधीजी सत्याग्रह का अर्थ सत्यबल[3] करते हैं । उसी को वे प्रेम-बल या आत्म बल के नाम से भी पुकारते हैं । कबीर के शब्दों में सत्याग्रह को ही प्रेम-पथ कह सकते हैं । प्रेम का पथ सरल नहीं है । वह तो सिर का सौदा है, मर कर जीने का मन्त्र है[4] । अतएव कबीर भी साधक को आत्म बलिदान के लिए सचेत करते हैं —

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४३-१६
२ आत्मकथा, प्रस्तावना पृष्ठ ८
३ गाधीजी, सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १
४ मगल प्रभात—गाधीजी पृष्ठ ७

'कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि ।
सीस उतारै हाथि करि सो पैसे घर माँहि' ॥
प्रेम न खेती नीपजै प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जिस रुचै सिर दे सो लेजाय ॥
भगति दुहेली राम की नहिं कायर का काम ।
सीस उतारै हाथि करि सो लेसी हरि नाम ॥

किन्तु साधारण को सत्य की प्राप्ति के साधन जितने कठिन दिखाई देते हैं उतने ही सरल। अभिमानी को जो बातें असंभव प्रतीत होती हैं वही एक भोले भाले शिशु को बहुत सरल मालूम होती हैं। सत्य के शोधक को दीनता परम प्रिय होती है। उसे एक रज-कण से भी नीचे रहना पड़ता है। सारी दुनिया रज कण को पैरों तले रौंदती है पर सत्य का पुजारी तो जबतक इतना छोटा नहीं बन जाता कि रज कण भी उसे कुचल सके तबतक स्वतंत्र सत्य की झलक भी होना दुर्लभ है। यह बात वशिष्ठ विश्वामित्र के आख्यान में अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है। ईसाई धर्म और इस्लाम भी इसी बात को मानते हैं। गांधीजी से कई सौ वर्ष पहले कबीर ने भी सत्य के खोजियों को यही उपदेश दिया था —

रोड़ा ह्वै रहो बाट का, तजि पाषण्ड अभिमान ।
ऐसा जे जन ह्वै रहै ताहि मिलै भगवान' ॥'

साधक के हृदय में सत्य के प्रति एक लगन रहनी चाहिए। उस लगन के लग जाने पर किसी दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। उसका नाता सत्य से जुड़ जाता है और वह सर्वस्व को अपने सत्य पर निछावर कर देता है। सत्य के लिए आत्म समर्पण की यही भावना कबीर के अन्तर में काम करती है —

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ६९ १९
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ७०
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ६५ १४

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सोपते, क्या लागत है मोर[१]।।"

" हम जो आँटे मारते हैं, वह मर बाजरी या मुट्ठी भर धान के लिए नहीं, पर खट्टे-मीठे स्वाद के लिए। ठण्ड से बचने के लिए आवश्यक जैसे तैसे कपडो के लिए नहीं, बल्कि रेशम किमखाव के लिए। अगर हम इस लाभ को छोड दे तो हम अपने और कुटुम्ब के भरण-पोषण की चिंता बहुत कम रह जायगी।'[२] लोभ को त्याग कर यह विश्वास करना होगा कि 'जिसने दाँत दिये हैं वह चबाने को भी देगा। जो साँप बिच्छू शेर भेडिया आदि डरावने जन्तुओं या जानवरों को भूखा नहीं रखता है वह मनुष्य जाति को नहीं भुला सकता।" साधक को विश्वास के बल पर निश्चिन्त रहना चाहिए।

'करता न करि अच्यन्त रहु, साईं है सबसेष।
पशु पखेरू जीव जन्तु, तिनकी गाठि किसा ग्रन्थ[३]।।'

सत्य पर दृढ हो जाने पर साधक के भय, शोक, मोह का नाश हो जाता है और शूर के सभी गुण उसमें उदित हो जाते हैं और वह दुर्वृत्तियों का डट कर सामना करता है—

'कबीर मेरे सता को नहीं हरि सम लागा हेत।
काम क्रोध सू जूझणा, चौड माड्या खेत[४]।।'

सत्य-साधक अपना प्रत्येक पद सत्य की ओर उठाता है। उसके भाव या व्यवहार में, कहीं भी पाखण्ड या दम्भ नहीं होता। श्रम पर उसकी पूरी आस्था होती है। मुख में राम बगल में छुरा" आस्था नहीं कहलाती। 'राम के

---

१ गाधीजी की आत्मकथा—प्रस्तावना पृष्ठ ५
२. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६, ३
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५८ ६
४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६८ ७
५. गाधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १६
६ गांधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १८
७ गाधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १६

निरुद्ध आचरण करना धर्म नहीं है। जो धर्म की सच्चाई के साथ रक्षा करता है वही सत्याग्रही है।"[3] कपटी का सत्य दर्शन नहीं हो सकता।

> वेद पुरान सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुनि मरम न पावा।
> सन्ध्या गाइत्री श्रुर षट करमा, तिन थैं दूरि बतावा॥
> वनखंडि जाइ बहुत तप कीन्हा, कन्द मूल खनि खावा।
> ब्रह्मगियानी अधिक धियानी, जम कैं पटैं लिखावा॥
> रोजा किया नमाज गुजारी बंग दे लोग सुनावा।
> हिरदै कपट मिलै क्यू साईं, क्या हज काबै जावा[1]॥"

कपटी न केवल औरों को छलता है, वरन अपने को भी सत्य के प्रसाद से वंचित करता है। दम्भ पाखण्ड, प्रवंचनादि के कारण सत्य की भांकी दूर होती चली जाती है अतएव साधक उन्हें साथ लेकर नहीं चल सकता। वेष-भूषा में सत्य का सन्निवेश नहीं है। इसीलिए पाखण्डी घुटमुण्डों को खरी सुनाते हुए कबीर कहते हैं —

> 'केस मुंडाये हरि मिलै सब कोइ लेय मुंडाय।
> बार बार के मूंडते, भेड़ न बैकुण्ठ जाइ॥"

आत्मोत्सर्ग कर देने पर सत्याग्रही के हाथों सतप-धन लग जाता है। वही उसका सुख है।" वही सच्चा विजयी है क्योंकि जो ईश्वर के भरोसे सर्वस्व का त्याग करता है, उसके लिए दुनियाँ में कभी हार या पराजय कहीं है ही नहीं। उसका सर्वस्व, उसका प्रियतम उसी, सत्य में रहता है। ज्यों ही उसकी दृष्टि निर्मल हुई कि उस 'पूर्ण' (सत्य) का साक्षात्कार हुआ। फिर तो,

> "पूरे को पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै[4]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७८-२६४
३ गांधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ ११
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, १८१

कबीर और गांधी दोनो का लक्ष्य सत्य होते हुए भी उनकी साधना का प्रथित अन्तर भुलाया नहीं जा सकता। लेखक का ध्येय दोनो महापुरुषो के मध्य निर्णायक बनने का नही, वरन् वह सत्य के दो सफल पथिकों के मार्ग का अपने शब्दों मे एक चित्र खीचना चाहता है। यह तो सर्वमान्य बात है कि कबीर और गांधी का सत्य व्यापक है। किसी एकदेशीय सत्य को तो वे कभी सत्य कहते भी नही हैं। कदाचित् सत्य उसे इसीलिए कहते हैं कि उसकी सत्ता सार्वभौमिक, सार्वभौतिक एवं सार्वकालिक है। दोनों के मुखों से सत्य की परिभाषा एक है परन्तु दोनो का व्यक्तित्व और परिस्थितिया उन्हे अलग अलग मार्गों पर चलने के लिये बाध्य कर रही हैं। जगत का सैद्धान्तिक निराकरण जैसे कबीर ने किया था वैसे ही गांधी जी ने भी किया। दोनो के लिए जगत मिथ्या है। उसमे सेमल के फूल का सा झूठा आकर्षण है, परन्तु जबतक आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेंद्रियाँ ठीक हैं तबतक जगत की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण कर भी कौन सकता है? अतएव अद्वैतवादी भी सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षो को मानते चले आ रहे हैं। कबीर और गांधी दोनो ने ही इन दोना पक्षो को माना है, परन्तु कबीर के व्यवहार-पक्ष मे वह तीव्रता और प्रभावोत्पादकता नही जो गांधी के में है। इसमें सन्देह नही कि कबीर के सिद्धान्त बडे पक्के हैं, उनकी वैराग्यवृत्ति बडी दृढ है, परन्तु कबीर मे व्यावहारिक प्रेम और अहिंसा कितनी अटल है, इसका अनुमान हमें नही हो पाता। मैं नही समझता कि स्त्रियों की निन्दा करते समय कबीर से अहिंसा और प्रेम कितने दूर पड़े रहते होगे अथवा शाक्तो की निन्दा करते समय प्रेम और अहिंसा भाव के तिरोहित हो जाने पर कबीर खिन्न होते होगे या नही? गांधीजी सिद्धान्त और प्रेम के पक्के पुजारी थे। कबीर की तरह अपनी दुर्बलताओ के कारण वे नारियो को कोसते नही थे, अपितु नर-नारी दोनो को अपने सत्यमार्ग पर प्रेरित कर उनके लिए सच्चे शुभचिंतक की भांति मंगल-कामना करते थे। अधर्मी के अवगुणो को देख कर गांधीजी तटस्थ नही हो बैठते थे, वरन् वे उसे सुधारने की चेष्टा करते थे, सत्य-पथ पर चलाने की शिक्षा देकर प्रेम और अहिंसात्मक उपाय से दूषणों का निवारण या निवारण करने की चेष्टा करते थे। कबीर के मुख से शाक्तो के लिए अनेक अपशब्द भी निकल गए हैं जो अहिंसा के विरुद्ध है।

सुधार की भावना से प्रेरित होकर भी समाज के प्रति कबीर का भाव विरक्तिमूलक है। समाज के कलङ्को को देख कर कबीर का हृदय क्षुब्ध हो जाता

है और वे फटकार फटकार कर सुधार करना चाहते हैं। उन्हें यह चिन्ता नहीं है कि सुधार हुआ या नहीं। उन्हें ज्यों ही कोई दोष दीखा कि तुरन्त ही उनका सद्गुरु किया और दोषियों को फटकारा। इसके आगे वे क्या करते हैं या उन्होंने क्या किया है ? यह बात वे स्वयं जानें या परमात्मा। सम्भवतः वे इसके आगे के पचड़े में पड़ना नहीं चाहते थे। संन्यासी होने के कारण उनके स्वभाव में फक्कड़पन तो है ही, साथ ही साथ अक्खड़ सुधारक की गर्वोक्तियाँ भी रहती हैं परन्तु गांधीजी में अक्खड़पन का नाम तक न था। जो सज्जन गांधीजी के सम्पर्क में रहे हैं वे जानते होंगे कि वे कितने विनम्र और सुशील थे। हम यह तो नहीं कह सकते कि गांधीजी विरक्त नहीं थे क्योंकि उनका अपूर्व त्याग इसका विरोध करेगा और न यही कह सकते हैं कि वे संसार में आसक्त थे। कोई भी देखने वाला उनमें एक अलौकिक विलक्षणता देखता था और वह थी विरक्ति में आसक्ति और आसक्ति में विरक्ति। अतएव उन्हें विदेह (जनक) का समकक्ष कहने में किसी को हिचक न होगी। उनके प्रेम और अहिंसा में उनकी आसक्ति कौन न बतायेगा ? उनकी निस्वार्थता में विरक्ति किसे नहीं दीख रही ? प्रेम से विश्व को बांधने की जो अमोघ शक्ति इनमें दीख पड़ती है वह कबीर में कहाँ ? इसीलिए तो गांधीजी की अहिंसा केवल सिद्धान्त और उपदेश की वस्तु नहीं उसमें व्यापक आनन्द रस छलकता है। ऐसी व्यापक अहिंसा से कौन अलिप्त रह सकता है ? ऐसी व्यापक अहिंसा के बल को नापना असम्भव है। प्रेम और अहिंसा को गांधीजी की आध्यात्मिक कला कहना अधिक अनुचित न होगा। प्रेम उन्हें समाज से उसी प्रकार सुशृङ्खलित किए हुए था जैसे वह उन्हें परमात्मा से चिरंतन सत्य से। अतएव वे उन्हें समाज के सम्मिश्र और परम शिल्पी के रूप में देखते रहे। वे समाज के सच्चे निर्माता थे। अहिंसा के बल से वे समाज में दिव्य प्रेम का निर्वाह कर रहे थे। उनके प्रेम और अहिंसा के पतवारों से समाज की नौका दृढ़ता से सत्य की ओर बढ़ी जा रही थी बापू का कोई ऐसा प्रयत्न न था जिसमें अहिंसा का आधार न हो उनका कोई उद्देश्य न था जो प्रेममय न हो। सत्य के पुजारी और विनय के देवता को अपनी [illegible] प्रिय थी। वे अपनी भूल को न केवल स्वीकार ही कर लेते थे

१ गांधी—आत्मकथा पृष्ठ २४

प्रत्युत् भेरीनाद से उसका प्रकाशन किए बिना भी नहीं रहते थे। सम्भवतः उनके भोले सत्य के उदर में कोई विजातीय द्रव्य ठहर नहीं सकता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी का परम सत्य बाहर भी अपनी प्रकाश-रश्मियाँ फैला रहा था। उनकी साधना के सूत्र अन्तर को बाहर से जोड़ रहे थे। यह सम्बन्ध सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक था। गांधीजी के व्यावहारिक सत्य के आन्तरिक और बाह्य पक्ष भिन्न नहीं हैं। उनमें ऐक्य और अभेद है। इस ऐक्य की अनुभूति कबीर को होती ही नहीं यह बात तो नहीं, परन्तु उनका व्यावहारिक अभेद पूर्णाङ्ग नहीं है। स्त्री, शासन आदि से सम्बन्धित बातें ऐसी हैं जो इस ऐक्य की विकलाङ्गता को प्रमाणित करती हैं। कभी कभी वे ऐक्य की अनुभूति करते प्रतीत होते हैं परन्तु वह आत्मविषयक (Subjective) है पर विषयक (Objective) नहीं—

'हम सब माँहि सकल हम माँहीं,
हम थे और दूसरा नाहीं'।[1]

अतएव कबीर की अभेदानुभूति को जो आत्म-विषयक है, हम व्यावहारिक नहीं कह सकते। यह उनकी आत्मचिन्तना का फल है आचरण का नहीं। चिन्तना के क्षण में कबीर अपने लाल की लाली देखने जाते हैं और स्वयं लाल हो जाते हैं—

"लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन हौं गई मैं भी ह्वै गई लाल॥"

परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में स्वयं लाल की लाली देखना और स्वयं लाल हो जाना बड़ा कठिन है। बापू व्यवहार में भी लाल की लाली को देख रहे हैं। कबीर मस्त हैं उनको जगत[2] से मैत्री नहीं है।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१ २०३

२. हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहें आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछुड़े पियारे से, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरु नाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ?
न पल बिछुड़ें पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से।

सत्य की आत्म अनुभूति समाधि अवस्था में होती है। उस समय मनुष्य न बोलता है न सुनता है और न हिलता है न जानता है। वह शून्यावस्था होती है। उस समय वह जगत के किसी काम का नहीं होता। वह मुदित हो सकता है, मोदक नहीं रहता। वह आनन्दमय हो जाता है परन्तु गांधीजी के सत्य में सत्य का सत्य रूप प्रतीत होता है। उनकी भावना में सत्य गुणानन्दमय दीख रहा है। उस में स्व पर कल्याण का सुन्दर योग है। वे स्वयं आनन्द लेते हुए दूसरों को आनन्द वितरण करते चलते हैं। गांधीजी को अपनी सत्य-साधना में कितना आनन्द आता होगा इसका ठीक ठीक अनुमान तो असम्भव है, परन्तु यह कह सकते हैं कि यदि सुरसाल को मधुर-फलों का भार धारण करने में कोई आनन्द आता है तो गांधीजी को भी आता होगा। यदि गांधीजी को अपनी सत्साधना में रस न मिलता तो वे सम्भवतः समाज को इतने मधुर फल लुटाते न चले जाते।

गांधीजी के सत्य की सुनहरी किरणों में जगत उपनिषद् के इस मंगल-पाठ को पढ़ रहा है 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'। "वसुधैव कुटुम्बकम्" पर लोगों का विश्वास जमने लगा है। उनके जिस स्वर में गीताकार के प्रच्छन्न दर्शन हो रहे हैं उसी में बुद्ध और ईसा के उपदेश भी ध्वनित हो रहे हैं। गांधीजी के 'मानव-बन्धुत्व और परमात्मा पितृत्व' के सामने लोक को झुकना पड़ा है, इस विषय में विश्व-समर ने कोई शंका नहीं रहने दी थी।

०

उन्हीं से नेह लागा है हमन को बेकरारी क्या ?
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ?"

शब्दा० पृ० १६-१७

परिशिष्ट—१

कुछ पारिभाषिक शब्दों का परिचय

१ अनहद (अनाहत)—अनहद शब्द दो अर्थ देता है—एक 'असीम' और दूसरा 'अनाहत'। 'असीम' के अर्थ में व्यापकता एवं अनन्तता का द्योतन होता है और 'अनाहत' के अर्थ में बिना बजाये बजने या होने वाले शब्द का बोध होता है। संत-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हुआ है। कबीर ने 'असीम' या अनन्त के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत कम किया है। वे इस अर्थ में और भी अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। अनहद से मिलता-जुलता एक 'बहद' शब्द भी है जिसका प्रयोग कबीर-वाणी में मिलता है—

> 'कबीर हद के जीवसू, हत करि मुखाँ न बोलि।
> जे लागे बेहद सूं, तिनसू अंतरि खोलि'॥[1]

उक्त साखी में 'बेहद' शब्द का प्रयोग अनहद या असीम के अर्थ में ही हुआ है। असीम या अनन्त के अर्थ में कबीर के 'अनहद' शब्द का प्रयोग भी देखिये—

> "स्वादि पतंग जरै जरिजाइ,
> अनहद सौं मेरौ चित न रहाई।'[2]

यहाँ 'अनहद' शब्द से 'अनाहत' का अर्थ भी लिया जा सकता है किन्तु 'अनन्त' अर्थ ही अधिक स्पष्ट है।

अनाहत नाद के अर्थ में कबीर ने 'अनहद' और 'अनाहत' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है और दोनों ही प्रायः विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन के विशेष्य तूरा, सबद, बेन, कींगरी, बाजा, बीना आदि शब्द रहे हैं जो किसी न किसी वाद्य यन्त्र का द्योतन करते हैं। जैसे—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६-५०
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २११-३६८

अनहद सबद उठै भणकार तहाँ प्रभू बैठे समरथ सार[1]।

इसी प्रकार—

जब अनहद बाजा बाजे तब साँई संगि विराजै[2]।

कबीर ने अनहद या अनाहत के साथ बाजे और बजाए क्रियाओं के प्रयोग किया है जो पृथक् पृथक् भाव व्यक्त करती है। बाजे शब्द से बजाने वाले का बोध नहीं होता किन्तु बजाने से बजाने वाले का भी बोध होता है अतएव जहाँ बाजे क्रिया का प्रयोग हुआ है वहाँ बजाने वाले की ओर इंगित नहीं किया गया, जैसे—

जब अनाहद कींगरी बाजी
तब काल द्रिष्टि भै भागी[3]।

अथवा—

जिनहीं सबद अनाहद बाजै
तहाँ निरंतर है गोपाला[4] ॥

किन्तु जहाँ बजाया क्रिया का प्रयोग है वहाँ बजाने वाले की स्थिति का ज्ञान भी कराया गया है जैसे—

अनहद बेन बजाइ करि
रह्यौ गगन मठ छाइ[5] ॥

अथवा—

बाबा जोगी एक अकेला जाके तीर्थ व्रत न मेला।
झोली पत्र बिभूति न बटवा अनहद बेन बजावै[6] ॥

इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग साभिप्राय है। बजने और बजाने का एक दूसरे से सम्बन्ध है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि शब्द दो प्रकार का होता है—आहत (Struck) तथा अनाहत (Unstruck)। आहत शब्द दो पदार्थों

१　कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १९९ पंक्ति १८
२　कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १४६ १७३
३　कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १८८ २६४
४　कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १६० १५६
५　कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १२६ १११
६　कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १९ २०७

से टकराने से उत्पन्न होता है। स्थूल जगत में सुनायी देने वाले सभी शब्द आहत हैं किन्तु विश्व में एक अनाहत शब्द भी व्याप्त है। उसी शब्द की सत्ता योगियों ने शरीर में भी मानी है जिसको ओंकारी गुञ्जा या ओंकारा पुरुष कहा गया है। वह शब्दमय प्राण है। विश्व व्यापक शब्द को शब्द ब्रह्म की संज्ञा भी दी गई है। शरीरगत शब्द जिसको एक विशेष अवस्था में योगी ही सुन सकता है अनाहत कहलाता है। योगी का साधना पथ उसे इस शब्द तक ले पहुँचता है जो उसके मन को अपने में लीन कर लेता है। इसकी श्रवणीयता के लिए सुषुम्ना के मार्ग को खोलने की आवश्यकता होती है। जब प्राणवायु इस मार्ग से ऊर्ध्व गमन करती है तो योगी को यह ध्वनि सुनायी पड़ती है। वास्तव में उसका बजाने वाला कोई नहीं है इसलिए उसके लिए बजाना क्रिया का प्रयोग साभिप्राय है किन्तु उसकी श्रव्यता योगी की साधना से सम्बन्धित है इसलिए योगी को उसका बजाने वाला कह दिया गया है अन्यथा बजाना कोई अर्थ विशेष नहीं है।

अनाहद नाद की अनेक अवस्थाएं बतलायी जाती हैं जिनमें पृथक पृथक शब्द सुनायी पड़ते हैं। सागर गर्जना, घन गर्जना, मर्दल ध्वनि, वीणा आदि अनेक ध्वनियों में उसका विकास होता है। योगी सूक्ष्मतर नाद में अपना मन लगाता जाता है। कबीर ने इन ध्वनियों की ओर गगन गरजि, अनहद-तूरा, 'अनहद बेन, अनहद कींगरी, अनहद झनकार आदि शब्दों से संकेत किया है और उन ध्वनियों का भेद भी स्पष्ट है किन्तु इन भेदों का स्पष्ट वर्णन उनकी वाणी में कहीं नहीं मिलता।

कबीर ने अनाहत नाद का सम्बन्ध कई बातों से जोड़ा है। अनहद बाजा बजने पर ही मन शून्य में समाता है —

गगन गरजि मन सुंनि समाना बाजे अनहद तूरा।[1]

योगी का गगन मठ में निवास भी अनहद बाजे के साथ ही होता है—

अनहद बेन बजाइ करि रह्यो गगन मठ छाइ[2]।

कबीर की रची का स्थान भी वही है जहां अनहद कींगरी बजती है—

जगत गुर अनहद कींगरी बाजै तहां दीरघ नाद ल्यौ लाग[3]।

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ८० ७
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १२६ १२१
३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १३७ १८३

'अनाहद बाजे' के साथ ही गोपाल-दर्शन होता है—

'जिन्हीं सबद अनाहद बाजे, तहा निरतत है गोपाला'[१]

आत्मा और परमात्मा के सान्निध्य में भी इस 'अनहद बाजे' का सहयोग बतलाया जाता है—

"जब अनहद बाजा बाजै, तब साईं संगि बिराजै'।"[२]

जो 'अनहद नाद' सुनता है वह काल भय से मुक्त हो जाता है—

"अनहद बांसुरी बाजी, तब काल द्रिष्टि भैं भागी'।"[३]

'अनहद शब्द की झनकार' के साथ ही प्रभु-सामर्थ्य का साक्षात्कार होता है—

"अनहद सबद उठै झणकार, तहा प्रभू बैठे समरथ सार'।।"[४]

अनहद के आविर्भाव के लिए कबीर 'कुंभक' की आवश्यकता तो मानते ही हैं साथ ही चन्द्र-सूर्य मिलन की आवश्यकता भी समझते हैं—

"ससि हर सुर मिलावा तब अनहद बेन बजावा'।"[५]

इस प्रकार कबीर ने 'अनहद' या 'अनाहद' शब्द को अपनी सहज-साधना का प्रमुख अंग माना है।

२ सुरति और निरति—सुरति शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक विवाद की वस्तु बनी हुई है। विद्वानों ने उसको अपने अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। कोई इसको तत्सम् मानता है और कोई तद्भव। इसकी व्युत्पत्ति श्रुति एवं स्वरति से मानी जाती है। कोई-कोई इसको विदेशी शब्द 'सूरत' से उद्भूत मानते हैं। जो हो, इस शब्द की अनेकार्थता स्पष्ट है अन्यथा इतने शब्दों में इसके मूल को खोजने की आवश्यकता न होती। यह अर्थ-विकास साहित्य के विद्यार्थी के लिए बड़े महत्व का है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर-वाणी में इस शब्द को पर्याप्त आदर मिला और कबीर-पंथ में 'सुरति-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४० १५६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६ १७३
३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८८-२६४
४ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १९९ पद १८
५. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १४६-१७३

कमल' एव 'सुरति-शब्द-योग' जैसे शब्दो का विकास हुआ। इससे स्पष्ट है कि सत-साहित्य ने 'सुरति' के सम्मान को क्षीण न होने दिया।

कुछ लोग 'सुरति' शब्द को सिद्धों की वाणी मे खोजते हैं और इस दशा म वे अपनी खोज को सिद्ध सरहपा 'सुरअविलास' एव कण्हपा के 'सुरअवीर' तक ले जाते हैं। जहाँ 'सुरअ' शब्द प्रेम के अतिरिक्त अन्य अर्थ देने म असमर्थ प्रतीत होता है। कबीर का 'सुरति' शब्द सिद्धो के 'सुरअ' की सगति में नही बैठ सकता क्योकि उसका अपना पृथक् अर्थ है। निरति शब्द तो सिद्धो की वाणी मे किसी भाव को नही मिलता। अतएव सुरति-निरति शब्दो को सिद्धो की वाणी से आया हुआ कहना शब्दो की व्युत्पत्ति के साथ अत्याचार होगा।

कबीर-वाणी का सम्बन्ध नाथ-वाणी से भी रहा है और नाथ-वाणी म उक्त दोनो शब्द मिलते है और उनका अर्थ किसी सीमा तक कबीर के शब्दो के अर्थ से मिलता है। पारिभाषिक रूप मे तो नाथो और सतो के सुरति-निरति का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। एक प्रश्न मे गोरखनाथ अपने गुरु से पूछते है—"कौंण सुषि ले तुरिया बध'?[1] और मछिन्द्र उत्तर मे कहते हैं—"सुरति सुषि बाला तुरिया बध'।"[2] इस उत्तर म 'सुरति' को 'तुरिया' से सम्बन्धित किया गया है। यहाँ दोनो के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है जिसके लिए मछिन्द्र-गोरख क एक दो प्रश्नोत्तरा को और भी देखना होगा—

गोरख—' स्वामी कौंण सुषि बैठे कौंण सुषि चले।
कौंण सुषि बोलै कौंण सुषि मिलै॥
क्यू करि स्वामी नूभै रहै'।'[3]
मछिंद्र—"अवधू सुरति सुषि बैठे सुरति सुषि चले,
सुरति सुषि बोलै सुरति सुषि मिलै।
सुरति निरत मै नूभ रहै, ऐसा विचार मछिंद्र कहै'।"[4]

इस प्रश्नोत्तर से 'सुरति' के अभिप्राय एव सुरति-निरति के सम्बन्ध पर कुछ अधिक प्रकाश पडता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने बैठने, चलने, बोलने और मिलने

---

१. गोरष-बाणी पृष्ठ १९३ ६३
२. गोरष-बाणी, पृष्ठ १९४-९४
३. गोरख-बाणी, पृष्ठ १९६-८१
४. गोरख बाणी, पृष्ठ १९६-८२

के साथ सुरति का उपयोग बतलाकर उसके अभिप्राय को काफी सरल कर दिया है। साथ ही सुरति निरति में लीन रहे कहकर सुरति और निरति के संबंध को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। आगे एक प्रश्न में गोरखनाथ पूछते हैं—

स्वामी कौंण सो सब्द कौंण सो सुरति।
कौंण सो बंध कौंण सो निरति[1]॥
दुबध्या मेटि र कस रहै। सतगुर होइसु कहया कहै॥

और मछिंद्र समझाकर कहते हैं—

अवधू सबद अनाहद सुरति सोचित (सुचित)।
निरति निरालंभ लागि बंध।
दुबध्या मेटि सहज में रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै[2]॥

यहाँ आकर निरति का अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट है। निरति निरालंब अवस्था है और इसके साहचर्य से सुरति का सम्बन्ध सावलम्ब स्थिति से बन जाता है। मछिंद्र के उत्तर में बैठने, चलने, बोलने और मिलने तक में सुरति[3] पर बल दिया गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सुरति ध्यान की स्थिति है जो गोरखनाथ के करण बिन कांण श्रवण के उत्तर में प्राप्त हुई मत्स्येन्द्रनाथ की वाणी में इस प्रकार समर्थन प्राप्त करती है—

करण बिन सुरति श्रवणं[4]।

इसका अर्थ है कानों के बिना सुरति का सुनना अर्थात् सुरति कोई श्रवणीय वस्तु है चाहे वह अन्तर्गम्य ही क्यों न हो। अतएव यहाँ सुरति शब्द की व्युत्पत्ति श्रुति से करनी होगी जिसका अर्थ शब्द (Sound) हो सकता है। श्रुति का अर्थ सुनने की क्रिया (Hearing) भी होता है। इस प्रकार नाथों के सुरति श्रवण का अर्थ अन्तर्नाद या अनाहतनाद का श्रवण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुरति निरालंब दशा अर्थात् निरति तक पहुँचने का एक साधन है। सुरति का मार्ग शब्द ध्यान या शब्द योग का मार्ग है। अन्तर्ध्वनि पर ध्यान का रम जाना ही सुरति का लक्ष्य है। इससे निरति दशा स्वतः ही

१ गोरख-वाणी पृष्ठ १९६ ८३
२ गोरख-वाणी पृष्ठ १९६ ८४
३ गोरख-वाणी पृष्ठ १९८ ६
४ गोरख-वाणी पृष्ठ १९७ १०

प्राप्त हो जाती है। अतएव यह सहज-मार्ग भी है किन्तु सहज मार्ग और सहजावस्था म भेद है। प्रथम द्वितीय का साधन मात्र है। अन्तर्ध्वनि पर ध्यान के जम जाने पर ध्वनि के साथ ध्यान भी विलीन हो जाता है और यही नाथो की 'निरति' अवस्था प्रतीत होती है।

नाथो की 'सुरति निरति' से ही कबीर को इस दिशा में प्रेरणा मिली है और कबीर वाणी म इन दोनो का पारिभाषिक अर्थ भी वही प्रतीत होता है। 'सुरति' मन का खीचने की बडी भारी शक्ति है। वह मन को अपने म लीन कर लेती है और इतना लीन कर लेती है कि कबीर विस्मय से कह उठते हैं—

> कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि ?
> डूगरि बूठा मेह ज्यू गया निवाणा चालि[1]।"

मन 'सुरति' मे लीन होता है और सुरति स्वय मन को लेकर निरति मे विलीन हो जाती है जिसको कबीर भी नाथो की भाति निराधार अवस्था ही मानते हैं—

> 'सुरति समाणीं निरति मै, निरति रही निरधार[2]।"

सुरति का कबीर एक प्रकार की प्यास कहते है जिसका पेय ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द है जिसको कबीर-वाणी मे 'सुधारस, अमृत अथवा महारस'[3] अभिधा भी दी गयी है किन्तु रस योगियो के उस अमृत से भिन्न है जो सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्र से सदा निर्झरित होता रहता है क्योंकि यह रस काया से सम्बन्धित है और कबीर का महारस प्रेम से सम्बन्धित है। इसका सकेत कबीर की इस साखी से मिलता है—

> 'सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार।
> कँवल कुवाँ मैं प्रेमरस, पीवै बारम्बार[4]॥"

इस 'कँवल कुवाँ' को देख कर रस शीघ्र ही इस चन्द्रामृत के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है जो उचित नही दीख पडता। 'प्रेमरस', 'चन्द्रामृत' के

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२
२. कबीर ग्रथावली पृष्ठ १४-२०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६-४१
४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १८-१८१

विरोध म अपना ढिंढोरा पीट रहा है। फिर भी यदि कोई न सुने-समझे तो कबीर का क्या दोष है।

कबीर के इस 'सुरति योग' म 'अजपा' जाप का भी महत्त्वपूर्ण योग है। 'जिस प्रकार सुरति निरति म, जाप अजपा मे और लक्ष्य अलक्ष्य मे समा जाता है उसी प्रकार साधक अपने आप म लीन हो जाता है'।[1] यह 'अजपा' भी योगियो के 'अजपा जाप' से कुछ भिन्न है। हठयोगियो की 'अजपा' की स्थिति ध्यान की स्थिति को स्वीकार करती है किन्तु कबीर की 'अजपा-दशा' निरति-दशा म भी सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। 'अजपा' का विवेचन विस्तार-पूर्वक तो सम्बन्धित टिप्पणी म किया जायेगा किन्तु इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अजपा की एक स्थिति तो वह है जो 'सुरति' के साथ रहती है और दूसरी स्थिति 'निरति' के साथ रहती है। अजपा की ध्यानमयी स्थिति सुरति-दशा में रहती है किन्तु जब निरति दशा म ध्यान भी विलीन हो जाता है तो साधक निरालब दशा मे निमग्न हो जाता है। जिस प्रकार सुरति निरालब दशा मे निमग्न होती है उसी प्रकार 'अजपा' की ध्यान-स्थिति भी निरालब या शून्य दशा मे विलीन होती है जिसको कबीर न कोई नया नाम न देकर 'अजपा' नाम से ही सकेतित किया है। इस प्रकार वे हठयोगियो के 'अजपा-जाप' से भिन्न एव विलक्षण 'अजपा' की ओर सकेत करते है।

कबीर ने 'सूषिम सुरति का जीव न जाणे जाल'[2] कहकर 'सुरति' की सूक्ष्मता और प्रवृत्ति की ओर भी सकेत किया है। इसीलिए कबीर-वाणी मे सुरति का सबध न केवल निरति या अजपा मे है अपितु 'कँवल कूँआ', मन, उलटा पवन, षटचक्र, और अनाहतनाद आदि से भी है। सुरति विलय को प्राप्त हो जाती है, वह निरति म समा जाती है, शून्य मे प्रवेश कर जाती है। आदि से सुरति की एक ही अवस्था प्रकाशित होती है। सुरति के सबध-प्रकार का एक सुन्दर रूप-चित्र कबीर ने इस साखी म प्रस्तुत किया है—

> 'ग्यों की लेज पवन का ढींकू, मन मटका ज बनाया।
> सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया'।।[3]

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२३
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३२-३०३
३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६१-२१४

'स्थों', 'पवन', 'मन', 'सत' और 'सहज' मे सुरति का सीधा संबंध स्थापित करके कबीर ने उसके क्षेत्र का परिचय दिया है।

कबीर के सुरति-शब्द-योग मे प्रेम के अंश की उपेक्षा नही की जा सकती। कबीर का सुरति-मार्ग प्रेम मिश्रित है। उस पर चलने का आकर्षण प्रेम से हुआ है और गति भी प्रेममय है और अन्त मे सुरति का विलय भी प्रेमानंद मे होता है। एक सती के रूपक द्वारा कबीर 'सुरति' का प्रेम से संबंध इस प्रकार स्थापित करते हैं —

"सती जलन कू नीकली, पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह[१]॥"

कबीर की 'सुरति' की एक विशेष भूमिका है किन्तु वह भी प्रेम-मयी है। भूमिका का निर्माण पांचो ज्ञानेन्द्रियों से प्रारंभ होता है। वे प्रिय के प्रेम मे निमग्न हो जाती हैं और उनका स्वामी मन भी उसी प्रेम मे डुबकियाँ लगाने लगता है। अभ्यास से नाद का संपर्क पाकर मन की डुबकी गंभीर हो जाती है। वही सुरति है और उसी से 'राम रत्न' की प्राप्ति होती है —

"पंच सखी पिव पिव करैं, छटा जु सुमिरे मन।
आई सूति कबीर की पाया राम रतन[२]॥"

कबीर की वाणी मे सुरति साधना की आवश्यकता पर भी कुछ प्रकाश पड़ा है। कबीर का कहना है कि 'मन बड़ा शक्तिशाली है। वह आसानी से राम के स्मरण मे नही लगता। उसको इधर लगाने के लिए उपाय करने पड़ते हैं। उनमे से सुरति भी एक उपाय है। अनाहतनाद मे मन को उसी भाँति लगाना पड़ता है जिस प्रकार हरिण अपने मन को वधिक के 'नाद' मे लगा कर भय-मय का त्याग कर देता है[३]।'

"पवन के उलटने और षट्चक्र के भेदने की परम्परागत बात करते हुए भी कबीर सुरति को अनुरागविहीन नही होने देते। उसमे वे इस शून्य की खोज करने का निर्देश करते हैं जो आने-जाने और मरने जीने से मुक्त है[४]।'

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१- ६
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-७
३ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६-१७
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९९-१३८
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२६

'सुरति' को कुछ लोगों ने 'स्रोत' शब्द से व्युत्पन्न माना है और उसे वे चित्त प्रवाह का द्योतक मानते हैं किन्तु यह अर्थ किस आधार पर लगाया गया, यह कहना दुष्कर है। इस अर्थ में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द कबीर-वाणी में तो कहीं देखने में नहीं आता। हाँ इस शब्द के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह स्मृति का बोधक भी है और इस अर्थ में कई स्थलों पर कबीर ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इस अर्थ में प्रयुक्त कबीर के 'सुरति' शब्द के प्रयोग के कुछ उदाहरण यथानिर्दिष्ट हैं—

जौ कबहू उडिजाइ जंगल में, बहुरि न सुरतै आनै[1]।"
तुझ बिन सुरति करै को मेरी।
दरसन दीजै खोलि किवार[2] ॥

सुरति शब्द का प्रयोग कबीर ने कुछ और भी अर्थों में किया है। उनमें से एक अर्थ वेद (श्रुति) भी है जैसे—

'सुरति सुमृति दोइ को बिसवास बाझि परयौ सब आसा पास'[3] ॥"

जहाँ सुरति का अर्थ वेद है वहाँ उसके साथ 'सुमृति' (स्मृति) शब्द का प्रयोग भी मिलता है। कहीं कहीं सुमृति के स्थान पर 'सिमृति' शब्द भी स्मृति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

'सुरति' शब्द का एक प्रयोग 'रूप' के अर्थ में भी हुआ है जैसे—

(क) मूवा करता, मुई ज करती मुई नारि 'सुरति' बहु धरती[4]।"
(ख) 'हुक साच खालिक खलक म्यानै, सो कछू सच 'सुरति' माँहि'[5]।"

कबीर ने 'सुरति' का प्रयोग 'आसक्ति' के अर्थ में भी किया है, यथा—

'बिखिया अजहू सुरति सुख आसा।
हूण न देइ हरि के चरन निवासा'[6] ॥"

---

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १०१ ६०
२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २१७ ११३
३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०३-४७
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६ २०२
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४६
६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२४७
७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११४ ८२

सुरति का अर्थ आत्मा के प्रति अथवा आत्मतत्त्व के प्रति गहन तन्मय संबंध भावना करना भी अनुचित न होगा और इस दशा में इसकी व्युत्पत्ति 'स्व रति' से करनी होगी। यह आत्मरति परमात्मा रति से भिन्न नहीं है। मन का आत्मसात करने वाली 'सुरति'[1] जीवात्मा की प्रतीक बनकर उस दुलहिन का रूप प्रस्तुत करती है जो परमात्मा से मिलन के लिए—अपने आप में ही परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए—आतुर हो नाम स्मरण के संबल और अनाहतनाद के वाहन के साथ प्रयाण करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथों से चला हुआ सुरति शब्द, जिसकी व्युत्पत्ति के लिए श्रुति ही उपयुक्त शब्द प्रतीत हुआ है कबीर की वाणी में आकर एक नवीन सांचे में ढल गया जिसमें नाथों के अर्थ—श्रुति—के साथ स्मृति (स्मरण) और स्वरति अर्थ भी संनिविष्ट हो गए। इस प्रकार कबीर का सुरति शब्द योग एक ऐसी साधना है जो नाथों की सुरति साधना से कहीं अधिक प्रौढ़ समर्थ एवं व्यापक है क्योंकि इसमें मन के गढ़ पर नाद पथ के अतिरिक्त अन्य पथों से भी एक ही साथ धावा किया गया है। तीनों अर्थों को एक साथ लेकर ही कबीर के सुरति शब्द तक पहुँचा जा सकता है कोई एक अर्थ पूर्ण तात्पर्य को व्यक्त नहीं कर सकता।

३ खसम—कबीर की वाणी में प्रयुक्त खसम शब्द अध्ययन का एक रोचक विषय है। कबीर ग्रंथावली में इस शब्द का प्रयोग करीब २६ स्थानों पर हुआ है और तीन प्रमुख अर्थ देता हुआ दिखायी पड़ता है—पति स्वामी तथा ब्रह्म या परमात्मा। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के अपने अपने मत हैं। कुछ विद्वान इसको तत्सम शब्द मानकर ख (आकाश) + सम (वत या समान) अर्थात् आकाशवत या आकाश के सम न अर्थ करते हैं और कुछ अरबी में आया हुआ मानते हैं। अरबी में खसम शब्द का अर्थ शत्रु या विरोध करने वाला होता है। कबीर के प्रयोगों में ये दोनों अर्थ ही प्राय नहीं मिलते। अतएव यह एक प्रश्न है कि कबीर की वाणी में खसम शब्द ने अर्थ कहां से ग्रहण किये।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि जब यह शब्द कबीरदास तक पहुंचा तबतक उससे मिलता जुलता एक अरबी शब्द खसम (पति) भारतवर्ष की सीमा में पहुंच चुका था। अतएव कबीरदास को यह शब्द दो

---

१ आत्म स्वरूप

मूला में प्राप्त हुआ। हठयोगियों के मध्य से यह आत्मा के शून्य चक्र में पहुंच कर समभाव की अवस्था को प्राप्त होने के अर्थ में आया और मुसलमानी माध्यम से पति के अर्थ में। पहले अर्थ में यह गगनोपम का भाव धारण करता है। कबीरदास ने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसम-भाव का सामाजिक आनन्द हो माना है वही चीज तो सहज समाधि है जिसके लिए न दंड की जरूरत है न कथा की, न मुद्रा आवश्यक है न आसन। यही कारण है कि खसम का अर्थ सब समय उन्होंने निकृष्ट पति समझा। × × × खसम वह पति है जो अपनी पत्नी को वश न कर सके और इन्द्रियों के दास मन को भी, इसलिए कबीरदास ने कभी-कभी खसम कहा है। × × टीकाकारों और भक्तों ने अपनी उर्वर कल्पना के बल पर इस शब्द का अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है। × × मेरा अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझ कर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है। उद्देश्य मागियों की कथाई बताना था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी दो माध्यमों से प्राप्त हुए 'खसम' शब्द का कबीर वाणी में एक ही संकेत करते हुए देखते हैं किन्तु टीकाकारों और भक्तों के उल्लेख से उन्होंने 'खसम' के कुछ अन्य अर्थों (जीव, मन और परमात्मा) की ओर भी संकेत किया है।

जहां डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के 'खसम' शब्द को अधिकतर पुरानी परम्परा की ओर झुका हुआ देखते हैं वहां श्री परशुराम चतुर्वेदी उसे अधिकतर अरबी स्रोत से सम्बन्धित देखते हैं। श्री चतुर्वेदी जी का विचार है कि 'सिद्धों ने जहां पर शून्य स्वभाव का मानवीकरण किया है वहां वे खसम' शब्द को पतिवत् मानते हुए से भी प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसा स्पष्ट नहीं है'।'

१ देखिये डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर पृष्ठ ७७

२. देखिये, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ७७ ७८

३ कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २३८

४ कबीर साहित्य की परख पृष्ठ २३८

"'खसम' शब्द सम्भवतः सर्व प्रथम सिद्धों की वाणी में मिलता है। ख+सम के समस्त रूप में इसका प्रयोग आकाशवत् के अर्थ में हुआ है[1]।" डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा संपादित दोहा-कोष[2] में खसम' शब्द के अनेक उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत टीका के साथ दिए हुए नीचे के उदाहरणों से इस शब्द के अर्थ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

१ चित्त खसम जहि सम-सुह पइट्ठइ।
(इन्दीअ विसअ तहि मत्त) ण दीसइ॥५॥

—तिलोपाद

सं० टीका—चित्त खसम यदा समसुख प्रविशति।
इन्द्रिय विषयमात्र तदा न दृश्यते॥

२ मणह (अवा) खसम भअवइ।
(दिवाराति) सहजे राहिअइ॥१७॥

—तिल्लोपाद

सं० टीका—मन एक भगवान् खसम भगवती।
दिवारात्रौ सहजे योजयितव्ये॥

इसी ग्रंथ में सिद्ध सरहपाद के दोहा में प्रयुक्त खसम शब्द को देखिए—

३ अक्खअ अच्चेय परम पहु खसम महासुह णाह।
जो आवाअ अचित्त वि तस्सच्चवणु करेहु॥११॥

—सरहपाद

सं० टीका—अक्षय अचेय परमपद खसम महासुख नास्ति (नाम)
यत् अवाच्य अचित्तमपि तस्य दर्शनं क्रियताम्॥

४ जत्त विचित्तहि विप्फुरइ तत्तवि णाह सरुअ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरुअ॥७२॥

—सरहपाद

सं० टीका—यदपि चित्ते विस्फुरित तदपि नाथस्वरूपम्।
अन्यत्तरंग किम् अन्यत् जलं भवसम खसमरवरूपम्॥

---

१ देखिये हिन्दुस्तानी पृष्ठ ३२ (भाग १६ अंक ४, अक्तूबर-दिसम्बर १६५८)

२ दोहा कोष—पी० सी० बागची भाग १ मेट्रोपोलिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लि० १६३८

५ सत्वरुप्र तहिं खसम करिज्जइ ।
खसम-सहावें मण वि धरिज्जइ ॥
सो वि मणु तहि अमणु करिज्जइ ।
सहज-सहाव सो पर-रज्जइ ॥७७॥

—सरहपाद

स० टीका—सत्वरूप तस्मिन् खसम क्रियते ।
खसम स्वभावे मनाऽपि ध्रियते ।
तदपि मनस्तस्मिन् अमनः क्रियते ।
सहज स्वभावे स पर रज्यते ॥

सभी उपर्युक्त प्रसंगों में 'खसम' शब्द संस्कृत के ख+सम का ही समस्त रूप सिद्ध होता है। सिद्धों ने 'निर्विकल्पक' समाधि को 'खसम' शब्द से व्यक्त किया है। यह शब्द उनके शून्य तत्त्व का द्योतक है। कबीर ग्रन्थावली में इस अर्थ में यह शब्द कहीं प्रयुक्त हुआ नहीं दीख पड़ता। संभवतः कबीर ने इसी को परमात्मा के अर्थ में विकसित किया हो। इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि सिद्धों के इस शब्द में गगनोपम शून्यता की भावना निहित है किन्तु कबीर के शब्द में निकट सम्बन्ध की भावना निहित है। अतएव सिद्धों का खसम (शून्य-वत्) ही कबीर का खसम (ब्रह्म परमात्मा) हो गया हो तो आश्चर्य नहीं।

कबीर ने 'खसम' शब्द का प्रयोग दो अन्य अर्थों में भी किया है—एक स्वामी नाथ या मालिक के अर्थ में और दूसरे पति के अर्थ में। पति के अर्थ में प्रयुक्त खसम शब्द का आविर्भाव अरबी के 'खस्म' शब्द से हुआ है। फारसी में भी यह शब्द अपने मूल अरबी अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है। कबीर के समय तक यह शब्द भी भारत में प्रचलित हो गया होगा, यह कल्पना भी असंगत नहीं है। भारत में आकर इस शब्द ने यहाँ के अनुरूप अर्थ विकसित कर लिया। आज यह इतना घुलमिल रहा है कि जनसाधारण में भी इसका प्रचलन है। फलस्वरूप ग्रामीण नर-नारियों की भाषा में भी इस प्रकार प्रयुक्त दीख पड़ता है—

(१) जा खसम कू ल आ। तु मोइ कोल्हू में पेरि देगो।

—ब्रजभाषा

(२) थानें थारे खसम री सौगन है।

—मारवाड़ी

"यह शब्द 'खसम' हिन्दी हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू का अंग होकर अनेक सामान्य एवं रोचक लोकोक्तियों का भी आधार बन चुका है। उदाहरणार्थ —

(१) औरत का खसम मर्द और मर्द का खसम रोजगार।
(२) एक जोरू की जोरू एक जोरू का खसम।
एक जोरू का भीख फूल एक जोरू की पदाम॥
(३) जोरू खसम की लड़ाई क्या ?
(४) जोरू ने मारा खसम को कोई दौड़ियो रे।

इन सब वाक्यों में 'खसम' का अर्थ पति रहा है किन्तु खसी खसम सती में 'खसम' शब्द स्वामी अर्थ का द्योतन करता है।

पंजाबी और गुजराती में भी खसम शब्द पति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। बंगला में इसका स्वामी अर्थ ही अधिक प्रचलित रहा है। टर्नर ने इस शब्द का पालि में स्वामी एवं पति के लिए प्रयुक्त हुआ बतलाया है। अनेक संदर्भों से यही प्रतीत होता है कि पति के अर्थ में यह शब्द मूलरूप में अरबी भाषा से ही आया है।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि इस शब्द का अर्थ-विकास हुआ है। इस शब्द का प्रयोग फारसी में भी हुआ किन्तु अरबी के अर्थ को ही लेकर। फिर भी कुछ फारसी के कवियों ने इसका प्रयोग मालिक या स्वामी के अर्थ में भी किया है। अर्थ का यह विकास फारसी में ही हो गया अथवा भारतीय भाषाओं में हुआ यह एक मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मैं समझता हूँ इस शब्द ने अपने इस अर्थ का विकास फारसी में ही कर लिया होगा और फारसी के साथ विकसित अर्थ भारतीय भाषाओं में भी आ समाया।

प्रसिद्ध फारसी-कवि हकीम सनाई के खस्म प्रयोग में स्वामी या मालिक का अर्थ स्पष्टतया झलक रहा है। देखिये —

(क) खाना रा गोर साज ओ दिल रा खस्म,
दरो-दीवार खाक ओ गुल रा खस्म।

---

१ देखिये, हिन्दुस्तानी भाग १९ अंक , अक्तूबर दिसम्बर, १९५८
२ देखिये, बहारे अजम—मुंशी टेकचन्द बहार, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पृष्ठ ३७१

अर्थ—घर को कब्र बनालो और मन को खस्म ।
मिट्टी कीचड़ से बने दर्वाजे दीवारों को खस्म बनालो ॥

इस प्रकार फारसी हिंदी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने खस्म शब्द का प्रयोग स्वामी या मालिक के अर्थ में किया है—

(ख) च अज दिल रफ्त शोरा जान चह् बाशद ।
चू खस्म खाना रुद मेहमान चह् बाशद[1] ॥

अर्थ—जब घर का खस्म (स्वामी) ही चला गया तो फिर मेहमान की क्या बात ?

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त उदाहरणों में खस्म शब्द शत्रु के लिए नहीं स्वामी के लिए व्यवहृत हुआ है। यही शब्द भारतीय भाषाओं में खसम बन गया। इस प्रकार जो शब्द अपने मूल अरबी रूप में शत्रु, अशक्त, हीन, नीच, कुजाति, गुणहीन, असम, विपक्षी एवं विरोधी का बोधक था वही भारत में फारसी के माध्यम से स्वामी का अर्थ-बोध कराने लगा। स्वामी के साथ इसने पति का अर्थ भी धारण कर लिया। भारतीय भाषाओं में ऐसे और भी कई शब्द हैं जो एक ही साथ स्वामी और पति दोनों का बोध कराते हैं। धनी शब्द उनमें से एक है। धनी शब्द स्वामी या मालिक के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार नाथ शब्द भी धनी के दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार कबीर वाणी में खसम शब्द का प्रयोग प्रमुखतया तीन अर्थों में हुआ है—(१) पति के अर्थ में (२) स्वामी या मालिक के अर्थ में तथा (३) परमात्मा या ब्रह्म के अर्थ में। नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से इस उक्ति की पुष्टि हो सकती है—

१ पति के अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग—

(क) 'भोल भुली खसम के बहुत किया बिभचार ।
सतगुर गुरु बन इया पूरि बला भरतार[2] ॥'

---

१ दीवाय बहारे अजम—मुंशी टेकचंद बहार नवलकिशोर प्रेस लखनऊ पृष्ठ ३७१

२ गोरख-बाणी पृष्ठ २८५ १६

३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ६० ३

(ख) एक सुहागनि जगत पियारी सगल जीव जंत की नारी ।
सम मरै वा नारि न रोवै उस रखवाला ग्रौर होवै ॥

(ग) खसम मरै तौ नारि न रोवै उस रखवारा ग्रौरो होवै[1] ॥

(घ) गई बुनावन माहौ । घर छोड्यो जाइ जुलाहो ।

× × ×

दिन की बैठ खसम की बरकस इहु बेला कत ग्राई ।
छूटे कूडे भीगै पुरिया चल्यो जुलाहो रिसाई[2] ॥

(ङ) जोइ खसम है जाया ।
पूत बाप खेलाया । बिन स्रवना खीर पिलाया ॥

२ 'स्वामी' के ग्रर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग--

(क) गुड़िया को सबद ग्रनाहद बोलै
खसम लिये कर डोरी डोलै ॥

(ख) ग्रढाई सै ग्रव पाव घा तौ फरकस ग्रर ग्रजहाई ।
दिन की बैठि खसम सू कीच ग्ररज लगी तहाही ॥

(ग) उपजे सहज ग्यान मति जागै गुर प्रसादि ग्रतर लव लागै ।
इहु संगति नाही मरणा हुकम पिछाणि ता खसम मिलणा[3] ॥

३ परमात्मा के ग्रर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग--

(क) ग्राप पावक ग्राप पवना । जारै खसम त राखै बवना[4] ।

(ख) कहु कबीर ग्रबखर दुई भाखि ।
होइगा खसम त लेइगा राखि ॥

---

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २११ २७०
२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २८० पंक्ति १२
३ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २८१ १६
४ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २९३, पंक्ति ३
५ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ११७ ८१
६ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १५३ १९३
७ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २७४ ३२
८ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २७१, पंक्ति २०
९ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २९९ पंक्ति २३

(ग) 'जो जन लेहि खसम का नाऊ,
तिनकी सद बलिहारी जाऊं।'

उपर्युक्त तीन अर्थों में दो अर्थ ही ध्यानपूर्वक देखने योग्य हैं—एक 'पति' और दूसरा नाथ प्रभु या परमात्मा। पति अर्थ में खसम शब्द का प्रयोग किसी नारी वाचक शब्द के साथ हुआ है। जैसे—

खसम मरै तौ नारि न रोवै।

पति वाचक खसम के साथ नारी वाचक शब्द न होने पर भी कभी कभी अर्थ वही रहा है किन्तु क्रिया नारी वाचक अथवा स्त्रीलिंग बोधक अवश्य रही है जैसे—

भोलै भूली खसम कै बहुत किया बिभचार।'

यहाँ भूली क्रिया से खसम शब्द का अर्थ पति के सिवा कोई दूसरा नहीं हो सकता।

दूसरा अर्थ नाथ या स्वामी है जो परमात्मा का भी बोध कराता है। जिस प्रकार नाथ स्वामी मालिक आदि शब्द पति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। अतएव 'खसम' शब्द के कहीं-कहीं ये दोनों अर्थ भी एक ही साथ लग सकते हैं जैसे—

धीरौ मेरे मनवा तोहि धरि टांगौं,
तैं तौ कीयौ मेरे खसम सूं षांगौं॥'

इस प्रकार कबीर द्वारा प्रयुक्त खसम शब्द पति और नाथ या स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त होकर तीन अर्थों का बोधक बन गया है। नाथ' अर्थ में 'खसम ने स्वामी और परमात्मा दोनों में प्रवेश कर रखा है।

कुछ विद्वानों ने 'खसम' शब्द को जीव और मन' के अर्थ में भी प्रयुक्त माना है। मैं समझता हूँ कबीर ने इन अर्थों में खसम का प्रयोग शायद ही कहीं किया हो या तो खसम शब्द प्रतीक रूप में हमारी बुद्धि के चंगुल में फँस कर कोई भी अर्थ ध्वनि उत्पन्न कर सकता है किन्तु उसका बेसुरापन छिप नहीं सकता।

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २८० पंक्ति १२
२ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६० २१३

अन्त में निष्कर्ष रूप मे यह कह देना समीचीन ही होगा कि कबीर का 'खसम' शब्द संस्कृत का खसम (ख+सम) नही है वरन् अरबी भाषा का खसम है जिसने फारसी मे अपने अर्थ का विकास कर लिया था और जिसको भारतीय भाषाओ ने फारसी से 'पति' या स्वामी के अर्थ में ग्रहण कर लिया। स्वामी के अर्थ का द्योतन करता हुआ 'खसम' शब्द परमात्मा का बोध कराने में भी समर्थ सिद्ध हुआ है।

५. उनमन : उनमनी—कबीर की बाणी में उनमन या उनमनि (उनमनी) शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है और इस शब्द को, ऐसा दीख पड़ता है, कबीर ने बहुत महत्त्व दिया है। कभी उनका मन 'उनमन' से लग जाता है, कभी 'उनमन' और मन अभिन्न हो जाते हैं और कभी अंडे[1] के समान मन को 'उनमन' कर देते हैं। कभी-कभी कबीर का मन 'उनमनि' में चढ़कर एवं मग्न होकर रसपान करता है और कभी 'घट-भीतर' 'उनमनी' ध्यान प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार कबीर की वाणी मे 'उनमन' या 'उनमनी' के विविध प्रयोग पाठक के मन को अपनी भूल-भुलैयों में डाल कर खींच ले जाते हैं और कुछ क्षण तक पाठक सोचता रह जाता है कि यह 'संज्ञा' विशेषण कैसे बन गयी अथवा 'उनमन' मे मन कैसे विलीन हो गया। कभी इस सोच मे पड़ जाता है कि 'उनमनी' ऐसी क्या चीज है जिसपर मन चढ़ जाता है। सच तो यह है कि कबीर की भाषा विचित्र है और उनकी अशिक्षितता ने उसे और भी विचित्र बना दिया है। इसीलिये व्याकरण के घाट से हम कबीर के रहस्यो को नही देख सकते। भाषा उनके लिए गौण वस्तु थी और अनुभूति-प्रकाशन प्रधान। अनुभूति किस माध्यम से कैसे प्रकाशित हो रही है कबीर को इसकी चिन्ता नही है। इसकी चिन्ता उनकी भाषा को स्वयं रही होगी, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे कबीर की भाषा बड़ी मस्त है, वह उन्मुक्त है। उसपर किसी प्रकार का भार या बन्धन नही है। इसीलिए मात्राएं एक दूसरी के साथ समझौता कर लेती हैं, संज्ञा और विशेषण भी मिलकर अपनी स्थिति समझ-समझा लेते हैं। उक्त प्रयोगो मे भी इसी तथ्य का दर्शन होता है।

---

१. कहते हैं कि एक पक्षी विशेष उड़ते-उड़ते आकाश मे अंडा देता है जो शीघ्र ही फूट जाता है और बच्चा ऊपर को उड़ जाता है।

जिस प्रकार और भी कई पारिभाषिक शब्दों का स्रोत नाथों की शब्दावली में खोजा जाता है उसी प्रकार 'उन्मन' और 'उनमनी' या उन्मनि का स्रोत भी नाथ-वाणी में ही खोजा जा सकता है। यदि 'गोरख-बानी' में नाथ परम्परा निहित है तो उसीमें इस शब्द का स्रोत दिखायी दे जाता है। 'गोरख-बानी' में पृष्ठ १५६ पर 'सिष्या दरसन' शीर्षक के अन्तर्गत 'उनमनी अवस्था' शब्द आया है जहाँ 'उनमनी' अवस्था का विवेचन है। हठयोग प्रदीपिका में इस अवस्था के लिए उन्मनी एवं मनोन्मनी शब्द का प्रयोग किया है। उन्मनी शब्द का प्रयोग देखिये —

'तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वं योगं मनोयुञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्[१]॥'

तथा मनोन्मनी शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

'मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी[२]॥"

गोरखबानी में एक स्थान पर 'उनमनी जाप' कह कर उस 'उन्मनी' या मनोन्मनी अवस्था की ओर ही संकेत किया गया है —

' छठे छमासि काया पलटिबा
तब उनमनी जोग अपार[३]॥"

एक स्थान पर गोरखबानी में ही 'उनमनी लागन तारी[४]' कह कर उसमें 'लय' की खोज की गयी है। वह साधक जो 'उनमनी' को धारण करता है 'उन्मन' कहलाता है, जैसे—

'अनहद सूं मन उनमन रहै,
सो सन्यासी अगम की कहै[५]।"

उक्त वाणी से यह भी स्पष्ट है कि 'उनमनी' अवस्था का सम्बन्ध 'मन' और 'अनहद' से है। जब अनाहत नाद मन को खींच कर अपने में लीन कर लेता है तभी उनमनी अवस्था की अनुभूति होती है—

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-३६
२ हठयोग प्रदीपिका, ४-४०
३ गोरखबानी, पृष्ठ १६-५२
४ गोरखबानी, पृष्ठ ३२ ६०
५. गोरखबानी, पृष्ठ ३६ १०३

दसवैं द्वार निरंजन उनमन बासा
सबदे उलटि समाना ।[1]

उनमन साधक ही निरंजनत्व को प्राप्त करता है। इसी तथ्य को गोरख-बाणी में पुष्ट करते हुए कहा गया है—

यहु मन ले जै उनमन रहै।
तौ तीनि लोक की बाता कहै॥[2]

एक और स्थान पर गोरखबानी में मन उनमनी और पवन का सम्बन्ध एक रूपक द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

उनमनी डाडी मन तराजू पवन किया गदियाना ।
भाषै गोरषनाथ जीवण बठा तब सोना सहज समाना[3] ॥

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमन और उनमनी शब्द नाथों की टकसाल के सिक्के है। कबीर ने नाथों के उक्त दोनों शब्दों को उन्हीं के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त किया है। गोरखबानी में उनमनी ताली या उनमनी जोग की बात कही गयी है उसी प्रकार कबीर ग्रन्थावली में 'उनमनी ध्यान' का उल्लेख किया गया है। गोरखबानी में 'उनमन' शब्द साधक के साथ प्रयुक्त हुआ है और कबीर ने उसको 'मन' या 'मनुवा' के साथ लगा दिया है। साधक मन से अभिन्न होने के कारण अर्थ में विशेष अन्तर आने की बात प्रस्तुत नहीं होती। कबीर का 'उनमन' का प्रयोग देखिये—

उनमन मनुवा सुन्नि समाना दुबिधा दुरमति भागी ।
कहु कबीर अनुभौ इकु देखा राम नाम लिव लागी[4] ॥

यहाँ 'उनमन मनुवा' का तात्पर्य 'ध्यान मग्न मन' से है और यह अर्थ परम्परा से विच्छिन्न नहीं है। उनमनी शब्द भी अपने साथ एक परम्परा लाया है और अवस्था का ही द्योतन करता है जैसे—

'उनमनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभवन भया उजियारा[5] ॥'

---

१ गोरख-बाणी पृष्ठ ९९ ८
२ गोरख-बाणी पृष्ठ ९२ ५
३. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ९४ पंक्ति ७ ८
४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २९१ ९१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०-७२

'उनमन' साधक का मन उसके वश में होकर उससे अभिन्न हो जाता है और साधक की स्थिति निरालंब मन में हो जाती है। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'स्थिर मन', 'सहज भाव' और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाव को कबीर इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

"मन लागा उनमन सों, उनमन मनहि बिलग।
लूण बिलगा पाणियां पाणी लूण बिलग[1]॥"

हठयोग प्रदीपिका में भी इस स्थिति का वर्णन समान रूप से किया गया है। तत्त्व में विलीन मन अथवा मन में समाये हुए तत्त्व की स्थिति को हठयोग-प्रदीपिका में इस प्रकार दिया गया है—

"कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते[2]॥"

'मन लागा उनमन सों' को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कबीर का 'उनमन' कोई मन से भिन्न वस्तु या अवस्था है। वास्तव में 'उनमन' मन से अलग कोई वस्तु या अवस्था नहीं है अपितु मन की ही एक अवस्था है। मन की 'निर्वाण दशा' ही 'उनमनी' अवस्था है। मन के माध्यम से कबीर ने 'उनमनी' को इस प्रकार समझाया है—

"कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालिह।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवाणा चालि[3]॥"

पहली पंक्ति में उनमनी अवस्था में मन की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न है और दूसरी पंक्ति में उसका उत्तर है। जो दशा प्रलय जल में 'डूंगर' की हो सकती है वही उनमनी अवस्था में मन की होती है। जल में डूंगर की सत्ता रह सकती है किन्तु 'उनमनी' में मन विलीन हो जाता है और उसके विलीन होते ही अपना सहज स्वरूप प्रकट हो जाता है—

"इस मन का बिसमिल करौ, दीठा करौं अदीठ[4]।"

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-१६
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-५६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८-६

जब यह मन 'उनमन' हो जाता है तब रूप-रेखा एवं वेश का विगलन हो जाता है—

"जब थे इन मन उनमन जाना,
तब रूप न रेख तहां ले बाना[१] ॥"

तन-मन का भेद विगलित होकर अकथनीय अनुभवावस्था का आविर्भाव ही उनमनी अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा में परमात्मा और परमात्मा में आत्मा का विलय हो जाता है। इस अवस्था का संकेत कबीर इन शब्दों में करते हैं—

"तन मन मन तन एक समाना इन अनभै माहैं मन माना।
आतमलीन अखंडित रामा, कहै कबीर हरि माँहि समाना[२] ॥"

कबीर 'उनमनी' को मन की 'उलटी' चाल मानते हैं और इसी कारण उलटी चाल मिलै परब्रह्म को[३] का निर्देश करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर के 'उनमन' एवं 'उनमनी' शब्द नाथों के प्रयोग हैं और उनको कबीर ने प्रायः उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। मन अपनी उलटी चाल से 'उनमन' होता है। जो मन अपनी सामान्य गति में नामरूपात्मक प्रपंच की सृष्टि करता है वही उलटी चाल चलकर सबको अपने में विलीन कर लेता है।

इस शब्द को फारसी के 'ऊमनम्' शब्द का रूपान्तरण मान लेने से कबीर के पहले की परंपरा की उपेक्षा हो जाती है। उत्+मन से बना हुआ 'उन्मन' शब्द जिसको नाथों ने 'उनमन' के रूप में प्रयुक्त किया, कबीर की वाणी में भी वही अर्थ दे रहा है। संस्कृत शब्द 'उन्मनी' मनोविलय की उसी अवस्था की सूचना देता है जिसको 'मन का उलटना' सूचित करता है। नाथों का कहना है कि मन-पवन को 'उनमनी' में धारण करने से ही योगी तत्त्वसार प्राप्त कर सकता है—

"मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी ततसारं[४] ।"

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८-२०३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२८-२०३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६-१७०
४ गोरखबानी, पृष्ठ १३-३४

यह ठीक है कि कबीर की 'उनमनी' अवस्था आनन्दप्रधान है किन्तु इसका कारण यह नहीं कि उन्होंने यह शब्द फारसी भाषा से लिया है, अपितु यही कहना उचित है कि उनके भक्ति रस की प्रधानता ने योग और ज्ञान को प्रधान नहीं बनने दिया।

'उनमन' को ऊमनम् से व्युत्पन्न मान लेने पर 'उनमनी' अवस्था में 'सोऽहमस्मि, का समावेश तो हो जाता है किन्तु इसमें निरति अवस्था को समाविष्ठ करने की क्षमता नहीं दिखायी पड़ती। कबीर की उन्मनी अवस्था में सोऽहमस्मि से लेकर निरति तक की स्थिति का समावेश हो सकता है। इस दृष्टि से योगी की अन्तिम स्थिति 'सर्वावस्थाविनिर्मुक्त'[1] होती है। 'सोऽहमस्मि' वृत्ति का क्षेत्र सुरति की सीमा से बाहर नहीं है किन्तु कबीर की 'उनमनी' का क्षेत्र निरति में भी दिखायी देता है जैसाकि उन्होंने 'उनमन मनुवा सुन्नि समाना' कह कर अपने ही शब्दों में स्पष्ट कर दिया है।

५ निरंजन—'निरंजन' शब्द का तात्पर्य अंजनरहित है। अंजन का अर्थ विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है। कोई अंजन का अर्थ माया करता है और कोई 'विकार' या 'कलुष' करता है किन्तु इन अर्थों से 'निरंजन' शब्द पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक दशा में उसका अर्थ 'निर्लेप' एवं 'निर्विकार' हो सकता है। भारतीय दर्शन इस शब्द से भली भाँति परिचित है और प्रायः यह निर्गुण ब्रह्म का वाचक है। निरंजन सम्प्रदाय, जिसका प्रचलन उड़ीसा और राजस्थान में अबतक है 'निरंजन' की उपासना करता है।

योग के ग्रन्थों में भी निरंजन का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। नाथ पन्थ 'निरंजन' से अच्छी तरह परिचित है। हठयोग प्रदीपिका ने इस शब्द का प्रयोग शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त ब्रह्म के लिये किया है। नाथपन्थी निरंजन में 'ल्यौ'[3] लगाने की बात कहते हैं। बंगाल में यह शब्द किसी समय धर्म सम्प्रदाय में 'धर्मराज' का ही वाचक सा लगता था[4]। सिद्ध-साहित्य तक में निरंजन के प्रयोग मिलते हैं किन्तु उनके शून्य ने इसको बहुत प्रभावित किया है और वह प्रभाव निरंजन के साथ नाथ-वाणी में भी चला आया है।

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०७

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१-९१

३ देखिये, गोरखबानी, पृष्ठ ९८-२०७

४. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २४४

कबीर का निरंजन 'सत्य स्वरूप' है जिसकी परम्परा उनको नाथों से मिली है। अंजन में निरंजन की भेंट निरंजन की सत्ता की स्पष्ट घोषणा है—

अंजन माँहि निरंजन भेट्या, तिल मध भेट्या तेल।
मूरति माँहि अमूरति परस्या भया निरंतरि खेल॥[1]

कबीर इस निरंजन को अखंड एवं व्यापक मानते हैं। इसकी स्थिति शरीर और मन दोनों में है—

अकल निरंजन सकल सरीरा।
तन मन सौं मिल रह्या कबीरा[2]॥

वह जन्म मरण से मुक्त है और किसी भी विकार को प्राप्त नहीं होता[3]। कबीर का निरंजन शब्द स्वरूप भी है और राम को वे उसी का प्रतीक मानते हैं। स्पष्ट है कि कबीर का राम किसी सगुण साकार एवं ससीम की ओर इंगित नहीं करता। कबीर निरंजन की सत्ता का स्वीकार करते हैं किन्तु उसके साथ किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उसके सिवा और कुछ नहीं है। वह निराधार एवं निरालम्ब है। इसीलिये उनकी ओर से 'कहा कुछ आहि कि सुन्य'[4] प्रश्न है जो केवल निरंजन की अद्वैतता की सूचना देता है। निराकार, निर्विकार एवं निर्लेप निरंजन का एक निश्चयात्मक शब्द चित्र कबीर के ही शब्दों में देखिये—

गोब्यंदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया[5]॥

निरंजन या राम की सत्ता और व्याप्ति का उल्लेख करते हुए कबीर ने उसकी विलक्षणता का परिचय बड़ी सावधानी से दिया है। वह न दर्प में है न भेद में, न पाप में है न पुण्य में, न ज्ञान में है न ध्यान में, न स्थूल में है न सूक्ष्म में, न वप में है न याचना में और वह न बाल है न अबाल। वह लोक

---

१ गोरखबानी, पष्ठ २१७ ४१
२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ १०४ ४६
३ जामै मरै न सकुटि आवै।
—कबीर ग्रथावली, पष्ठ १०३ ४८
४ कबीर ग्रथावली पष्ठ १४३ १६४
५ कबीर ग्रथावली पष्ठ १६२ २१६

प्राप्य नहीं है। वह एक अनुपम तत्व है[1]।" कबीर ने प्रेम की धरा पर भी निरंजन का मूल्य आंकने का प्रयत्न किया है। अंजन निरंजन को प्राप्त नहीं कर सकता। असत् एवं स्थूल अंजन सत्य और सूक्ष्म निरंजन से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। निरंजनाभिमुख मन ही निरंजन को प्राप्त कर सकता है। जबतक मन का अंजन से कोई सम्बन्ध रहता है वह निरंजनरूप प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता। सच तो यह है कि अंजनमुक्त मन ही तद्रूप हो जाता है। इस तद्रूपता को प्राप्त करने के लिए कबीर मन का प्रेम सिंचित होना आवश्यक समझते हैं। माया उस प्रेम की पावनता को ही नष्ट नहीं करती अपितु प्रेम को रसित भी नहीं होने देती। इसीलिए कबीर माया का दृष्टि-स्पर्श भी विष-तुल्य समझते हैं—

तुम घरि जाहु हमारी बहना, विष लागे तुम्हारे नैना।
अंजन छाडि निरंजन राते, ना किसही का दैना[2]॥"

निरंजन का निवास मन की स्थिरता में होता है उसको कबीर आनंद-स्वरूप मानते हैं और उसको प्राप्त करने वाला मन भी तद्रूपता के कारण आनंद-स्वरूप ही हो जाता है।

लोग माया के इस प्रपंच प्रसार को ही निरंजन रूप में देखने लगते हैं। यह भूल है। निरंजन इससे भिन्न एवं विलग है। यह सब विस्तार अंजन का है जिसकी उत्पत्ति आकार से हुई है। अंजन को छोड़ कर निरंजन को प्रेम करने वाले विरले लोग ही होते हैं[3]। और तो और कबीर तो योग, ध्यान, तप आदि को भी विकार बतलाते हैं अतएव उनका समावेश भी अंजन के अन्तर्गत ही होता है। अंजन की कसौटी उत्पत्ति और विनाश है और जो उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता वह निरंजन है। निरंजन सर्वव्यापक सत्य है[4]। वह अचल एवं पूर्ण है जिस प्रकार अंजन बन्धन है उसी प्रकार निरंजन मुक्ति है—

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार।
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई[5]॥"

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६२-१६३
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०
३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २०२-३३६
४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २०२-३३८
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३७

निरजन का कोई स्वरूप नही है। वह निराकार और असीम अपन ही स्वरूप का है। किसी भी अन्य स्वरूप की कल्पना उसके रूप के सम्बन्ध म करना केवल भ्रम को जन्म देना है। इसलिए कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं—

'निज सरूप निरजना, निराकार अपरपार अपार।
राम नाम ल्यौं लाइस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार' ॥"[1]

'झूठे' म उलझ कर 'सच्च' का देखना असभव है[2] यह अनुभव ही से प्राप्त हो सकता है और अनुभव के लिये कबीर परिचय और प्रेम[3], दोनो की आवश्यकता समझते हैं।

जीवितावस्था मे इस जगत् म कैसे रहना चाहिए, यह भी एक प्रश्न है? इस सम्बन्ध मे कबीर मानो उत्तर देते हैं, जीवन्मृत होकर रहना चाहिए।' इसीको वे अजन मे निरजन होकर रहना कहते हैं। जो इस प्रकार रहता है वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

"जीवत मरै मरै फुनि जीवै एसे सुन्नि समाया।
अजन माँहि निरजन रहियै बहुरि न भवजल पाया" ॥[4]

सक्षेप म यह कहा जा सकता है कि कबीर का 'निरजन' निर्विकार, निराकार, असीम आदि का बोधक होता हुआ एक ही साथ सत्य, शब्द, प्रेमोपास्य मुक्ति, शक्ति विलक्षणता आदि का भी बोध कराता है। धर्म-भेद मिटाने के लिए 'अल्लह' और 'राम' दोनो को कबीर ने निरजन' शब्द से अभिहित करके धर्म को कृत्रिम एव अजन ही माना है। निरजन का प्रयोग कबीर ने प्राय सज्ञा क रूप मे ही किया है। कुछ स्थानो पर उन्होने निरजन का प्रयोग राम' और 'अल्लह' के साथ भी किया है जैसे —

राम निरजन न्यारा रे अजन सकल पसारा रे ॥[5]

किन्तु 'निरजन' का प्रयोग विशेषण के रूप मे भी हुआ है। विशेषण

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२५ पक्ति ८-६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३४, पक्ति २३
३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ?८१, पक्ति १६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१, पक्ति ११-१२
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२ ३३६

केवल अलह[1] का ही नहीं है, मन का भी है और इस अवस्था में वह बहुत रोचक हो गया है—'वह मन निर्मल होकर निरंजन बन गया है जिसको सनक सनन्दन, जयदेव नामदेव आदि भक्त तक नहीं जान पाये। जिसकी गति का परिचय शिव, ब्रह्मा नारद आदि को भी प्राप्त नहीं हो सका और न ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण शेष आदि ही शरीर के भीतर जिसका अनुभव कर सके और जिसका योग्य सा भेद यदि किसी को मिल सका तो केवल गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द को जो उसके साथ आनन्दित रहा करते थे। वह मन शरीर में पूर्णतः व्याप्त है। उस निरंजन मन में कबीर लीन हो गया है[2]।" इस प्रकार जो मन अंजनरूप में बन्धन बना हुआ था वही निरंजन रूप में मुक्ति स्वरूप हो जाता है।

जो निरंजन है वह अलख भी है। यह शब्द 'अलक्ष्य' से व्युत्पन्न माना जाता है। इसका अर्थ अदृश्य है। अगोचर[3] होने से निरंजन को ही कबीर ने अलख कहा है[4]। अलख को देखने के लिये अनुभव की दृष्टि चाहिये और इस दृष्टि को प्रदान करने में सतगुरु का प्रमुख स्थान है—

'माटी खोजत सतगुर भेट्या तिन कछु अलख लखाया'।"

कबीर का 'अलख' निरंजन ही नहीं है, अपितु अभेद, अविगत, आनंददाता तथा विधाता भी है[5]। विलक्षण बात तो यह है कि जिसको 'अलख निरंजन' कहते हैं वह 'दाता और विधाता भी है और यही उनका प्रेम-सरोवर हिलोरें लेता दिखायी दे रहा है। उनके 'राम' और 'अल्लाह' अलख भी है और सेव्य भी है, निरंजन भी है और देव भी है। विचित्र बात तो यह है कि 'अजन'

---

१ एक निरंजन अलह मेरा।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३८

२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९९ ३३

३ 'अलख निरंजन लखै न कोई।'

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३०, पंक्ति १३

४ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १७२-२४९

५ 'कहै कबीर सरबस सुखदाता, अविगत अलख अभेद विधाता॥'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८९-२६७

म व्याप्त होकर भी वह 'निरजन' है। उस अलख का स्वरूप आनन्दमय' है, उसका आनन्द पराश्रित नही है क्योकि उसके अस्तित्व से पृथक् किसी की सत्ता ही नही है —

६ सबद (शब्द)—इस शब्द का प्रयोग कबीर ने कई अर्थों म किया है। ध्वनि या आवाज इस शब्द का सामान्य अर्थ है। कबीर ने शब्द को दो प्रकार का माना है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका सकेत नीचे की वाणी म मिलता है—

"बिनहीं सबद अनाहद बाजैं'।"

इससे स्पष्ट है कि अनाहत शब्द सामान्य शब्द से भिन्न है। उन्होने अनाहत शब्द का प्रयोग पारिभाषिक एव सीमित अर्थ मे ही किया है। यह शब्द अन्तध्वनि है जिसके लिए एक विशेष साधना की अपेक्षा होती है। उसका परिचय कबीर इस प्रकार देते हैं—

"कबीर सबद सरीर मे, बिनि गुण बाजै तति'।"

इस शब्द का सम्बन्ध अन्तर्गत पवन और गगन से है। सबद गगन के पवना' से शब्द, पवन और गगन का सम्बन्ध प्रकट होता है। जब पवन और शब्द शून्य म स्थित हो जाते हैं तब समाधि लग जाती है। इसलिए कबीर 'पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे" की बात करते हैं। 'रवि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुनि थिति माही' कहकर भी कबीर ने उसी अवस्था की ओर सकेत किया है। यह अनाहत शब्द परमात्मा की स्थिति का सूचक है—

"बाजे जत्र नाद धुनि होई,
जे बजावै सो और कोई'।"

---

१ 'तहा न ऊगै सूर न चद, आदि निरजन करै अनद।'
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १९९, पक्ति २२

२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १४०-१२९

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-६१३

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७ पक्ति १

५. कबीर ग्रथावली पृष्ठ २३०, अतिम पक्ति

कबीर ने 'अनाहत' के साथ 'शब्द' और 'नाद' दोनों का प्रयोग किया है किन्तु 'नाद' का प्रयोग उन्होंने अनाहत के सम्बन्ध से ही किया है जबकि शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है।

शब्द के पुनः दो भेद वार्णिक एवं अवार्णिक होते हैं। कबीर का राम शब्द वार्णिक है क्योंकि वह 'ढाई अक्षरों' से बना है। 'सतगुर' से प्राप्त शब्द वार्णिक ही है। कबीर शब्द में अमोघ शक्ति मानते हैं। मानसिक परिष्कार भी शब्द शक्ति का ही एक रूप है। गुरु के शब्द में ऐसी शक्ति स्पष्टतः दिखायी देती है—

"सतगुर ऐसा चाहिये जैसा सिक्सीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोई'॥"

गुरु के शब्द में एक बाण की शक्ति भी निहित है जिसके लगते ही कलेजे में छेद हो जाता है—

"सतगुर साचा सूरिवा सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भै मिलि गया, पड्या कलेजे छेक'॥"

इस शब्द-बाण की विशेषता यह है कि वह शरीर में लगता है और कलेजे में 'कडक' (दर्द) पैदा करता है। यह शब्द सुनायी पड़ता है कान से और असर करता है हृदय पर। इस शब्द बाण की एक और भी विशेषता है और यह कि हरि गुण के स्मरण के साथ उससे उत्पन्न हुई वेदना गहन होती जाती है—

"ज्यू ज्यू हरिगुण साँभलौं, त्यू त्यू लागै तीर'।"

सतगुरु के शब्द का प्रभाव पात्र पर होता है, कुपात्र पर नहीं। कुपात्र का जन्म व्यर्थ है क्योंकि उस पर गुरु-शब्द का कोई प्रभाव नहीं होता—

"सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि'।"

शब्द को कबीर जीवन भी मानते हैं। इसका सम्बन्ध श्वासों से है।

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ६३ ६।१३
२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३ ६।१४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६।१७
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६ १८

श्वासों के इक्कीस हजार छ सौ धागे[1] जीवन की सूचना देते हैं। प्रत्येक श्वास के साथ शब्द की स्थिति है। श्वासों के धागे टूट जाते हैं किन्तु शब्द नष्ट नहीं होता। शब्द अतीत है। शरीर का शब्द शरीर के विगलित होने पर अनन्त शब्द में मिल जाता है।

ओंकार को भी कबीर शब्द कहते हैं और उसे वे सृष्टि का मूल मानते हैं। जीवन और मृत्यु का संबंध भी शब्द से है। जब शरीर शब्द को छोड़ देता है तब दुनिया के लोग मृतक कहने लगते हैं।

शब्द दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शब्द इन्द्रिय गोचर होता है और सूक्ष्म अतीन्द्रिय होता है। इसीलिए कबीर अतीत शब्द[4] को रहस्यमय बतलाते हैं। शब्द ब्रह्म का व्यक्त रूप है साधक साधना के अनुरूप उस शब्द में आनन्द की प्राप्ति करता है—

> जिहि सबदिया साइ मिल, ताम न लागै खोर।
>
> सबकू सुखदे सबद करि, सयणी अपणी ठौर ॥

सबद का प्रयोग नाथों ने भी किया है किन्तु उसमें इतनी व्यापकता दृष्टिगत नहीं होती जितनी कबीर के सबद में है। गुरु का शब्द एवं अनाहत शब्द पर कबीर का विशेष ध्यान रहा है।

अतएव स्थिति यह प्रकट होती है कि कबीर ने नाद को स्थिति शब्द को और शब्द की स्थिति नाद को प्रदान करता है।

७. अजपा जाप—अजपा जाप नाम का ही एक उच्च स्वरूप है। कभी कभी इसे सहज जाप भी कह दिया जाता है। अजपा सुरत में नाम स्मरण रहता है किन्तु जैसाकि नामस्मरण में प्रत्यक्षतः वाणी का उपयोग किया

---

1. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १०९ ६६
2. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १०० ३६
3. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ २४३ पावन २३
4. सबद अतीत का मरम न जानै भ्रमि भूली दुनियाई।

    ×   ×   ×

    प्यड मुकति कहत हैं मुनिजन सबद अतीत था सांई।

    —कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १००
5. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८५ ७

जाता है उसी प्रकार 'अजपा जाप' में उनका उपयोग नहीं किया जाता। इसमें न तो नाम का उच्चारण किया जाता है और न होंठ हिलते हैं। इसमें न अँगुलियाँ हिलती हैं और न माला का उपयोग ही होता है। केवल अन्त क्रिया होती रहती है। बौद्ध सिद्धों की साधना-पद्धति में श्वासों का निरोध करके चंडाग्नि प्रज्वलित की जाती थी और 'एवं' बीजाक्षर को ध्यान में लाकर इस प्रकार साधना की जाती थी जिसमें यह शब्द प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में स्वतः निकलने लग जाय। इसे वज्रजाप का नाम दिया जाता था। इसमें तान्त्रिक बीजार्थ तथा हठयोग दोनों का समन्वय हो जाता था और नाम-स्मरण का परंपरागत विधान भी आ जाता था'।" कहा जाता है कि नाथपंथ में इसी साधना ने पीछे 'अजपा जाप' का नाम प्राप्त किया। इसमें मन को शून्य में निहित कर दिया जाता है और 'एवं' के स्थान पर 'सोऽहम्' का ध्यान किया जाता है। इसी सोऽहम् में शब्द-ज्योति प्रकट होती है और अन्तर एवं बाहर प्रकाश हो जाता है।

कबीर ने सोऽहम् का परित्याग तो नहीं किया किन्तु उनके ध्यान का केन्द्रबिंदु प्रायः 'राम' हो रहा है। कबीर के 'अजपा जाप' की चरम परिणति 'आपा माहं आप' में होती है। 'अजपा जाप' ध्यान-रूप है। स्मरण के द्वारा ध्यान को नाम में लगा देना अजपाजाप की वह स्थिति है जो 'सुरति' की समकक्ष है। उसकी एक स्थिति वह है जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता निरालंब दशा में विलीन हो जाते हैं। अजपा जाप अभ्यास से बनता है और आत्मस्वरूप में डूब जाता है। यही सहज जाप भी है।

८ नाद बिन्दु—शास्त्रों में कहा गया है कि सकल शिव' (सच्चिदानन्द स्वरूप शिवतत्व) से शक्ति तत्व प्रकट हुआ और शक्ति तत्व से 'नाद तत्व' का आविर्भाव हुआ। नाद तत्व को महातत्व तत्व भी कहते हैं। नाद में बिन्दु (ईश्वर तत्व) का विकास हुआ जिसे परबिन्दु भी कहते हैं। इसी से बिन्दु विकसित हुआ। नाद और बिन्दु शक्ति के अन्य रूपों की भाँति दो रूप हैं जिनमें शक्ति की उपयोगावस्था तथा उच्छूनावस्था प्रमुखता से आविर्भूत होती है। शारदा तिलक में शक्ति से नाद-बिन्दु का सम्बन्ध विशद रूप से व्यक्त किया गया है—

---

१. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २३१

'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो, नादाद्बिन्दुसमुद्भव'[1]।।"

तन्त्रो में, जिनको मन्त्रशास्त्र भी कहते हैं शब्द की विशद विवेचना की गयी है मन्त्र ही व्यक्त शब्द है। वैसे तो नाद का अर्थ भी शब्द ही होता है, किन्तु वह शब्द का आदि लिंगशरीर' है। बिन्दु उस व्यक्त सृष्टि के पूर्व की अवस्था का द्योतन करता है जो मायाबल ज्ञान शक्ति सत्त्व से विनिर्मित है। ध्यान रखने की बात है कि माया को परम कुण्डली भी कहते हैं। इसमें ब्रह्म पद तीन गुणों का समावेश रहता है।

शब्द आकाश का गुण है और श्रुतिगम्य होता है। यह दो प्रकार का होता है—वर्णात्मक एवं श्रवणात्मक अथवा ध्वन्यात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द दो चीजों के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न होता है और वह निरर्थक होता है। इसके विपरीत अनाहत शब्द जिसको ब्रह्मनाद या ब्रह्म शब्द भी कहते हैं किन्हीं दो वस्तुओं के संघर्ष या सम्पर्क से उत्पन्न नहीं होता वरन् अपने आप पैदा होता है। वर्ण ध्वनि (वर्ण शब्द) वाक्यों पदों एवं वर्णों से निर्मित होती है।

वर्ण ध्वनियों का अर्थ से गहन सम्बन्ध होता है। शब्द और अर्थ दोनों मस्तिष्क से भी सम्बन्धित हैं। मस्तिष्क का तादात्म्य शब्द कहलाता है और वह स्वरूप जिसमें वह स्वयं ज्ञात होता है रूप (Form) कहलाता है। बाह्य पदार्थ का व्यक्ति मानस पर अंकन भी अर्थ या रूप कहलाता है और उच्चरित वाणी शब्द कहलाता है अतएव मन्त्र दृष्टि से द्रष्टा और दृश्य भी शब्द और अर्थ ही हैं जो वेदान्त के नाम और रूप के समानान्तर हैं।

जिस प्रकार शरीर लिंग सूक्ष्म और स्थूल होते हैं उसी प्रकार शब्द भी होते हैं। शब्द के चार भाव (States) होते हैं—परा पश्यन्ति मध्यमा तथा वैखरी। परा शब्द निःशब्द होता है और शरीर के मूलाधार केन्द्र में गतिहीन रहता है। पश्यन्ति वह शब्द है जिसमें सामान्य स्पन्दन (General motion) होता है। इसकी गति मूलाधार से मणिपूर चक्र तक है। यह मन से सम्बन्धित होता है। मध्यमा शब्द बुद्धि से सम्बन्धित होता है और हिरण्यगर्भ रूप होता है जो पश्यन्ति से हृदय तक फैलता है। मस्तिष्क का यह अंग

---

१ शारदा तिलक, अ० १

जो पहिचानता है सूक्ष्म शब्द कहलाता है और वह अङ्ग जो पदार्थ का रूप धारण करता है (जो बाह्य पदार्थ के अनुरूप होता है) सूक्ष्म अर्थ कहलाता है।

इस प्रकार मस्तिष्क की क्रिया एक ही साथ दो रूपों में होती है—शब्द रूप में और अर्थ रूप में, जो ग्राहक ग्राह्य रूप में अभिन्न होते हैं। दोनों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है।

सृष्टि में सबसे पहले मध्यमा शब्द का आविर्भाव हुआ। उस समय कोई अन्य अर्थ (Object) नहीं था। फिर विश्व मन ने आभ्यन्तरिक मध्यमा अर्थ का गोचर जगत् के रूप में विकास किया और वैखरी शब्द में उसको अभिहित किया। वैखरी शब्द उच्चरित वाणी है जो कंठ में विकसित होकर मुख से प्रकट होती है। इसको विराट् शब्द भी कहते हैं। इस कारण वैखरी शब्द भाषा या स्थूल वर्ण-ध्वनि है। इसके अनुरूप अर्थ को भौतिक या स्थूल विषय भी कहते हैं जिसे भाषा व्यक्त करती है। इस शब्द का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाद बिन्दु की कल्पना मनीषियों की बहुत पुरानी कल्पना है। सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना करते समय इन दोनों तत्वों को नहीं भुलाया जा सकता। अनाहत नाद के विवेचन में यह पहले ही बता दिया गया है कि नाद बाहर भी है और शरीर के भीतर भी। उसी के द्वारा अव्यक्त व्यक्त के रूप में आया और उसी से सृष्टि प्रेरित हुई। उसी को योगी अपने भीतर साधना और अभ्यास से सुनते हैं। कहा जा चुका है कि यही नाद उस अन्तर्ज्योति का स्रोत है जो अज्ञान-तिमिर का विनाश करती है। नाद शिव तत्व का प्रतीक है और बिन्दु उस शक्ति का बोधक है, शिव के साथ जिसके मिलन को प्रत्येक साधक, प्रत्येक योगी अपना अभीष्ट समझा करता है। इसी बिन्दु को योगियों ने कभी कभी वीर्य का पर्याय भी माना है। अतएव बिन्दु-साधना का अभिप्राय ब्रह्मचर्य भी होता है। योग साधकों ने इसकी रक्षा[1] पर बहुत जोर दिया है। 'पानी की बूंद थे जिनि प्यंड साज्या'[2] कहकर कबीर ने वीर्य बिन्दु की ओर ही संकेत किया है।

शिव शक्ति का मिलन नाद-बिन्दु के मिलन का प्रतीक है। शक्ति-सचालन बिन्दु के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक है। जो बिन्दु-नाद से मिल कर परमपद को

---

१. 'सपने बिन्दु न देई झरना।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००-३३०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११-३०४

प्राप्ति[1] में सहायक बनता है वही अपनी विकल स्थिति में जीव को व्याकुल एवं अशान्त कर देता है। उसकी व्याकुलता ही काम है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

"उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थे,
कबहू सच नहीं पायौ[2] ॥"

कबीर ने ध्वनि या शब्द के सामान्य अर्थ में भी नाद का प्रयोग किया है, जैसे—

"ज्यूं मृग नादै वेध्यौ जाइ,
प्यंड परै वाकौ ध्यान न जाइ[3] ।"

और 'अनाहत' नाद के विशेष अर्थ में भी नाद का प्रयोग किया है, जैसे—

"बाजै जन्त्र नाद धुनि होई,
जो बजावै सो औरै कोई[4] ॥"

कबीर नाद और बिन्दु के मिलन की साधना की चर्चा करते हुए कहते हैं कि चाहे नाद में बिन्दु का विलय हो और चाहे बिन्दु में नाद का, किन्तु इतना तो सत्य है कि परमात्म-तत्त्व की अनुभूति में इन दोनों का मिलन बहुत सहायक होता है। 'नाद ब्यंद की नावरी'[5] कह कर कबीर इसी उक्ति का समर्थन करते हैं। नाद बिन्दु का मिलन गोविंद के मिलन का द्योतक है। वे इस बहस से बचना चाहते हैं कि कौन किसमें मिलता है। इसीलिए वे कहते हैं—

"नादहि ब्यंद ब्यंदहि नाद,
नादहि ब्यंद मिलै गोबिन्द[6] ॥"

नाद और बिन्दु के सम्बन्ध में कबीर और नाथों के दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं है। यदि कुछ विशेषता है तो यह कि कबीर के 'नाद-बिन्दु' में प्रेम का पुट लगा हुआ है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६८-३२६
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६६-३०८
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१८-३६३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, अन्तिम पंक्ति
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१८
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८-३२६

६ सहज—कबीर की वाणी में कुछ रामबाण शब्द हैं। उनका प्रयोग अनेक प्रकार से होता देखा जाता है। सहज भी उनमें से एक है। विद्वानों ने 'सहज' शब्द के अनेक स्रोत देखने का प्रयत्न किया है। कोई इसे चीनी शब्द 'ताओ' से सम्बन्धित करते हैं कोई विष्णु पुराण से जोड़ते हैं और कोई इसे खोजने के लिए अथर्व वेद तक जा पहुँचे हैं। इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि 'सहज' शब्द प्राचीन है और कबीर को परंपरा से प्राप्त हुआ है। कबीर के पहले सहज की परंपरा स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में और नाथों की बानियों में भी रही है।

'बौद्ध सिद्धों एवं शैव योगियों ने इसका प्रयोग न केवल किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग के अर्थ में किया, अपितु उन्होंने इसका आशय एक ऐसी साधना से भी सम्बन्धित किया जिसमें क्रमशः प्रज्ञा एवं उपाय तथा शिव एवं शक्ति के सम्मिलन की कल्पना की जाती है। इसके सिवा सिद्धों ने जहाँ 'सहज तत्त्व' में शून्य की धारणा को भी प्रश्रय दिया वहाँ नाथ पंथी योगियों ने उसमें सहज ज्ञान का भी अस्तित्व माना। सिद्धों के लिए 'सहज तत्त्व' भाव तथा अभाव, दोनों से परे है और सरहपा के अनुसार उसकी स्थिति का महत्त्व निर्वाण से भी अधिक है—

'सहज छड्डि जे णिव्वाण भाविउ।
णउ परमत्थ एक्क ते साहिउ'।[1]

नाथों ने सहज की स्थिति में मस्ती की कल्पना भी की है। इसीलिए गोरखनाथ कहते हुए दिखायी पड़ते हैं —

'जिहि घरि चंद सूर नहिं ऊगै, तिहि घरि होसि उजियारा।
तिहां जे आसण पूरो तो सहज का भरो पियाला, मेरे स्वामी'॥[2]

कबीर का सहज नाथों से भी अधिक व्यापक है। सहज के योग से उन्होंने अनेक शब्द बना लिये हैं। सहज रूप, सहज सुख, सहज शून्य, सहज धुनि, सहज भाव, आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों के साथ सहज ने जो मूल्य प्राप्त किये हैं उनसे सहज की व्यापकता सिद्ध होती है। सहज का उपयोग कहीं भी कर लिया गया है। विषय-त्याग, आसक्ति-निवारण, मोह-विसर्जन,

---

१. देखिए, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २४८

२. गोरख-बाणी, पृष्ठ ६०

आचरण, समाधि आदि सब कार्यों में कबीर ने सहज से काम लिया है। आत्मा या परमात्मा का असली रूप भी सहज रूप है। इस प्रकार कबीर ने सहज की परंपरा का सहज विकास किया है। वे सहज की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "सहज सहज कह तो सभी लेते हैं किन्तु समझने विरले लोग ही हैं। जहाँ विषयों का परित्याग सहज भाव से हो जाय वही सहज की स्थिति समझनी चाहिये। सहज की स्थिति इन्द्रिय-दमन में कदापि नहीं है, उनके शमन में है" —

"सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हें कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ'॥"
"सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हें कोई।
पांचू राखै परसती, सहज कहीजै सोई'॥'

जहाँ सहज भाव से वित्त, पुत्र, कलत्र एवं काम का निपात हो जाता है और सहज रूप से ही एकत्व प्राप्त हो जाता है, वही सहज की स्थिति होती है। जहाँ परमात्मा की प्राप्ति सहजरूप से हो जाती है वही सहज का साक्षात्कार हो जाता है।

"सहजै सहजै सब गये, सुत वित कामणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम॥'
"सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्हें कोइ।
जिन सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ'॥

कबीर की समाधि भी सहज समाधि है जो सिद्धों की शून्यस्थितिमात्र नहीं है, अपितु उसमें सुख और शान्ति का निवास भी है।

"सहज समाधै सुख मैं रहिबो, कोटि कलप विश्राम'।"

कबीर की सहज समाधि योगियों की निरालंब दशा मात्र नहीं है, अपितु कायिक उपाधियों की आनन्दस्वरूप परिणति है —

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४१-४०५
२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०६
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०७
४ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०८
५ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९-६

तन म होती कोटि उपाधि,
उलटि भई सुख सहज समाधि[1] ॥"

उनका सहज सुख स्वाय ग्व हिंसा स पूर्ण नहीं हैं। उसम त्यागमय अहिंसा की भावना निहित है। उसम निर्भयता के भाव के साथ-साथ दूसरो को निर्भयता का आश्वासन भी हैं —

"कहै कबीर सुख सहज समाऊँ,
आप न डरौं न और डराऊँ[2] ॥"

कबीर क अनुसार सहज रूप मे कोई परिवर्तन नही हो सकता। आत्मा का रूप भी सहजरूप है। पचतत्त्व की विकृति उस सहजरूप को आवृत कर लती है किन्तु तत्त्वो के वियुक्त हो जाने पर आत्मा का समावेश भी सहजरूप म हो जाता है —

पच तत्त अविगत थे उतपना, एकै किया निवासा,
बिछुरे तत फिरि सहजि समाना, रेख रही नहीं आसा[3] ॥"

कबीर का शून्य सहजनामधारी होते हुए भी सिद्धो के शून्य का द्योतक नही है। दोनो विलक्षण हैं, किन्तु दोनो की विलक्षणता भी भिन्न है। सिद्धो का शून्य अस्ति-नास्ति-विलक्षण है किन्तु कबीर का सहज निरालब स्थिति व्यक्त करता हुआ भी रसमय है उसम कबीर विभोर हो जाते हैं और उछक नही सकते —

"सहज सुनि में जिनि रस चाख्या,
सतगुर थे सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता,
कबहूँ उछकि न जाई[4] ॥'

कबीर उन सभी को चुनौती देत ह जो जप-तप से आनन्द प्राप्त करना चाहते है। उनका कहना है कि सहजानन्द जप तप से प्राप्त नही होता। वह

---

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ९३-१५
२. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ९३-१५
३ कबीर ग्र थावली पृष्ठ १०२-६४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११-७८

तो ग्रात्म-भाव है, स्वभाव से ही उत्पन्न होता है[१]। परमात्मा का रूप भी सहजरूप है जो भ्रान्त मन मे छिपा हुआ है। जैसे ही मन का भ्रम दूर हो जाता है कि सहजरूप परमात्मा का आविर्भाव हो जाता है[२]।

'सहज' का प्रयोग कबीर ने स्वतन्त्र रूप से भी किया है। यहाँ सहज का अभिप्राय मन की स्वस्थावस्था है —

"मिरया राम रह्या सहजि समाई,
जिन बिछुरया जीव उरझै जाई[३]।"

कबीर का 'सहज' 'स्वभाव' या 'परमात्म-भाव' का सकेत भी करता है किन्तु उसमे भी प्रेमतत्व का विनिवेश करके उसके साथ सम्बन्ध-भावना बना लेते हैं —

"कहै कबीर यहु सहज हमारा,
बिरली सुहागनि कत पियारा[४] ॥"

सक्षेप मे यह कह देना उचित ही होगा कि कबीर का सहज मौलिक एव परपरागत उद्भावनाओ से परिपुष्ट एक ऐसी सत्ता है जिसे आत्मा, परमात्मा, मन, भाव, स्वभाव, आनन्द गगन, ब्रह्मरन्ध्र आदि मे से किसी मे देख सकते हैं। उसका परिचय यही है कि वह किसी विशेष परिभाषा मे आबद्ध नही है। हाँ, अनुभवगम्य प्रसग मे वह अपना सकेत दे बैठता है।

कबीर के कुछ प्रश्न

मनुष्य के जीवन मे अनेक प्रश्न उठते रहते है और वह उनका उत्तर देने का प्रयत्न भी करता है। कभी-कभी उसके उत्तर में कोई जीवन-व्यापार भी निहित रहता है। सच तो यह है कि प्रश्न और उत्तर या व्यापार का समन्वित रूप ही जीवन है। प्रश्नोत्तर मे कभी-कभी तो बहुत भारी सघर्ष निहित रहता है जिसको दो रूपो मे विभक्त करके देखा जाता है—एक प्रश्न सघर्ष और दूसरा

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५७-२०३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३७, पक्ति ८
४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २१२-२७१

बाह्य संघर्ष। ऐसे संघर्ष के विकास के लिए प्रबन्ध रचनाओं में अधिक अवकाश होता है किन्तु मुक्तकों में भी संघर्ष का चित्रण होता देखा जाता है।

कबीर के जीवन में जो कुछ प्रश्न उठे हैं जिनका उत्तर उन्होंने या तो प्रश्न के साथ ही देने का प्रयत्न किया है अथवा किसी अन्य स्थल पर उत्तर अवश्य आगया है।

कबीर के प्रश्नों में प्रमुखतः दो प्रकार के प्रश्न दृष्टिगोचर होते हैं—एक तो समाज से सम्बन्धित और दूसरे दर्शन से सम्बन्धित। इन प्रश्नों का जीवन से गहन सम्बन्ध है। समाज सम्बन्धी प्रश्न सामाजिक उलझनों का रूप प्रस्तुत करते हैं और दर्शन सम्बन्धी प्रश्न जीवन, मरण, शरीर, प्राण आदि पर विचार प्रेरित करते हैं। प्रस्तुत रचना में इन प्रश्नों का उत्तर कहीं न कहीं अवश्य मिल सकता है और कुछ प्रश्न तो ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं जिन पर सोचने के लिए कोई भी व्यक्ति उत्सुक हो उठता है। इन प्रश्नों के बिना यह विवेचन अधूरा ही रहता। अतएव इनको एकत्र करके साथ प्रस्तुत किया जाता है —

क—समाज-संबंधी प्रश्न—

(१) जीव का वध करके धर्म की बात करते हो तो फिर अधर्म किस का नाम है? यदि आप ही मुनिजन बन बैठे हो तो कसाई किसे कहोगे?

(२) एक जन्म के लिए सहस्रों देवों की पूजा क्यों करते हो जिसके भक्त महेश तक हैं उस रामदेव की पूजा क्यों नहीं करते?

(३) अरे भाई! बोलना किसे कहते हैं?

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०१-३६

२ 'एक जनम कैं कारणं, कत पूजौ देव सहसौ रे।
काहे न पूजौ रामजी, जाको भगत महेसौ रे॥'
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२७

३ 'बोलना का कहिये रे भाई।'
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६-६७

(ख) ज्ञान बडा है कि ज्ञानदाता ?

(ग) यह मन बड़ा है कि वह जहा मन लीन हो जाता है ?

(घ) राम बडा है कि राम का जानने वाला ?

(ङ) तीर्थ बडा है कि हरि का दास ?

(२७) बन्धन क्या है और मुक्ति क्या है ?

(२८) अम्बर का मतलब क्या है ?

(२९) देहधारी कचन और कामिनी के बीच म रह कर उनसे अप्रभावित कैसे रह सकता है ?

(३०) इस जगत् म मेरे जन्म का कारण क्या है ?

(३१) इस जगत् स कौन कौन चला गया और कौन कौन रहेगा ?

(३२) तुम कहा थे और तुमको किसने बनाया ?

---

२७ कहि धू छूट कवन उरभाना ?
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०० ३८

२८ 'कहो भइया अमर कासू लागा ?
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२३-१४१

२९ 'एक कनक अरु कामनीं जग म दोई फदा।
× × ×
'देह घर इन माहि बास, कहु कैसे छूटै ॥
कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १५१ १८८

३० कारनि कवन आइ जग जनम्या ?
—कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६२ १९१

३१ 'कौन कौन गया राम कौन कौन न जासी।
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७२-२४७

३२ 'कहा थे तुम किन कीये।
—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७५-२५७

(३३) आपमे परमात्मा का निवास होते हुए भी वह पवित्र और आप अपवित्र क्यो है ?

(३४) हे निरजन जहाँ तुम रहते हो वहाँ कुछ है या कुछ भी नही है ?

---

३३ 'अलह पाक तू नापाक क्यू ?'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२५७

३४. 'कहै कबीर जहा बसहु निरजन तहा कछु आहि कि सुन्य ।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३-१६४

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

१	अध्यात्म रामायण	अनुवादक—श्री मुनिलाल
२	अनन्तदास की परिचई	अनन्तदास
३	कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४	कबीर ग्रंथावली	श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित
५	कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
६	कबीर बीजक	हंसदास शास्त्री
७	कबीर का जीवन वृत्त	चन्द्रबली पाण्डेय
८	कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी
९	कबीर साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा
१०	कबीर वचनावली	हरिऔध
११	कबीर मंसूर	परमानन्द
१२	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
१३	कबीर एक अध्ययन	डा० रामरतन भटनागर
१४	कबीर और जायसी का रहस्यवाद	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
१५	कबीर और जायसी का मूल्यांकन	पुरुषोत्तमचन्द्र वाजपेयी
१६	कबीर साहित्य समीक्षा	शिवस्वरूप गुप्त
१७	कबीर पंथ	शिवव्रतलाल
१८	गीता रहस्य	तिलक
१९	गोरखबानी	डा० बड़थ्वाल
२०	जायसी और उनका पदमावत	जीवनप्रकाश जोशी द्वारा सम्पादित
२१	तसव्वुफ और सूफीमत	चन्द्रबली पाण्डेय

२२ तुलसी-दर्शन — डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
२३ भक्तमाल — नाभादास
२४. भक्तिकाव्य के मूल स्रोत — दुर्गाशंकर मिश्र
२५ भक्ति दर्शन — डा० सरनामसिंह शर्मा
२६ दीपशिखा — महादेवी वर्मा
२७ रामचरितमानस — गीता प्रेस
२८ सन्त कबीर — डा० रामकुमार वर्मा
२९ सन्त वाणी संग्रह
३०. सन्त दर्शन — डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
३१ सन्त कबीर-दर्शन — राजेन्द्रसिंह गौड
३२ सूरसागर — नागरी प्रचारिणी सभा
३३ सांध्यगीत — महादेवी वर्मा
३४ स्कन्दगुप्त — जयशंकर प्रसाद
३५ सूरदास — रामचन्द्र शुक्ल
३६ हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल
३७ हिन्दी सा० का विवेचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा
३८ हिन्दी विश्व कोष — वसु
३९ हिन्दुत्व — श्री रामदास गौड
४० विद्यापति की काव्य-साधना — दशराजसिंह भाटी
४१ विद्यापति की पदावली — जीवनप्रकाश जोशी द्वारा सम्पादित
४२ त्रिवेणी — रामचन्द्र शुक्ल
४३ रहस्यवाद — जयशंकर प्रसाद
४४ रहस्यवाद — रामरतन भटनागर
४५ दोहा-कोष — पी० सी० बागची
४६ बहारे अजम — मुन्शी टेकचन्द बहार

संस्कृत

१ कठोपनिषद
२ मुण्डकोपनिषद्
३ शिव संहिता

४ ऋग्वेद-संहिता
५ अथर्ववेद संहिता
६ ईशोपनिषद्
७ श्वेताश्वतर
८ चर्यापद
९ शाण्डिल्य सूत्र
१० छान्दोग्य उपनिषद्
११ हठयोग प्रदीपिका
१२ गोरक्ष पद्धति
१३ लययोग संहिता तंत्र
१४ शारदा तिलक अध्याय १

अंग्रेजी

	पुस्तक	लेखक
१	एन आउटलाइन आफ दी रिलीजियस लिटरेचर आफ इंडिया	फर्कहर
२	एन इंट्राडक्शन टु इण्डियन फिलासफी	दत्त एण्ड चटर्जी
३	अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट	राय चौधरी
४	आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया	
५	इंडियन फिलासफी	डा० राधाकृष्णन
६	हिंदू ट्राइब्ज एण्ड कास्टस एज रिप्रजेंटेड एट बनारस	एम० ए० शेरिंग
७	दीन इलाही	राय चौधरी
८	कबीर एण्ड हिज फालोअर्स	डा० की
९	कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी	डा० मोहनसिंह
१०	कबीर एण्ड दी कबीर पंथ	वेस्कट
११	मेडिवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया	क्षितिमोहन सेन
१२	मिस्टिसिज्म इन दी उपनिषद्स	निकलसन
१३	मिस्टीसिज्म इन मरहटा सेंट्स	प्रो० रानाडे
१४	मिस्टिक्स आफ इस्लाम	निकलसन

१५. मिस्टिसिज्म इन दी ईस्ट एण्ड वेस्ट — रूडोल्फ
१६. निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री — डा० बड़थ्वाल
१७. सर्पेन्ट पावर — आर्थर एवेलन
१८. सिक्ख रिलीजन — मैकलिफ
१६ थीइज्म इन मेडिवल इंडिया — कारपन्टर
२० दी बीजक आफ कबीर — अहमदशाह
२१. दी रिलीजन्स आफ इंडिया — ए० बर्थ

पत्र-पत्रिकाएं

१. आलोचना — दिल्ली
२. विश्वभारती पत्रिका — शान्ति निकेतन
३. कल्याण (शिवांक) — गोरखपुर
४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका — वाराणसी
५ साहित्य सन्देश — आगरा
६. खोज रिपोर्ट
७ सरस्वती — प्रयाग
गजेटियर — वाराणसी और आजमगढ
हिन्दुस्तानी भाग १६ अक ४, अक्तूबर-दिसम्बर १९५८